गुरुदेव का जीवन

१४ सितम्बर १९४२,उतर प्रदेश के गाजियाबाद जिले के, ग्ा्रम खुर्रमपुर सलेमाबाद में एक बालक का जन्म हुआ।

बालक जन्म से ही एक विलक्षण से युक्त था और विलक्षणता यह कि जब भी वह बालक सीधा, शवासन की मुद्रा में, कुछ अन्तराल लेटजाता या लिटा दिया जाता तो उसकी गर्दन दायें बायें हिलने लगती, कुछ मन्त्रोच्चारण और उसके बाद पुरातन संस्कृति पर आधारित ४५ मिनट के लगभग एक दिव्य प्रवचन होता। बाल्यावस्था होने के कारण, प्रारम्भ में आवाज अस्पष्ट होती और जैसे आयु बढने लगी वेसे ही आवाज और विषय दानो स्पष्ट होने लगे। पर एक अपठित बालक के मुख से ऐसे दिव्य प्रवचन सुनकर जनमानस आश्चर्य करने लगा, इस बालक की ऐसी दिव्य अवस्था और प्रवचनो की गूढता के विशय में कोई भी कुछ कहने की स्थिति में नही था। प्रवचन सुनकर जनमानस आश्चर्य करने लगा, इस बालक की एंसी दिव्य अवस्था और प्रवचनो की गूढता के विषय में कोई भी कुछ कहने की स्थिति में नही था।

इस स्थिति का स्पष्टीकरण भी दिव्यात्मा के प्रवचनो से ही हुआ। कि यह सृष्टि के आदिकाल से ही विभिन्न कालो में श्रृंगी ऋषि की उपाधि से विभूषित और सतयुग के काल में आदि ब्रह्ा्र के शाप के कारण इस युग में जन्म का कारण बनी। गुरुदेव इस जन्म में भले ही अपठित रहे,लेकिन शवासन की मुद्रा में आते ही इनका पूर्वजन्मित ज्ञान,उदबुद्ध हो जाता और अन्तरिक्ष-स्थ आत्माओ का दिव्य उद्बोधन, प्रवचन करते और शरीर की स्थिति यहॉ होने के कारण हम सबको भी इनकी दिव्य वाणी सुनाई देती। इन पंवचनो में ईश्वरीय की सृष्टि का अद्भुत रहस्य समाया हुआ है, ब्रह्ा्रण्ड की विशालता, सृष्टि का उद्देश्य,विभिन्न कालो का आंखो देखा वर्णन भगवान राम और भगवान कृष्ण के जीवन की दिव्यता का दर्शन क्या कुछ दिव्य न हीं है इन प्रवचनो में ये किसी भी मनुष्य का,समाज का और राष्ट्र का मार्ग दर्शन करने का सामर्थ्य रखते है।

२० वर्ष की अवस्था तक ये प्रवचन ऐसे ही जनमानस को आश्चर्य और मार्गदर्शन करते रहे।

दिल्ली के कुछ प्रबुद्ध महानुभवो ने प्रवचनो की इस निधि को शब्द ध्वनि लेखन उपकरण के द्वारा संग्रहित करके, पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया, जिसके लिए वैदिक अनुसन्धान समिति नामक संस्था का गठन किया। जिसके अर्न्तगत सन् १९६२ से प्रवचनो को संग्रहति और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस दिव्यात्मा ने पूर्व निर्धारित ५० वर्ष के जीवन को भोगकर सन् १९९२ में महाप्रयाण किया।

इस अन्तराल इनके १५०० प्रवचन, शब्द ध्वनि लेखित यन्त्र के द्वारा ग्रहण किये गये। जिनको धीरे-धीरे प्रकाशित किया जा रहा है। वैदिक जीवन और वैदिक संस्कृति का जो स्वरूप इनमे समाया हुआ है। उसके सम्वर्धन, संरक्षण और प्रसारण के लिए हर वैदिक धर्मी के सहयोग की अपेक्षा है। जिससे वसुधैव कुटुम्बकम की संस्कृति से निहित यह महान ज्ञान जनमानस में प्रसारित हो सके। वैदिक अनुसन्धान समिति (रजि.)

१ प्रथम अध्याय-मानव शरीर और स्वास्थ्य

मानव योनि सर्वश्रेष्ठ है

मानव शरीर एक यन्त्रालय है क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के यन्त्र लगे हैं। इनसे वह कभी परिवार पर, समाज पर, कभी सर्व संसार पर विचार-विनिमय किया करता है। कहीं मानव के (हृदय में) द्वेष-भावनायें आने लगती हैं। मानव यदि वैज्ञानिक बनना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे अपने जीवन का मन्थन करना चाहिये, मानव जीवन के महत्व को जानना चाहिये। जब मानव अपने जीवन को जान जाता है तो वह अपने जीवन की प्रक्रियाओं को भी जान जाता है। मानव का जीवन ऐसा आवागमनमय बना हुआ है, ऐसी उसकी प्रक्रिया बनी हुई है कि इस संसार में कोई सार प्रतीत नहीं होता। (नौवाँ पुष्प, २७-१०-६७ ई.)

इस मानव शरीर को विविध नामों से पुकारा जाता है। जैसे विष्णु-पुरी, ब्रह्म-पुरी, इन्द्र-पुरी, ऋषि-पुरी, देव-पुरी, अयोध्या आदि। इस पुरी में नौ द्वार हैं। इनमें रमण करने वाला राम है।

१ राम : रम धातु से (ण अथवा घ´ ् प्रत्यय करने पर) 'राम शब्द' की रचना होती है। इस पुरी में शासन करने वाला यह अन्तरात्मा है, इसको जानो।

२ विष्णु पुरी : इसलिये कहा जाता है कि जब मानव सतोगुण की प्रधानता से ज्ञान में रमण करने वाला ब्रह्मवेत्ता बन जाता है। उससें सतोगुण, दूसरों के प्रति दया, नम्रता और ओज उत्पन्न हो जाता है। तो वह मानव विष्णु पद को प्राप्त हो जाता है। वह तेजवान

और ब्रह्मचारी बन करके विष्णु लोकों को पहुँच जाता है। यह आत्मा विष्णु-पद को प्राप्त हो जाता है। इसलिये इस शरीर को विष्णु पुरी कहा जाता है।

३ ब्रह्मपुरी : इसलिये माना गया है कि ब्रह्मा उसे कहते हैं जो चारों वेदों का महान् पण्डित होता है और यज्ञशाला में (ब्रह्म के पद पर) परिणत हो जाता है।

ये यज्ञ दो प्रकार के हैं १-एक आन्तरिक यज्ञ तथा २-दूसरा बाह्ययज्ञ।

१ आन्तरिक-यज्ञ में परमाणु 'ब्रह्मा' है, आत्मा इसका यजमान हैं। मन और बुद्धि इसके 'होता' हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये दस पात्र हैं। मानव शरीर यज्ञवेदी है, इसमें आन्तरिक प्रवृत्तियों तथा अकृतों की आहुति दी जाती है। इसमें विचारों की सुगन्धि तथा कुविचारों की दुर्गन्धि उत्पन्न होती रहती है।

इस प्रकार यह यज्ञ है। इस यज्ञ को करने वाला मानव अपनी इन्द्रियों के, जो यज्ञ के दस पात्र हैं, विषयों की सामग्री बनाकर हृदय रूपी यज्ञशाला में आहुति देता है। ऐसा मानव ब्रह्मा कहलाता है तथा उसका शरीर 'ब्रह्मपुरी' कहा जाता है।

२ बाह्य-यज्ञ में एक ब्रह्मा, एक अध्वर्यु, एक उद्गाता और यजमान होता है। ये नाना प्रकार की वनस्पतियों की सामग्री बनाकर यज्ञशाला में 'स्वाहा' के साथ आहुति देते हैं। इससे जगत् को सुगन्धि प्राप्त होती है तथा परमाणु सुन्दर बनते हैं।

३ ऋषि पुरी : इसलिये कहा जाता है कि यह मानव शरीर एक

यज्ञवेदी है जिसमें संसार का विज्ञान ओत-प्रोत है। जो मानव लोक-लोकान्तरों को जानना चाहता है वह आत्मा को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाये। ब्रह्मरन्ध्र में एक सहस्त्र नाड़ियाँ होती हैं। उन एक सहस्त्रो नाड़ियों में से प्रत्येक से ९४-९४ नाड़ियों का विकास होता है। इन नाड़ियों का सम्बन्ध लोक-लोकान्तरों में है। जब योगी की आत्मा १-लघु-मस्तिष्क, २-अक्रान्त मस्तिष्क और ३-ब्रह्मरन्ध्र में परिणत हो जाता है तो उस समय कोई ऐसा लोक नहीं जिसका इसको दिग्दर्शन न हो सके। इस प्रकार यह ऋषि पुरी है।

ऋषि इसमें अनुसन्धान करते हैं। कहीं योग का अनुसन्धान, कहीं आयुर्वेद का अनुसन्धान, कहीं विज्ञान के परमाणुवाद का अनुसन्धान। अनुसन्धान करते-करते वे मृत्यु से पार होने का प्रयास करते हैं। ऋषियों का कर्त्तव्य यही होता है कि वे योगाभ्यास करते हुए अपने अन्तरात्मा को उज्ज्वल बना लेते हैं। इन्द्रियों के विषयों की आहुति देकर अपने ऋषित्व को प्राप्त हो जाते है।

४ इन्द्र-पुरी : इसलिये कहा जाता है कि 'इन्द्र' उसे कहते हैं जो इन्द्रियों का स्वामी तथा देवताओं का अधिराज हो। इस आत्मा को उस समय 'इन्द्र' कहते हैं, जब यह देवताओं को प्राप्त हो जाता है। जड़ देवता इसको अपना अधिराज चुन लेते है; अर्थात् वह दोनों प्रकार के देवताओं को जान लेता है। इस प्रकार के आत्मा का निवास यह शरीर 'इन्द्रपुरी' कहलाता है। क्योंकि इस मानव शरीर को भिन्न-भिन्न पदवी प्राप्त हो सकती हैं। इसलिये मानव योनि को ही सर्वश्रेष्ठ योनि माना गया है। (चौदहवाँ पुष्प, २७-३-७० ई.)

नाना प्रकार के रोगों से रोगी हो जाना मानव के लिये सुन्दर नहीं है। मानव को अपने शरीर की रक्षा के लिये नाना प्रकार के निदान की आवश्यकता होती है। उसमें नाना प्रकार की वायु को जानने की आवश्यकता है। ये नाना प्रकार की वायुएं अन्तरिक्ष और द्युलोक में रमण करती हैं। इनके विषय में बहुत कुछ जानना होता है। यदि हम प्रकृति तथा वातावरण के आधार पर अपने जीवन का निर्माण करने वाले बनेंगे तो यह ज्ञान तथा विज्ञान पवित्र बन जायेगा। आयुर्वेद हमें आयु देने वाला है, तथा पवित्रता का प्रसार करने वाला है। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृ. २४)

मानव का आहार

मानव शरीर एक प्रकार का यज्ञ है। यदि इसमें अशुद्ध भोजन रूपी अशुद्ध आहुतियाँ दी जायेंगी, तो शरीर रूपी यज्ञ नष्ट हो जायेगा। जिस प्रकार यज्ञ में महान् संकल्प होने चाहिये, उसी प्रकार परमात्मा ने इस शरीर को विधान से बनाया है। इसमें वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष सब एक साथ विधान में कार्य कर रहें हैं। इनमें से एक का भी विधान समाप्त होने पर यह शरीर नष्ट हो जाता है। (दूसरा पुष्प, १७-१-६२ ई.)

परमात्मा ने जीवात्माओं को जो योनियाँ दी हैं वे इस आत्मा के कारागार के लिये दी हैं। मानव-योनि, कर्म-योनि और भोग-योनि दोनों मानी गयी है। जो मानव परमात्मा के कारागार वाले जीवों की हिंसा करके अपने जीवन की पूर्ति करते हैं, एक समय वह आयेगा जब वह परमात्मा के कारागार में अवश्य जायेगा। परमात्मा ने मानव के

भक्षण करने के लिये बहुत सी सोमलतायें तथा फल दिये हैं जिनको पान करके बुद्धि तीव्र होती है, सात्विकता आती है जिससे तुम्हारा हृदय उदार होता है, उसमें महत्ता आती है। (छठा पुष्प, १५-५-६२ ई.)

मानव का स्वाभाविक आहार नाना बनस्पतियों और वृक्षों पर लगने वाले फल हैं। यदि हम इन स्वाभाविक आहार को त्यागकर सिंह के समान हिंसामय आहार को करते हैं तो हमारा जीवन तुच्छ, निकृष्ट और हीनतम बन जायेगा। दैत्यों और हिंसक पशुओं के और अन्य भोग योनियों के आहार को मानव द्वारा किया जाना परमात्मा के नियम के विपरीत है। इससे आत्मा का हनन होता है।

जब हम शुद्ध आहार करते है तो इससे हमारी बुद्धि निर्मल और स्वच्छ हो जाती है। हमारा अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। वाणी यथार्थ उच्चारण करती है। जब वाणी सिद्ध होने लगती है उस समय बौद्धिक पाप नहीं करते। जब बौद्धिक पाप नहीं करते तो हमारा आत्मा हर प्रकार से उत्तम बनता चला जाता है। मानव पशु के समान आहार करने से पशु बन जाता है।

वास्तव में मानव का आहार शुद्ध व सात्विक होना चाहिये। तामसिक या राजसिक नहीं। क्योंकि तामसिक या राजसिक आहार से मानव की बुद्धि तामसिक या राजसिक हो जाती है। उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। एक समय वह आता है कि वह संसार से समाप्त हो जाता है और उसको कई जन्मों में भी बुद्धि प्राप्त नहीं होती।

परमात्मा ने हमें मानव रूप में देवता की योनि दी है। हमें दूसरों का आहार नहीं लेना चाहिये। इससे जीवन नष्ट होकर अन्धकार वाली योनियों में गिर जाते हैं।

दूसरों के गर्भाशय (अण्डे) का आहार करने से एक समय में उत्पन्न विष द्वारा मानव के गर्भाशय तथा वह स्वयम् गर्भाशय में ही नष्ट हो जाते हैं। जिसके गर्भ को खाकर मानव अपनी रसना का आनन्द मनाता है, कल वह भी उसे अपनी रसना का भोग बना लेगा।

मानव सामान्यता के आहार को त्यागकर आत्मा वाले अर्थात् चेतना वाले जीव-जन्तुओं का आहार करता है तो वह हिंसक बन जाता है। ऐसे मानव इतने तुच्छ बन जाते हैं कि उनका जीवन अगले जन्मों में वहाँ चला जायेगा जहाँ प्रकाश का अँकुर भी प्राप्त न हो।

आत्मा के दो लक्षण -ज्ञान और प्रयत्न सदा ही उसके साथ रहते हैं। वृक्ष तथा वनस्पतियों में इन गुणों का अभाव होने के कारण उनमें आत्मा नहीं माना जा सकता। यह भली-भाँति सिद्ध हो चुका है कि वृक्षों तथा वनस्पतियों में आत्मा नहीं होता। ये तो मानव के भोज्य पदार्थों के रूप में परमात्मा ने दिये हैं। परमात्मा के ज्ञान, वेद का भी यही आदेश है। इसलिये इनके आहार में कोई सङ्कोच नहीं। यदि मानव प्राणियों का आहार करता है तो यह हमारी तुच्छता है, हीनता है, निर्लज्जता है तथा पाप है। वास्तव में मानव का जीवन उसी काल में महत्वदायक हो सकता है जब उसका आहार तथा रसना शुद्ध होवें। (तीसरा पुष्प, १७-७-६३ ई.)

माँसाहार पर विशेष विवेचन

माँस भक्षण में जो दोष हैं उनका विवेचन इस प्रकार है कि जब मानव किसी प्राणी का हनन करता है तो आत्मा शरीर को त्यागकर चला जाता है। उस समय उसकी वेदना तथा अपूर्ण विचार उसके कण-कण में ओत-प्रोत हो जाते हैं। इससे भक्षण करने वाले के विचारों में एक अन्तर्द्वन्द्व आ जाता है। उसके विचारों में हिंसक भाव आकर हिंसक प्रवृत्ति बन जाती है। इन विचारो के साथ मानव के लिये साधक बनना तथा मानवता को लाना असम्भव हो जाता है। माँस भक्षण करने वाले मानवों को चाहिये कि वे इस पर विचार करें कि इससे अन्तरात्मा की शुभ प्रेरणाएं दूषित हो जाती हैं, तरंगें उत्पन्न नहीं होतीं।

माँस भक्षण करना पापवर्द्धक है। इसका कारण यह है कि हमें यह ऊँची प्रतिभा में ले जाने के लिये अवरोधक है। हमारा संसार में आने का उद्देश्य है कि हम किसी प्रकार का पाप न करें, ऊँचा कर्म करें, दया करें, करुणा करें, देवता बनें, मानव बनें, दैत्य न बनें।

एक सिद्धान्त यह कि जो मानव दूसरों को नष्ट करने का विचार बनाता है वह स्वयम् नष्ट हो जाता है। (इक्कीसवाँ पुष्प,२०-२-७०ई.)

माँस भक्षण वे किया करते हैं जिनकी बुद्धि पामर होती है। उन्हें पामर इसलिये कहा जाता है क्योंकि उनकी बुद्धि ऋषिता सात्विकता को प्राप्त न हो करके रजोगुणी तथा तमोगुणी रहती है। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

अतः दूसरे जीवों का भक्षण न करो। यदि तुम जीवन चाहते हो,

राष्ट्र की एकता और सदाचार चाहते हो तो प्राणियों की रक्षा करो। बल से, वाणी से, हस्त से रक्षा करो। यह शरीर दूसरों की रक्षा के लिये दिया है। वध करने के लिये नहीं। ये भुजाएँ इस बात का प्रतीक हैं कि प्रभु ने इन्हें दूसरों की रक्षा के लिये दिया है।

ये हमारे अंगों की रक्षा करते हैं; दूसरे प्राणियों की रक्षा करते हैं। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ हमारे शत्रु हैं इनको नष्ट करना चाहिये। तभी हमारा जीवन महान् बन सकता है। (आठवाँ पुष्प, १३-१२-६३ ई.)

सात आहार

गौतम को विद्याध्ययन पश्चात् अभिमान हो गया, तो उनके पिता ने उनसे पूछा कि 'सूत-प्रसूत' क्या होता है? गौतम इसका उत्तर न दे सके तो पिता ने बताया कि सूत उसे कहते हैं, जो पान किया जाता है तथा प्रसूत उसे कहते हैं, जो निगला जाता है। जैसे अन्न निगला जाता है। निगलने वाला यह प्राण है। इन प्राणों को जान कर ही ब्रह्मवेत्ता बन सकते हैं।

इसके पश्चात् सात प्रकार के आहार का वर्णन किया।

सबका साझा अन्न

यह वह अन्न है, जिसको मानव प्रतिदिन गार्हपत्य अग्नि में पकाकर भोजन करते हैं तथा कृषक की खेती में उत्पन्न होता है। यह अनाज के रूप में होता है। इसको साझा अन्न इसलिये कहते हैं क्योंकि इसे नाना प्रकार के प्राणी ग्रहण करते हैं।

पौधे का निचला भाग अन्न स्वरूप

दूसरा आहार इस अन्न के नीचे के पौधा का भाग दूसरा आहार हैं। जिसको पशुओं का आहार कहा जाता है, इसको पान करके पशु अपनी पशुता में परिणत रहते हैं। पशुओं का प्राण इतना वलिष्ठ होता है कि वे इसे प्राप्त करके शीघ्र शरीर निर्माण में लगा लेते हैं यहाँ प्रभु का विज्ञान दर्शनीय है। जिसका जिस प्रकार का तथा जिस आहार का उदर है, उसी प्रकार का आहार बना दिया। इन दो प्रकार के आहारों को परमात्मा ने सृष्टि के प्राणियों को सर्वत्र प्राप्त करा दिया।

हुत

'हुत' कहते हैं आहुति देने को तथा 'प्रहूत' कहते हैं पुरोहित की सेवा करने को। जिस आहार को हम देवताओं को पान कराते हैं, वह हूत कहलाता है। नाना वनस्पतियों और औषधियों की सामग्री बना करके ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्यु और होता यज्ञ करते हैं, तो अग्नि द्वारा भस्म होकर सूक्ष्म रूप में अन्तरिक्ष में देवताओं को प्राप्त हो जाता है। अग्नि इसको परमाणुओं में तोड़ कर सूक्ष्म रूप बना देती है। इन्हें वायु अपने देवताओं को प्रदान कर देता है। देवताओं का देवत्व किसी का समुद्र में जाता है, किसी का अन्तरिक्ष में तपा करता है। जब ये देवता तपते हैं, तो सुन्दर वृष्टि होती है। उससे नाना प्रकार की वनस्पतियाँ पुनः जन्म लेती हैं। प्रत्येक मानव को 'हुत' करना चाहिये। देव कन्याओं को 'गार्हपत्य' अग्नि की पूजा करनी चाहिये।

आहुति से लिपटा जो मानव का संकल्प होता है वह मानव की इच्छा को पूर्ण करता चला जाता है। जो भी आहुतियाँ दी जायें, वे

सुन्दर विचारों के साथ परमात्मा में श्रद्धा के साथ होनी चाहिये अन्यथा कितनी भी सुन्दर सामग्री हो, वह सब (सुन्दर विचारों तथा परमात्मा में श्रद्धा के अभाव में) निष्फल ही रहता है।

जब श्रद्धा के साथ अग्नि में आहुति दी जाती है, तो अग्नि उसे भस्म नहीं कर सकती। वह (अग्नि) तो केवल स्थूल साकल्य को भस्म कर सकती है।

किन्तु मानव के संकल्पों तथा महान् विचारों को अग्नि अन्य देवताओं को अर्पित कर देती है। वहाँ वे विचार तपते हैं, तथा वृष्टि के साथ आ जाते हैं।

प्रहूत

प्रूत या प्रहूत वह आहार है, जो पुरोहित को दिया जाता है। प्रथम पुरोहित तो परमपिता परमात्मा है जो मानव के सुख की प्रेरणा देता है। बुद्धि को भी पुरोहित कहा जाता है।

एक पुरोहित वह है जो अपने यजमान के लिये, अपने राजा के लिये, शुभकामनाएं प्रकट करता है, तथा बुद्धिमत्ता का प्रसार करता है। पुरोहित की सेवा करने में अपनी प्रिय वस्तु को भी अर्पित कर देना चाहिये। पुरोहित भी एक प्रकार का अन्न है।

अन्न की मीमांसा यह है कि जिससे दूसरा प्राणी पवित्र होकर महत्ता में लाया जा सके उसे अन्न कहते हैं। इस प्रकार जो मानव आहार करता है, केवल यही अन्न नहीं है। बल्कि वह भी अन्न है कि मानव अपने विचारों को दूसरों को दे। तो उन विचारों का तथा दूसरे प्राणियों की रक्षा करने का नाम अन्न कहलाया गया है।

जब राष्ट्र में पुरोहित होते हैं तो एक दूसरे प्राणी की रक्षा होती है। तथा वे प्राणी पुरोहित की रक्षा करते हैं। इस प्रकार राष्ट्र का प्राण है- सदाचार तथा दूसरों की रक्षा करना।

शेष तीन आत्मा के अन्न हैं। १-चक्षु, २-श्रोत्र, तथा ३-घ्राण। अन्न का अभिप्राय है कि जो किसी वस्तु को ग्रहण करता है अर्थात् अन्न ही परमाणुवाद को अपने मे शोषण करता है।

चक्षु-आहार

सूर्य की किरणें नेत्रों का प्रकाश बन कर आती हैं, तो ये नेत्र प्रकाश का आहार करते हैं। जैसे प्राण इस अन्न को ग्रहण करके मानव के साथी बना करते हैं, इसी प्रकार नेत्रों का साथी जो प्रकाश है, वह भी अन्न कहलाया जाता है, आत्म ज्ञान कहलाया जाता है।

जो मानव नेत्रों का शोधन करके सुदृष्टिपात करता है, उसके नेत्रों की ज्योति ज्यों की त्यों बनी रहती है।

वे मानव इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् सूर्यमण्डल को प्राप्त होते हैं। इसीलिये हमें नेत्रों का शोधन करना चाहिये क्योंकि यह भी अन्न है।

मानव के नेत्रों में जो छिद्र होते हैं, उनमें सूर्य की किरणों के परमाणु आगमन करते हैं, तो सूर्य के प्रकाश तथा आत्मा के प्रकाश का समन्वय हो जाता है, तभी नेत्र इस संसार में दृष्टिपात किया करते हैं। वास्तव में नेत्रों का अपना अस्तित्व नहीं होता क्योंकि वे तो दूसरों की सहायता से कार्य करते हैं। इसीलिये नेत्रों को आत्मा का अन्न कहा जाता है। यह नेत्र सूर्य की ज्योंति को लाकर आत्मा से

उसका समागम कराता है। जैसे मल, विक्षेप, आत्मा और परमात्मा के मध्य में आ जाते हैं, इसी प्रकार नेत्र सूर्य के प्रकाश तथा आत्मा के मध्य में एक पटल है, जो दोनों के प्रकाश का समन्वय कराता है। इसीलिये नेत्रों को अन्न कहा जाता है।

श्रोत्र-आहार

श्रोत्र उसे कहते हैं, जिसका दिशाओं से सम्बन्ध है। हमारे मुख से जो शब्द निकलता है, वह एक क्षण समय में पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है। श्रोत्रों में यह विशेषता होती है कि वह दिशाओं से इन शब्दों को लाकर आत्मा से उनका मिलान करा देते हैं।

वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि शब्द के साथ उसके उच्चारण करने वाले का चित्र भी जाता है।

ये श्रोत्र दिशाओं से शब्दों को लाकर मानव को स्मरण कराते हैं। मानव की अन्तरात्मा के जो संस्कार होते हैं उनका समन्वय दिशाओं से हो जाता है। दिशाओं में जो शब्द हैं, उनका सम्बन्ध अन्तरिक्ष से होता है। अन्तरिक्ष में शब्दावली रमण करती रहती है, तो वे लाखों वर्षों के शब्द भी मानव के मस्तिष्क में विराजमान हो जाते हैं।

जो सांसारिक शब्द हैं, वे भी उसके अन्त-करण में आ जाते हैं और इन शब्दों का बाह्य रूप बन जाता है।

श्रोत्र नाम के अन्न को जानने वाले वैज्ञानिक लाखों वर्षों के शब्दों को यन्त्रों मे परिणत कर देते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे अन्न का आहार किया जाता है, ऐसे ही हमारे श्रोत्र शब्दों का आहार करते हैं। हम इन श्रोत्रों को जानने वाले

बनें।

घ्राण-आहार

घ्राण में नाना प्रकार सुगन्धियों (गन्धों) को ग्रहण करने वाली (घ्राणेन्द्रियाँ) (शक्तियाँ) होती हैं। सुगन्ध को प्राप्त करना उसका अन्न कहलाया गया है। पुलस्त्य, भारद्वाज आदि ऋषियों ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि घ्राण इन्द्रिय को जानने वाले प्राणी ऋषि होते हैं। वे उस फल से, जो मानव के पास हो, अपनी घ्राणेन्द्रिय तथा नेत्रों का समागम करके आत्मा और उदर से उसका संबंध करके, घ्राण से उसकी गन्ध को ग्रहण करके अपने उदर की पूर्ति उसके सूक्ष्म परमाणुओं से कर लेते हैं। जो ऋषि-मुनि पवन आहारी कहलाये जाते हैं, वे घ्राणेन्द्रिय को जानने वाले होते हैं। वे वायु मण्डल से मन्द सुगन्ध को ग्रहण करते हैं। वे उस अन्न को ग्रहण करते हैं जिससे घ्राण का सम्बन्ध होता है। उस अन्न को पान करके तृप्त हो जाते हैं।

व्यास तथा जैमिनि का सिद्वान्त है कि जो बारह वर्ष पुरानी सुगन्ध वायुमण्डल में होती है, उसको योगीजन ग्रहण कर लेते हैं, तथा उसे अपनी उदर पूर्ति का साधन बना लेते हैं।

अभिप्राय यह है कि यदि हम अपने जीवन को महान् बनाना चाहते हैं, तो इन सात प्रकार के आहारों को जानने वाले बनें। इन में तीन आहार आत्मा के हैं तथा चार संसार की सामूहिक प्रक्रिया के लिये। इन सात प्रकार के अन्न से मानव की प्रतिभा का जन्म होता है।

हम परमात्मा की उपासना करते हुए, अन्नों को पान करते हुए चले जायें, जिससे हमारा जीवन अग्निमय, ज्योतिर्मय बनता हुआ इस संसार सागर से पार हो जाये। (चौदहवाँ पुष्प, १३-८-७० ई.)

संकल्प-शक्ति

यह मन हमारे आहार -व्यवहार से उत्पन्न होता है। आहार-व्यवहार हमारे संकल्प से प्राप्त होते हैं। यह संसार कल्पवृक्ष है। यहाँ आत्मा जो भी कल्पना करेगा, वही बनेगा, जो (वस्तु) चाहेगा वही वस्तु प्राप्त हो जायेगी।

परन्तु संकल्प यथार्थ होना चाहिये। इसमें विवेक होना चाहिये, जिससे मानव का जीवन पवित्र हो जाये। संकल्प वह पदार्थ है, जिसको धारण करके लोक-लोकान्तरो में भ्रमण कर सकते हैं। ऊँची संकल्प शक्ति से मानव के रोग भी शान्त हो जाते हैं। यह सर्वोत्तम औषधि है।

संकल्प को सोम रस भी कहते हैं। सोम नाम परमात्मा का तथा रस नाम ज्ञान का है। सोम रस पान करने का तात्पर्य है, परमात्मा से मिलान करने वाली विद्या का पान करना। इसका पान संकल्प मात्र से करते हैं।

हमारा संकल्प वास्तविक होना चाहिये। संकल्प से ऊचे चलते-चलते हम परमात्मा से मिलान कर लेते हैं। संकल्प के साथ परिश्रम तथा विवेक भी होना चाहिये। यदि पुरुषार्थ और संकल्प मन, वचन तथा कर्म से हृदय में होता है, तो वह ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है।

विकल्प वह है जिसका कोई आदि और अन्त नहीं होता। जैसे मानव इस संसार में अनेकों प्रकार के सम्बन्ध तथा रिश्ते बना लेता है ये सम्बन्ध माता के गर्भ में आने से पहले नहीं थे और न इस शरीर त्याग के पश्चात् रहेंगे।

विकल्प जीवन में अभिमान को जन्म देते हैं। संकल्प नाम परमात्मा तथा विकल्प नाम प्रकृति का है। दोनों का मिलान होने से संसार रच गया। जब संकल्प-विकल्प का मिलान हो जाता है तो हमारे हृदय में एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसको मन कहते हैं।

विचार

जिस प्रकार वट वृक्ष के बीज में सूक्ष्म सा अंकुर होता है, इसी प्रकार मानव के शरीर में सूक्ष्म सा अन्तःकरण होता है। जब बुद्धि और चित्त का सङ्घात और मिलान होता है, तो विचारों की उत्पत्ति होती रहती है। (नौवाँ पुष्प, ७-६-६७ ई.)

जिस प्रकार सूर्य की रश्मियाँ विभिन्न प्रकार के तत्त्वों पर गिर कर उनके गुणों के अनुसार कार्य करती हुई, सूर्य का प्रतिबिम्ब कहलाती हैं, इसी प्रकार इस आत्मा से शुद्ध विचारों की रश्मियाँ चलती हैं। प्रकृति से बने इस शरीर को यह आत्मा स्थिर कर रहा है। आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से है। जब चेतन आत्मा से नेत्रों के द्वार से प्रकाश चला, तो आगे बुद्धि आयी। बुद्धि का मिलान मन से हुआ, मन का सम्बन्ध हमारे विचार रूपी प्रकाश से होकर इसी प्रकार का प्रतिबिम्ब बना और इस संसार में कार्य करने लगे इसको हम विचार कहते हैं।

इसको इस प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है कि आत्मा से चली रश्मियाँ मन, बुद्धि पर छाये मल, विक्षेप और आवरण से होती हुई मुखारविन्द पर आकर उनका विस्तार हो जाता है। विस्तार होकर शब्दों का कार्य करता है और तदनुसार शब्दों का उच्चारण होने लगता है। जैसे हमारी इन्द्रियों में नाना प्रकार का अभिमान है, तथा नेत्र दूषित हैं, तो किसी पुरुष को कुदृष्टि से देखते हैं। मुख दूषित होने पर अशुद्ध उच्चारण करते हैं, किसी को भुजाओं से दण्ड देते हैं।

संक्षेप में आत्मा से रश्मियां चल; मल, विक्षेप और आवरण से मिलान करती हुई, वे मुख पर आकर विस्तीर्ण हो गयीं।

इन्द्रियों में सत्ता प्रदान होकर, तदनुसार ही कार्य आरम्भ हो जाता है। इसी का नाम आत्मिक ज्ञान है।

मन और बुद्धि में जैसे विचारों की शृंखला होती है चेतन आत्मा से सम्बन्ध होकर, वैसा ही इसका प्रतिबिम्ब आया, इन्द्रियाँ तदनुसार ही कार्य करने लगती हैं। सारांश यह है कि इस बुद्धि में जैसी शृंखला, वैसे ही मन में विचार और जैसे मन में विचार, वैसे ही इन्द्रियों का कर्म हो जाता है। (आठवाँ पुष्प, ३-४-६४ ई.)

प्रश्न : यह है कि जब आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से है और इन्द्रियों से भी है तथा इन्द्रियों का सम्बन्ध संसार से है, ये इन्द्रियाँ जब विनाशकारी दूषित विचारों से कार्य करती हैं, तो आत्मा उन्हें अपनी रश्मियाँ देना बन्द क्यों नहीं कर देता?

उत्तर : इसका उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकृति को पूर्ण माना जाता है। परन्तु जो वस्तु प्रकृति और चेतन के मिलान से बनती है,

वह सदैव अधूरी रहती है। इन्द्रियाँ प्रकृति से बनी हैं। आत्मा का सम्बन्ध प्रकृति से है। प्रकृति से बनी इन्द्रियाँ तथा चेतन आत्मा का मिलान होने पर अधूरी होने की स्थिति में कार्य करने लगती हैं। यदि कोई जिज्ञासु प्रकृति पर शासन करना चाहता है तो वह आत्मिक विज्ञान से ही कर सकता है।

जब आत्मा प्रकृति के ऊपर जाने का प्रयत्न करता है तो आत्मा प्रकृति पर शासन करने लगता है, इन्द्रियाँ शान्त होने लगती हैं। उस समय इन्द्रियों का मन से मिलान हो करके, मन का बुद्धि से मिलान हो जाता है। बुद्धि से मिलान होने पर मल, विक्षेप और आवरण का अन्धकार समाप्त हो जाता है। ऋतम्भरा बुद्धि प्राप्त होकर यह सब कुछ संज्ञा उस आत्मा में रमण कर जाती है। आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से हो जाता है। इसी का नाम विस्तार वाला विज्ञान या आत्मिक विज्ञान है।

विश्राम

कार्य करते हुये कोई मानव थकित होकर रात्रि में विश्राम करके पुनः अपनी शक्ति को प्राप्त कर लेता है। यह शक्ति उसको परमात्मा और रेणुका (रात्रि) की गोद में जाने से प्राप्त होती है। यदि इस विज्ञान को जान लिया जाये कि यह सब कैसे होता है, तो वह मानव दार्शनिक बन जाता है, मनोवैज्ञानिक बन जाता है, मन पर शासन करने वाला बन कर आत्मा के विज्ञान को जानने वाला बन जाता है।।। (चौथा पुष्प, १८-४-६४ ई.)

रोग-ग्रस्त होने पर चिकित्सा

योग-चिकित्सा

शरीर में किसी भी प्रकार का रोग हो जाता है, तो उसे योग के द्वारा दूर किया जा सकता है।

जब मानव के जिस भी भाग में मन और प्राण शुद्ध रूप से कार्य नहीं करते, तभी मानव का अंग-भंग होने लगता है। उसी स्थान में प्राण को अच्छी प्रकार संचालित करते हैं। यदि मानव का हृदय दुःखित है, उसमें रुग्णता आ गयी है, तो उसमें प्राण की क्षमता होनी चाहिये। तथा प्राण के संचारित कर देना चाहिये। मानव के प्रत्येक भाग (अंग) में मन और प्राण दोनों की प्रक्रियाओं का कार्य होता है तथा आत्मा उसमें चेतनित रहता हैं।

यदि कोई मानव स्वस्थ रहना चाहता है, तथा अपने शरीर को उन्नत बनाना चाहता है, तो उसे योग के मार्ग को अपना लेना चाहिये। जिस मार्ग को अपनाने से महापुरुष महत्ता को प्राप्त होते हैं। (सत्रहवाँ पुष्प-१७-१२-६९ ई.)

(विशेष :योग भाग १ में प्राणायाम का प्रकरण भी देखें।)

औषधियों द्वारा चिकित्सा

हृदय-रोग

हमारे भुज में 'अणिमा' नाम की नाड़ी होती है। जिसको 'अंगलाकृति' कहते है। उससे सूक्ष्म अणिमा है। उसमें एक नाड़ी होती है। जिसका सम्बन्ध हृदय से होता है। यदि किसी व्यक्ति का हृदय सूक्ष्म हो और वह प्रबल करना चाहता है, तो उसे नाना प्रकार की शीतल औषधियाँ जैसे १-चन्दन, २-अग्रति, ३-कापरूणी, ४-छष्टी,

५-जायफल, ६-जावित्री आदि का मिश्रण बनाकर एक प्रहर तक जल में भिगो कर इस 'अणिमा' नाड़ी पर प्रतिदिन अग्रित करना चाहिये। इससे उसका हृदय प्रबल हो जायेगा। (ग्यारहवाँ पुष्प ३०-३-६८ ई.)

जिन व्यक्तियों का हृदय शान्त हो जाता है अथवा हृदय गति करता हुआ शान्त हो जाता है तो गुरु ब्रह्मा जी ने उनके लिये कहा था कि १-अप्रीहि, २-भूषणरिन, ३-क्रान्ति, ४-अवश्वी, ५-सोमभू, ६-आप्राति, ७-बालछड़, ८-सोमकेतु इत्यादि औषधियों का लेपन शरीर पर करना चाहिये। ३६ दिन तक लेपन करने से ४० वर्ष के व्यक्ति के हृदय की गति उसी अवस्था में आ जाती है, जो बाल्यावस्था में थी। (सोलहवाँ पुष्प, १७-१०-६१ ई.)

यदि किसी मानव के हृदय की गति होते-होते मन्द हो जाये अथवा धीमी पड़ जाये, तो यहाँ ऋषि जन यह कह रहे हैं, आयुर्वेद यह कहता हैं, धन्वन्तरि जी और विष्णु जी यह कहते हैं कि :''स्वाति ब्रह्मः, स्वाति भ्रतिः, अस्वातिलोकम्, ब्रह्म व्यापकप्रवे।''

यहाँ औषिधयों के नामों का वर्णन है। ऐसा उन्होंने कहा १-शैलखण्डा स्वाति, जो पर्वतो में प्राप्त होती है, आज भी उसका नाम इसी प्रकार है, २-ब्रह्मकेतु, ३-ब्रह्माणि, ४-शUपुष्पी ये चार औषधियाँ, इनका पात बना करके, उनकी अग्नि में भस्म बना करके और मधु के द्वारा पान करने से उतनी ही गति बलवती हो जाती है। परन्तु साथ में संयम, ब्रह्मचर्य की आभा से और उसको पान करने से हृदय में पुनः से गति प्रविष्ट हो जाती है। (चौबीसवाँ पुष्प, १८-८-७२ ई.)

हृदय-गति मन्द क्यों?

हृदय-गति उस काल में मन्द होती है जब उसकी बाह्य-भावना अधिक बलवती हो जाती है। बाह्य कामना अधिक बलवती हो गयी और कामना की पूर्ति नहीं होती तो वहाँ क्रोध और मोह दोनों एक गृह में आ जाते हैं। एक गृह में आ करके वे मन के एक स्थल में आ जाते हैं। अब मन, जो संसार में इस शरीर में विभाजन करता था, वह प्राण का विभाजन करता था, उसका प्राण से मिलन नहीं होता। प्राण से मिलन न होने का परिणाम यह होता है कि मानव के हृदय की गति मन्द हो जाती है।

इस मन्द हुई गति को पुनः चेतना में लाने के लिये हमें उस वस्तु का पान करना है, जिससे वह क्रोध और ममता, जिसको मोह कहते हैं, वे दोनों पृथक्-पृथक हो जायें।

१-इसकी औषधि प्रथम तो ईश्वर चिन्तन है। जब प्रभु का चिन्तन आ जाता है तो जैसे सूर्य के उदय होने पर रात्रि नष्ट हो जाती है, चन्द्रमा भी शून्यवादी बन जाता है,न चन्द्रमा भासता है, न अन्धकार रहता है, इसी प्रकार जब मन और प्राण दोनों की सहकारिता में प्रभु को अपना आश्रय बना लोगे तो अहंकार, अभिमान, क्रोध पृथक्-पृथक् हो करके, मानव के हृदय की गति स्वस्थ बन जाती है। हमारे शरीर में जो पात बना हुआ है, जिसको ब्रह्मचर्य कहते हैं, उससे ब्रह्म रूपी औषधि को चरते हैं। सर्वप्रथम इसको चरना है।

भौतिक औषधियों की उपयोगिता

यदि इन औषधियों को नहीं ले सकते और भौतिक औषधियों का

पान करना है तो हमें उन औषधियों को लाना होगा जिनसे प्राण की गति तीव्र हो जाये और मन की गति धीमी बन जाये। मन की गति धीमी बन करके प्राण के द्वारा मिलान करने लगे तो हृदय में पुनः गति आ जायेगी। जिसके हृदय की गति मन्द हो जाती है, उसमें च´चलता अधिक हो जाती है। वह किसी की वाणी को सहन नहीं कर सकता। कटुता की प्रतिभा उसमें आ जाती है। वह कटुता की आभा नहीं आनी चाहिये। इस कटुता की आभा में उत्तर प्राप्त होता है तो हृदय की गति और मन्द होने की सम्भावना रहती है। इसलिये संसार मे वह गति नहीं होनी चाहिये।

मन्द गति क्यों?

हृदय की मन्द गति का जो आरम्भ होता है, वह उस काल में होता हैं, जब मानव का मन अशान्त होता है। मन की अशान्ति में मानव शरीर का आधार, जो शरीर में शासन करने वाला ब्रह्मचर्य है, वह नष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्य के नष्ट हो जाने पर, धातु के चले जाने पर मन में निराशा उत्पन्न हो जाती है, ह्रास छा जाता है। तो मन प्राण से मिलन नहीं कर पाता है। इसलिये हृदय की गति प्रायः मन्द हो जाती है। मन में जो गति है, यह ममता है, वह ज्यों की त्यों बनी हुई है।

इसलिये जिनको हृदय की गति को ऊर्ध्व बनाना है और मन्दता को समाप्त करना है, उन्हें अधिक से अधिक मौन रहना चाहिये, वाणी से मौन रहना चाहिये। आत्मा का चिन्तन होना चाहिये। उन्हें एकान्त में अपने कार्य को सुचारू रूप से करना चाहिये। ऐसे मानव का

हृदय सदैव गतिमान बन करके ऊर्ध्वगति को प्राप्त हो जाता है।

उन्हें अधिक से अधिक औषधियों का पान करना है, तो उन्हें संयम का सेवन करना चाहिये। (औषधियों में) १-वटवृक्ष, २-पीपलवृक्ष, ३-शमी-वृक्ष, ४-स्वाति वृक्ष, ५-बेलान्तरी वृक्ष, ६-बेल पत्र (बिल्ब-पत्र) हैं इनके पांचवाँङ्गों का पान करना चाहिये।

पांचवाँङ्गों में वृक्ष की पाँचों वस्तुओं (फल, फूल, पत्ते, गूदा, जड़) को ले लेना चाहिये। उनको एक सन्तुलन करके अग्नि में तपा करके, उनका पात बना करके एकत्रित कर लेना चाहिये।

जब सूर्योदय होता है तो जैसे एक स्वाति धातु है जिसमें सूर्य की किरणों आ करके प्रतिबिम्बित बन जाती हैं, उस धातु में अनेक रोगों की अनेक किरणों होती हैं। उन्हीं किरणों से हमारे शरीर में जिस तत्त्व की प्रधानता से हृदय की गति मन्द हो गयी है; जैसे पित प्रधान है, वायु प्रधान है, कफ प्रधान है; इन तीनों में से कोई भी प्रधानता को प्राप्त हो गया हो, तो वह मन का सुचारू रूप से कार्य न करने पर हुआ है।

उसी प्रकार उसी रंग का उस दर्पण में उसी प्रकार का लेपन करके उसे सूर्य की किरणों के साथ-साथ, उसी जल को अग्नि में सबसे प्रथम अग्नि में पंचागो बनाना चाहिये। फिर सात दिन तक उसको सूर्य में तपाना चाहिये। हमें लगभग ४० दिन तक या १०१ दिवस तक पान करते रहना चाहिये जिससे हृदय की गति मन्द से चेतनता में आ जाये। (पच्चीसवाँ पुष्प, १-८-७३ ई.)

क्षयरोग-चिकित्सा

इस रोग में अस्थियों में एक क्रटिक (कीटाणु) उत्पन्न हो जाता है। तो उन परमाणुओं (कीटाणुओं) को नष्ट करने के लिये, अपनी इन्द्रियों का (शरीर अवयवों) निदान करना अनिवार्य हो जाता है।

इसकी चिकित्सा करने के लिये औषधियाँ ये हैं

१-गौमूत्र, २-स्वमूत्र, ३-श्रोत्र का मल, ४-नेत्र का मल, ५-घ्राण का मल इन सबको लेकर अग्नि में तपाया जाता है।

दूसरी विधि यह है कि इनको खरल कर लिया, तथा, छाया में कृत करने के पश्चात् अग्नि में तपा लिया। तपाना इसलिये अनिवार्य है कि उसको पान करने में सुविधा होती है। ६-सहदेई तथा ७-ज्ञानकिक नाम की औषधियों को उसमें मिश्रण किया। अग्नि में तपाने के पश्चात् उसे खरल कर लिया। फिर एक सुन्दर पात्र में रख लिया। गौदुग्ध में गौघृत मिला कर उसके साथ इस औषधि को लेने से यह रोग समाप्त हो जाता है। चिकित्सा करते समय मानव को आलस्य व प्रमाद नहीं रहना चाहिये, उसे पुरुषार्थ तथा विचारशील होना चाहिये।

स्वमूत्र से उत्तम रसायन को मानव उत्पन्न कर ही नहीं सकता। जितना पारा लवण तथा विभिन्न लवण चाहिये वे सब इसमें हैं।

नपुंसकता की चिकित्सा

१. सहदेई, २. यदो देही, ३. शù◌ुली, ४. त्रिकटम, ५. आछांगनी, ६. निरसोत इन सबका पात बनाया। पात बनाने के पश्चात् उसका ४० दिन तक सेवन करने के पश्चात् मानव की त्वचा सुन्दर हो जाती है और मानव की नस नाड़ियों में एक विद्युत् उत्पन्न हो जाती है। इसके साथ ही साथ मानव को पवन मुक्तक नाम के

आसन को करते रहना चाहिये। इससे काम वासना उत्पन्न नहीं होगी तथा ब्रह्मचर्य स्थिर होता चला जायेगा। ब्रह्मचर्य स्थिर हो जाने के पश्चात् सूक्ष्म सा प्राणायाम करना 'सोने में सुहागा' है। इससे मानव का अन्तः करण सुन्दर और उत्थान को प्राप्त होने लगता है।

उन्माद रोग एवम् चिकित्सा

अश्वनी कुमारों ने अनुसन्धान करके निर्णय दिया है कि संसार में ११२ (एक सौ बारह) प्रकार के उन्माद माने जाते हैं। उनमें ३६ प्रकार के उन्माद सतोगुणी हैं। लगभग ५० प्रकार के तमोगुणी तथा २६ प्रकार के रजोगुणी माने जाते हैं। इन्हीं तीनों सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी में यह संसार ओत-प्रोत हो रहा है तथा विभक्त हो रहा है। संसार का चित्र इन तीनों प्रकार के गुणों पर विचित्र हो रहा है।

सतोगुणी उन्माद

इनमें से कुछ उन्माद इस प्रकार के है जो १- देव उन्माद (देवोन्माद) कहलाते हैं। कुछ २- चेतना उन्माद (चेतनोन्माद) हैं। ३- कुछ जड़ उन्माद (जड़ोन्माद) हैं।

देव-उन्माद (देवोन्माद) (व्यक्ति) अग्नि के ऊपर अपना मन्थन (विचार) करने लगता है। मन क्या करता है, मानों उसके मस्तिष्क में वह समाहित हो जाता है। बुद्धि के क्षेत्र में उन वस्तुओं को लाया जाता है तो यह मन का प्रतिबिम्ब है। मन का ही एक आभूषण माना गया है जिसे हम देवोन्माद कहते हैं।

देवोन्माद कुछ देवी के होते हैं। यथा देवी मेरे समीप आ गयी। जहाँ मन और प्राण एक सूत्र में आने के लिये तत्पर होते हैं तो वहाँ

देवी का प्रकोप हो जाता है। मन और प्राण दोनों के मध्य में जब देवी की प्रतिमा मन में समाहित हो जाती है, तो वह ऐसी बातें प्रकट करने लगता है जो उसके मस्तिष्क में भी समाहित नहीं होतीं। वह ऐसी वार्ताएँ प्रकट करने लगता है, जो हृदय में तो अँकुर रूपों में किसी समय में थीं परन्तु उन्हें अब जागरुकता में श्रवण कर रहा है। उसके मन में विराजमान हो गयी हैं। यह देवी समीप क्या आ जाती है, उसके सम्बन्ध में नाना चर्चाएँ प्रारम्भ करने लगते हैं। यह मन का आभूषण है। वह देवी प्रायः कहीं से आती नहीं है परन्तु वह जो श्रद्धामयी देवी है वह जागरूक हो जाती है। वह मन उस श्रद्धामयी देवी को जागरूक करता है। श्रद्धामयी देवी बन करके वह देवी के ऊपर नाना प्रकार की कल्पना प्रारम्भ कर देता है। उसका पूजन भी प्रारम्भ हो जाता है। पूजन का रंग रूप भी भिन्न हो जाता है। वह रूप रेखा नहीं रह पाती जो वास्तव में होनी चाहिये। जो वास्तविक रूप उसका था वह न रहा; न रहने से देवी के ऊपर आवरण या वह आडम्बर हो जाता है। उस (उन्मादी) मानव को, प्रतिभा को, उस देवी की प्रतिभा स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु वह प्रायः (स्वकीय) मन की आभा है, (स्व) मन की ही श्रद्धामयी देवी है।

मन की सहकारिता से, मन के श्रवण करने से वह (उस) देवी (का) एक विराट्-स्वरूप बन जाता है। वह प्रायः देवी नहीं होती, वह मन की आभा ही होती है। मन में उस समय नाना प्रकार की तरगें उत्पन्न होने लगती हैं, तो वह देवोन्माद कहा जाता है।

इसी प्रकार नाना प्रकार के 'ऋषित्व' उन्माद माने गए हैं, वे भी

सतोगुणी उन्माद हैं।

ये सब मानसिक विकार माने जाते हैं। इनमें से एक शाखा (से) द्वितीय शाखा का जन्म होता रहता है। जन्म के पश्चात् उस पर नाना प्रकार के अवशेष उत्पन्न हो जाते हैं। मानव के मन में एक आभा जागरूक हो जाती है। इस मानव को यदि देवी के स्थान में ले जायें तो वह उज्ज्वल विचार बन जाता है। उसको वहाँ ले जाते हैं, उससे मन की आभा का परिवर्तन होता है। मन का चित्रण रूप-रेखा में अविरत होने लगता है तो मन की आभा, वह श्रद्धामयी देवी दूसरे रूपों में परिणत हो करके उसका सुन्दर रूप बन जाता है। वह जिस रूप से देवी के सम्पर्क में चला गया था उसी के द्वार पर चला जाता है।

एक मानव पर्वत पर जाता है जहाँ नाना प्रकार के अवशेष उसके समीप होते हैं। उन्हीं में वह रटन्त होने (करने) लगता है। उसकी (उन्हीं की) ध्वनि आने लगती है, उसको देवोन्माद हो जाता है।

जड़ोन्माद :जड़ोन्माद उन्हें कहते हैं, जैसे सूर्य पर एक मानव विचार कर रहा है। मन की उड़ान उड़ता हुआ वह सूर्य को यह स्वीकार कर लेता है कि यह जो सूर्य है वह मानव के समीप आता है और प्रकाशक बन करके आता है। उसका अच्छी प्रकार मन्थन न करता हुआ, उसके मस्तिष्क में कहीं ऐसे वाक्य ओत प्रोत हो जाते हैं और वह यही स्वीकार करता है कि ''सूर्य तेरे समीप आयेगा, प्रकाश लेकर आयेगा, इस प्रकाश को तू पान करेगा।'' इसी में वह लगा

रहता है। मन के ऊपर शब्द के अङ्कुर अंकित हो जाते हैं। अंकित होते हुए वह जो उन्माद बन जाता है, वह जड़-उन्माद कहलाता है।

रजोगुणी-उन्माद :ये इस प्रकार के होते हैं जो राजा के राष्ट्रीय विचारों में ''आज मैं राजा के राष्ट्र को अपनी आभा से, भुजबलों के बल से इसका परिवर्तन करूँगा।'' कुछ इस प्रकार की धारा के आश्रय हो जाते हैं। जो कुछ राष्ट्रीय भय होते हैं, भय के कारण उनमें नाना प्रकार के भय के अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। उनसे भयभीत होता हुआ मन एक वाक्य रटने लगता है। जब अतिभय हो जाता है, मानों घृणा हो जाती है, घृणा के साथ में क्रोध होता है तो उस समय मन और कार्य नहीं करेगा। जिसके कारण वह भय और क्रोध की मात्रा तथा जिसके कारण ममता की मात्रा आयी है वह उसी रटन्त को रटने लगता है। उसी में उसका मस्तिष्क प्रभावित होने लगता है। उसी में रमण करता है, तो इसको राष्ट्रीय उन्माद कहा जाता है। कोई तो यह कह देता है कि वह राजा रहा होगा। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं है, उसे तो भय है।

जिस स्थान में घृणा, मोह और क्रोध की मात्रा तीनों जब एक गृह में प्रविष्ट हो जाते हैं, एक ही धारा में रमण कर जाते हैं तो मन के ऊपर जा करके तीनों का आक्रमण होता है। यदि तप के कारण मन बलिष्ठ होता है तो वह उनका आक्रमण सहन कर जाता है।

यदि वह मन प्रकृति के आवेशों में विशेषकर है, तमोगुण में है उस समय जब तीनों की छाया का मन के ऊपर प्रहार होता है, तो मन इतना नीचे दब जाता है कि उनके वाक्य प्रकट नहीं करता। वह

उसी को रटने लगता है। इसके कारण मोह, क्रोध और घृणा एक स्थली में आ गयी हैं। जिसके कारण तीनों की एक ही ध्वनि होने लगती है। इसी को वह श्रवण करने लगता है। इसको हम राष्ट्रीय उन्माद कहते हैं।

तमोगुणी उन्माद :जैसे एक मानव किसी वस्तु पर मोहित हो गया, मोहित होने के पश्चात् यदि उसे वस्तु प्राप्त नहीं हुई, शरीर में मोह और क्रोध के कारण अस्वस्थ विचार बन गये हैं, उन्हें अपनाने की प्रवृत्ति बन गयी है तो उसके अवशेष कुछ परमाणु मस्तिष्क में जाकर मन के क्षेत्र में अङ्कुरित हो जाते है। वह मन मानव के मस्तिष्क की उस अग्नि की आभा में रमण करने लगता है, वही ध्वनि आने लगती है, उसको कामोन्माद कहा जाता है तथा तमोगुणी उन्माद माना जाता है, इस उन्माद में कोई वास्तविकता नहीं होती।

केवल यह अपनाने की प्रवृत्ति में और परमाणुओं की ऊर्ध्वगति मन के क्षेत्र में रमण करने लगती है। मन की अति तृष्णा बलवती हो जाती है। उस तृष्णा की सीमा से अति हो जाती है। उस काल में उस मानव को नाना प्रकार के तमोगुणी उन्माद प्रारम्भ हो जाते हैं। इसी प्रकार जिस भी क्षेत्र में जाओगे उसी क्षेत्र में तुम्हें उन्माद ही उन्माद दृष्टिपात आयेंगे। उस समय मानव प्रायः यह कहता है कि यदि वस्तु प्राप्त न होगी तो मेरा शरीर अग्नि में भस्म हो जायेगा। जिसके कारण जो अग्नि उत्पन्न हुई है यदि वह वस्तु उसे प्राप्त हो जाती है तो अग्नि शान्त हो जाती है और शान्त हो करके उसका वह तमोगुणी उन्माद समाप्त हो जाता है।

गुण से गुणी कदापि पृथक् नहीं होता। मन और प्राण का विशेष विभाजन होने पर नाना प्रकार के अवशेष उत्पन्न होते हैं। अति-तृष्णा के उत्पन्न होने पर वासना की उत्पत्ति होती है। यदि मानव को और कोई कार्य न रहकर केवल भोग-विलास ही रहते हैं तो उनको उन्माद विशेषकर आने लगते हैं। ऐसे प्राणी तमोगुण में रमण करते हैं। तमोगुणी उन्मादों में भूत-पिशाच योनियों के अवशेष स्वप्न में भी उनको दृष्टिपात आने लगते हैं क्योंकि ब्रह्मचर्य की गति ध्रुव (नीचे) बन गयी है, ऊर्ध्व नहीं रही। नेत्रों में प्रसारण शक्ति न रही। केवल धुरव गति हो करके ब्रह्मचर्य के परमाणुओं का आलस्य और प्रमाद में तरिंगत होकर और दम्भ, जब तीनों एक स्थान में आ जाते हैं तो भूत-प्रेत बन करके उनके समीप आने लगते हैं।

रोगोत्पति का मूल कारण मन ही है

अश्वनी कुमारों ने आगे कहा है। हमारा तो मन्तव्य यह है कि यदि मानव इस मन की कल्पना को त्याग देता है और यह मन नहीं होता तो शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं होता। संसार में मानव को जितने भी रोग हैं, उनमें कुछ रोग ऐसे हैं, जो शारीरिक रोग हैं। विशेषकर जो रोग इस प्रकार के हैं जो मानसिक तत्त्वों से सम्बन्धित हैं, मानसिक विचार धाराओं से उनकी विचारधारा सम्बन्धित रहती है। उसी में वह परिणत रहता है। आगे उन्होंने यह निर्णय दिया कि जैसे मन में यह धारणा बनी है कि अमुक स्थान पर एक देव रहता है, जो मानव को भक्षण कर जाता हैं तो उसी का भय उस मानव के मन में विराजमान हो जाता है, उसी का भय बन जाता है। भय बनने

के साथ-साथ मोह भी आ जाता है कि उस स्थान पर जाना था।

जब मोह के स्थान में भय आता है तो यह जो प्राण है यह सुचारु रूप से कार्य नहीं कर पाता। जब सुचारु रूप से कार्य नहीं बन पाता तो जो आहार करता है, वह रस नहीं बनाता। वह जो जल आदि पान करता है, वह सोम बन करके नहीं जाता। क्योंकि भय और मोह के कारण अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जो उसे अमृत नहीं बनने देती।

इस मानव शरीर में मन और प्राण दो ही वस्तुएँ है; एक विभाजन करने वाला है, एक विभक्त होने वाला है। दोनों में (असन्तुलन) गृहक्रतान हो रहा है। जब ये ऊँचा कार्य नहीं कर पाते तो वह मानसिक क्या शारीरिक रोग बन जाते हैं।

बहुत से रोग इस प्रकार के हैं, जो मानव अपने मन के कारण उत्पन्न कर लेता हैं, इस मन की इच्छा पूरी करने के लिये; मन की इच्छा पूर्ण नहीं होती परन्तु इसकी इच्छा पूर्ण करता रहता है। यह तमोगुणी अवशेषों को उत्पन्न कराता है। वह ऐसे पदार्थों का पान करता है ऐसे आवेशों से उसे यह प्रतीत नहीं होता कि यह क्या है? परन्तु जब आवेश समाप्त हो जाता है, उस समय ज्ञान होता है, विवेक होता है। मैं इस कार्य को न करता तो मेरे हृदय में इतने निराशा के अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकते थे, इतने घृणा के अवशेष उत्पन्न नहीं हो सकते थे। मैंने यह उस काल में नहीं विचारा।

नास्तिकता भी एक मानसिक रोग है

एक मन वह है, जो परमात्मा को अपने से दूर कर देता है। जब

उसे इस संसार से निराशा आती है, नाना सम्बन्धों से घृणा होती है, वर्ण और धर्म दोनों से घृणा आ जाती है, उस समय वह परमात्मा को अपने से दूर कर देता है। मानो वह अपनी आभा में इतना आभायित हो जाता है कि वह संसार को न होने के तुल्य स्वीकार करता है और उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता। वह केवल संसार को इतना मिथ्या ज्ञान में ले जाता है, इतना मिथ्यावाद में चला जाता है कि उस मानव को नास्तिक कहते हैं। नास्तिक इसलिये कहते हैं कि उसके मन की जितनी गतिया थीं, सर्वका विनाश करता हुआ वह नास्तिक कहलाता है।

नास्तिक दो प्रकार के होते हैं। १-एक नास्तिक वह है, जिसको संसार का कुछ ज्ञान ही नहीं है। २-दूसरा नास्तिक वह है, जे संसार को जानता रहता है, परन्तु उसमें विश्वास नहीं हो पाता। अन्तिम परिणाम यह होता है कि वह इस संसार को अपने आप में स्वीकार करता हुआ नास्तिक कहलाता है। उसे संसार का ज्ञान है, प्रकृति का ज्ञान हो गया और चेतना का भी ज्ञान हो गया। अपने मन में चेतना को स्वीकार करता है परन्तु उसके द्वारा तप न रह करके नास्तिक कहलाता है। यदि उसके द्वारा तप होता तो वह नास्तिक न बन पाता।

जो नास्तिक बना उसका उन्माद कहाँ चला गया? उन्माद उनको होता है, जो प्रकृतिवाद में भोग-विलास में अति तल्लीन रहते हैं। उनके द्वारा ये उन्माद विशेषकर होते हैं जिनके मन को (करने के लिये) संसार का कार्य नहीं होता। यदि परमात्मा का चिन्तन उसके

मुखारविन्द पर है, रसना पर है तो उसको किसी प्रकार का उन्माद नहीं होता। वे परमात्मा के उन्माद में रमण करते रहते हैं, वे सत् के उन्माद में चले जाते हैं। उन्हें विवेक उत्पन्न होता है।

अब मन ज्ञान में इतना रत हो जाता है कि यह प्रकृति क्या है? यह तो निर्लेप है। जब प्रत्येक वस्तु में रस को जानने लगता है, रहस्य की उत्पति करने लगता है और रहस्य प्राप्त नहीं होता प्रत्येक वस्तु उसे निलेंप प्रतीत होने लगती है, तो उसके पश्चात् बुद्धि और मन दोनों चित्त में रमण कर जाते हैं। आत्मा के प्रकाश में जाकर उसे विवेक की उत्पत्ति होती है। उसे विवेकी पुरुष कहते हैं। ज्ञान उसके समीप है। परमात्मा के प्रकाश में वह रमण कर रहा है।

उसे ऋषित्व कहते हैं क्योंकि वह संसार की प्रत्येक वस्तु को जान करके परमात्मा का ही ध्यान करता है। वह प्रकृति पर अपना आधिपत्य करता हुआ अपने विवेक में, आत्मा के प्रकाश में यह मन चला जाता है, प्राण भी चला जाता है। और प्राण एक सूत्र में आकरके परमात्मा के समीप चले जाते हैं।

चिकित्सा

जब मन और प्राण को एक सूत्र में लाने का योगी प्रयास करता है, तो उस समय इस मन को नियन्त्रण में लाया जाता है। यदि यह नियन्त्रण में नहीं आता (है) तो योगी बारम्बार प्रयत्नशील रहता है। वह प्रयत्न करता है। क्योंकि मन और प्राण को एक सूत्र में लाने का नाम योग है। मन को ज्ञान के द्वारा शक्तिशाली बनाना चाहिये।

गायत्री सिद्धि

परमात्मा के सूत्र में पिरोते हुए गायत्री छन्दों में पिरोते हुए, जब मन में ऐसे अवशेष उत्पन्न कर लेता है कि मैंने लाखों गायत्रियों का जपन किया है। मेरे मन में कुछ ऐसे चित्रण आ रहे हैं, वहीं शब्द उसमें रमण कर रहे हैं। मन उनकों अपने मस्तिष्क में अंकित कर लेता है।

क्योंकि गायत्री में २४ अक्षर होते हैं। चौबीस तत्त्वों से हमारे शरीर का निर्माण होता है। एक तत्त्व के आधार पर एक-एक आभा में प्रत्येक शब्द रमण कर रहा है। उस शब्द को जब प्रत्येक तत्त्व अर्पित कर देता है, तो जहाँ से भी उसको सुगन्ध आती है, वहीं गायत्री की आती है, गायन की आती है, प्रभु के चिन्तन की आती है। तब वह महापुरुष गायत्री सिद्ध कर लेता है।

उन्मादों का उपचार

गायत्री सिद्ध करने का अभिप्राय यह है कि मन द्वारा इसकी रटन होने लगती है। उसी गायत्री मन्त्र के द्वारा मन का इतना आवेश होता है कि मन उस उन्माद के द्वारा गायत्री का जपन करता है। वहाँ से उसका उन्माद समाप्त होने लगता है क्योंकि वह उन्माद उस गायत्री मन्त्र वाले उन्माद से निम्न श्रेणी का है। जहाँ उससे ऊँची वार्ता मन की प्रारम्भ हो जाती है, वहाँ से उन्माद समाप्त होने लगता है। इस प्रकार राष्ट्रीय उन्माद तथा तमोगुणी उन्माद समाप्त होने लगता है।

निष्कर्ष यह है कि हमें उन्मादों को त्याग देना चाहिये। नाना प्रकार के उन्माद गायत्री छन्दों के रटन्त करने से, परमात्मा का

चिन्तन करने से, वेदों की ध्वनि करने से, मन को तपाने से, मन और प्राण को एक तारतम्य में लगाने से समाप्त हो जाते हैं।

ये उन्माद, ये रोग उस शरीर में हुआ करते हैं, जहाँ मन और प्राण सुचारू रूप से सर्वत्र (स्थानों) में कार्य करते हैं, उस समय तक कोई रोग नहीं होता। परन्तु जब मन और प्राण दोनों का विभाजन होकर इतना दूर चला जाता है कि मन तो उन्माद में चला गया और प्राण श्वासों की गति में चला गया, वह अशुद्ध परमाणु ला रहा है, तो उस समय मानव का शरीर रोगी हो जाता है और मन इतना निम्न श्रेणी को चला जाता है जिसे भावावेश कहते हैं, मानो जिसको घृणा कहते हैं। अपने मन में स्वयं जीवन से, उसके कार्यक्रम से घृणा हो जाती है और वह जो घृणा है, वह मानव की मृत्यु का मूल कारण बना करती है। (अट्ठाईसवाँ पुष्प १६-११-७४ ई.)

कण्ठ कटने पर उसे जोड़ने की औषधि

(१) १-कुक, २-काका अनी, ३-त्रिगाढ़, ४-रेशिमन, ५-कांचन, ६-सोम-मुनि नाम की छः औषधियों को तपा कर पात बनाया जाता है। जिस मानव का कण्ठ पृथक् हो गया हो, उसको ज्यों का त्यों लगा कर इस पात का लेपन करने से वह एक ही दिन में सुरक्षित हो जाता है। (बीसवाँ पुष्प १४-१०-७० ई.)

(२) १-शङ्खा हुली (शङ्ख पुष्पी) २-श्वेता तथा ३-अप्रीति इन तीनों को तपा कर पृथ्वी के गर्भ में छः मास तक रखा जाता है। इसको कण्ठ पर लगाने से वह पूर्ववत् हो जाता है।

इस औषधि को अश्विनी कुमारों ने १२ वर्षों तक अध्ययन करके

खोजा था। जब ऋषि दधीची के कण्ठ को इन्द्र ने पृथक् कर दिया था, तो इन्होंने इसका लेपन करके पुनः जोड़ दिया था। (बीसवाँ पुष्प २९-३-७३ ई.)

(३) १-मुड़ाशेष, २-चेताम्बरी, ३-मनुकेता, ४-कुरीचनी, ५-अनुवासन, नाना औषधियों को ला करके अग्नि में तपाया और पात बना करके तीन समय लेपन से वह कण्ठ ज्यों का त्यों बन गया। (अट्ठाईसवा पुष्प १६-११-७४ ई.)

शिव का अपमान करने पर जब सती ने शरीर त्याग दिया तो शिव के गणों ने दक्ष के कण्ठ को काट कर शान्त कर दिया। वहाँ पर अश्वनी कुमारों ने कण्ठ को पुनः जोड़ कर नाना प्रकार की औषधियों का लेपन करके कण्ठ को ज्यों का त्यों कर दिया था। (बीसवाँ पुष्प)

रोग का निदान करने की विधि

निदान करने के लिये यह देखना होता है कि १-मानव का श्वास कैसा है? २-उसके नेत्रों की गति किस प्रकार की है? ३-रसना किस प्रकार की है? ४-हृदय किस प्रकार का है? ५-उसकी नस-नाड़ियाँ किस प्रकार चल रही हैं?

१-यदि नेत्रों में असर हो तो जानो कि उसके ब्रह्मचर्य का सुकृत नष्ट होने जा रहा है।

२-यदि नेत्रों में हरियाली हो तो जानो कि उसका ब्रह्मचर्य जमा रहा है। यदि बाहर जाता है तो बहुत पतला बन कर जाता है।

३-यदि उसकी नासिका का अग्रभाग विकृत हो जाता है तो

जानो कि उसके ब्रह्मचर्य में वायु का प्रकोप आ गया है।

४-यदि रसना में तिक्तपन आ गया है, नीलापन आ गया है तो जानो कि उसमें कफ की प्रतिभा अधिक आ गयी है।

५-यदि उसकी तीन प्रकार की नाड़ियों में सोभान और मान्यवत आ गया है तो मानो कि उसमें पित्त की प्रधानता अधिक हो गयी है।

इस तरह अच्छी प्रकार निदान करने के पश्चात् हमें यह जानना होगा कि आयुर्वेद का हम कितना, किस प्रकार अध्ययन कर सकते हैं। उस आयर्वेद की प्रतिभा है, हमें उसका निदान करना होगा। (तेरहवाँ पुष्प १७-१-७० ई.)

२ द्वतीय अध्याय-मातृ शक्ति

समाज-निर्माता :माता की महत्ता

यदि कोई माता अपने पुत्र या पुत्री का नेतृत्व नहीं कर सकती तो वह माता कहलाने की अधिकारी नहीं। (आठवाँ पुष्प १०-१२-६६ ई.)

जब माता अपने बालक का लालन-पालन करती है तो माता के विचारों में व्यापकता और धर्म होना चाहिये। माता के गर्भस्थल में बालक के आते ही वह राष्ट्र की महान् सम्पत्ति बन जाती है, उस पर माता का अधिकार नहीं होता। नामकरण संस्कार से उसे माता का बालक उच्चारण किया जा सकता है परन्तु कर्त्तव्य की वेदी पर उसका बालक नहीं। वह सर्व राष्ट्र का पुत्र कहलाता है। इस प्रकार जब माता के हृदय में शान्ति और कर्त्तव्यवाद के विशेष अंकुर होते हैं तो उस माता को अज्ञानता नहीं आती। वह सदैव अपने कार्यों में दक्ष रहती है, विचित्र रहती है। कर्त्तव्यवाद में उसका धर्म निहित रहता है। यही विवेक का आदर्श है। (नौवाँ पुष्प २-३-६२ ई.)

जब कोई कन्या गृहस्थ की अधिकारी होने से पूर्व ही गृहस्थ में प्रवेश कर जाती है तो वह मनोकामनाओं की चंचलता में तल्लीन रहती है। वह ऊँचे बालक को जन्म नहीं दे सकेगी बल्कि चंचल बालक को जन्म देगी। वह बालक युवा होकर कन्याओं पर आक्रमण करता है। (ग्यारहवाँ पुष्प ९-११-६८ ई.)

माता तपकर प्रिय बालक को जन्म देती है। वह सोचती है कि यह तेरा पुत्र है किन्तु वह पुत्र तो समाज का है, राष्ट्र का है, संसार

का है और यहाँ तक कि अन्तरिक्ष का है। माता जन्म दे सकती है किन्तु मृत्यु को प्राप्त नहीं कर सकती है क्योंकि उसका अधिकार कुछ नहीं रह पाता। यह तो प्रभु की सम्पदा है, जनता जनार्दन की सम्पदा है। जब माता अपने कर्त्तव्य का पालन करती है, तो उसका जीवन तथा उसकी महत्ता सूर्य के समान प्रकाशमय हो जाती है। (सातवाँ पुष्प १२-८-७० ई.)

यदि संसार को ऊँचा बनाना है तो माता को ऊँची सन्तान को जन्म देना है। जब माताएँ श्रेष्ठ होती हैं तो श्रेष्ठ आत्माएँ स्वयम् जन्म ले लिया करती हैं। जैसे श्रेष्ठ कौशल्या ने राम को जन्म दिया। स्नेहवती माता ने दयानन्द जैसी आत्मा को जन्म दिया। रूनी रानी ने शंकराचार्य की आत्मा को जन्म दिया। यह संसार तभी ऊँचा बनता है जब माताएँ सुचरित्र तथा पवित्र होती हैं। यदि उसने अपने गर्भस्थल को ऊँचा, महान्, पवित्र न बनाया तो उससे उत्पन्न हुआ पुत्र उसी की जाति पर कुदृष्टि रखकर उसे दुःखी करेगा। (पन्द्रहवाँ पुष्प १३-२-७१ ई.)

माता मन्दालसा ने अपने पुत्रों को गर्भ में ही ब्रह्मवेत्ता बना दिया था। (चौदहवाँ पुष्प १२-८-७० ई.)

वे ही माताएँ उच्च हैं जो आत्रेय, नचिकेता, उद्दालक, सोमपान, गरुड़, कागा, मार्कण्डेय, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य और विभाण्डक जैसों को जन्म दें। कीड़ों की भाँति बालक होने पर माता का गर्भस्थल कलंकित हो जाता है। (बारहवाँ पुष्प मार्च सन् १९६४ ई.)

राम, वशिष्ट जैसे महापुरुषों को जन्म देने वाली माताएँ ही होती

हैं जिनमें राष्ट्रीयता तथा मानवता दोनों ही समीप होती हैं। जो माता अपने गर्भाशय की आभा को जानकर उसको ऊँचा बनाना जानती है, राष्ट्रीयता का स्वार्थ उसमें होता है। परन्तु मानवता की विश्वासी माताएँ मानवता की शिक्षा देती हैं। महत्ता वाला संकल्प धारण करके वह माता और भी सौभाग्यशालिनी बन जाती है। वेद का ऋषि कहता है कि जिस गृह में माता का अपमान होता है, पुत्र माता का निरादर करता है, वह गृह-गृह न रहकर श्मशान भूमि बन जाता है। (उन्नीसवाँ पुष्प २०-३-७२ ई.)

समाज में जब माताएँ ऊँची बन जाती हैं तो पुरुष स्वयँ ऊँचे बन जाते हैं। जैसे राजा के ऊँचा हो जाने पर प्रजा भी ऊँची हो जाती है। इसी प्रकार माता का जीवन अनुशासन में निहित होने से पुत्र का स्वयम् उत्थान हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्र और समाज सहकारिता और सहयोग से ही ऊँचे बनते हैं, इसमें माताओं का सहयोग अनिवार्य है।

माता को सर्वोच्च कहा गया है, क्योंकि उसके गर्भ से सबका जन्म होता है। गर्भस्थल में शरीर के सूक्ष्म-सूक्ष्म यन्त्र माता के भाव से ही बनते हैं। जिन द्रव्यों से इनको बनाया जाता है, वे माता के पास हैं। किन्तु (उन) द्रव्यों में बनाने की शक्ति नहीं, उनको बनाने वाला तो प्रभु ही है। यदि माता माँस भक्षण करती है तथा रसना के स्वादों में रहती है, तो उसके तमोगुणी परमाणु होंगे और बालक भी तमोगुणी होगा। माता के श्रृँगार तथा मानवता पर तभी आक्रमण होता है, जब वह अपनी मानवता और स्वरूप को त्याग देती है। (नौवाँ

पुष्प २९-७-६७ ई.)

जब माता तपस्विनी बनकर मन, वचन, कर्म से पापों से रहित हो जाती है तो ऊँचे पुत्रों को जन्म देती है। जब माता शृँगारों में प्रदीप्त होकर कीड़े जैसे बालकों को जन्म देती है तो वही उसके शृँगार को हनन करने वाला बन जाता है। वह माता सौभाग्यशालिनी है जो प्रकृति का (केवल शरीर का) शृँगार न करके मन, वचन और कर्म का शृँगार करती है।

पुत्र को उत्पन्न करने वाली माता तो अनेक होती हैं, परन्तु वास्तविक माता तो वही है जो इसका पालन करके, निर्माण करके (पुत्र को) महान् बनाती है।

यदि कोई बालक कुकर्मी और व्यभिचारी हो जाता है तो यह प्रभु का दोष नहीं है। इसमें बालक के कर्मों का तो दोष है ही, माता का भी दोष है कि उसने उसका अच्छी प्रकार निर्माण नहीं किया, अतः वह दुर्भाग्यशालिनी कहलाती है। परमात्मा ने तो बालक के तन्तुओं का निर्माण माता के भावों से ही किया है। यदि आज माता वैज्ञानिक को जन्म देती है तो वह भी सुन्दर है। यदि वह आध्यात्मिक बालक को जन्म देती है तो और भी सुन्दर क्योंकि भौतिक विज्ञानवेत्ता नास्तिक हो जाता है। परन्तु आध्यात्मिक विज्ञानवेत्ता आत्मा का श्रद्धालु बन करके ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। (नौवाँ पुष्प २९-७-६७ ई.)

माता अपने पुत्रों का निर्माण करती है। वह उन्हें ओजस्वी, पवित्र और महान् बना देती है। यदि माता सुन्दर हो तो मानव का शरीर

किसी भी काल में रुग्णता को प्राप्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि माता अपने पुत्र के आचार और विचार दोनों बना देती है। माता का आचार-विचार यदि पवित्र है तो बालक का भी पवित्र होगा। वह ओजस्वी बन जायेगा। यदि माता के आचार-विचार भ्रष्ट हो तो बालक के भी उसी प्रकार परिपक्व हो जाते हैं। (बीसवाँ पुष्प २४-९-७० ई.)

वेद कहता है कि हे माता! तेरा जीवन संसार में बड़ा पवित्र है, उसमें एक उज्ज्वलता है। तू अपने जीवन के महान् से महान बना सकती है। तुझे उस महत्ता को लाना (बारहवाँ पुष्प ३-१०-६४ ई.)

यदि हमें कुटुम्ब बनाना है तो माताओं को जगत् का कुटुम्ब बनाना है। उसे ऐसे वालक को जन्म देना चाहिये कि वह जहाँ जाये, अपनी तथा अपनी माता की कुशलता की प्रसिद्धि करता चला जाये। जहाँ ऐसा बुद्धिमान बालक जाता है, वहीं माता की कुशलता भी जाती है।

मानव तीन प्रकार के सँस्कार लेकर उत्पन्न होता हैः

१ पूर्व जन्म के संस्कार।

२ माता के पैतृक संस्कार।

३ मानव समाज तथा वातावरण के संस्कार।

यदि पूर्व जन्म के संस्कार भी पवित्र हों, माता-पिता के संस्कार भी पवित्र हों तथा मित्र मण्डल भी पवित्र हो तो वे मानव बड़े सौभाग्यशाली होते हैं। यदि पूर्व जन्म के संस्कार श्रेष्ठ हों, किन्तु माता के पैतृक संस्कार सुन्दर न हों तो वे संस्कार दब जाते हैं। कुछ समय के पश्चात् उनका प्रादुर्भाव होता है। यदि समाज में मित्रमण्डल

भी अशुद्ध दुरात्मा हो तो विरले ही ऐसे होते हैं, जो समाज की पद्धतियों से दूर चले जायें। ऐसे प्राणी सूक्ष्म ही होते हैं। वास्तव में माता के पैतृक संस्कार पवित्र होने चाहिये क्योंकि संसार में दुराचार और दुराग्रह करना सुन्दर नहीं होता। इसमें मानव के जीवन की हानियाँ होती हैं जिससे प्रकृतिवाद तथा वायुमण्डल अशुद्ध होता है।

तीन माताएं

माताएँ तीन होती हैं।

१ एक जननी माता जो भौतिक माता है।

२ दूसरी पृथ्वी माता जो यहाँ उत्पन्न हो जाने पर पालन-पोषण करती है।

३ तीसरी प्रभु माता है। जो हमें मोक्ष में धारण करती है।

यह भौतिक जननी माता यदि चाहे तो गर्भाशय में ही पुत्र को मोक्ष के द्वार पर ले जा सकती है। गर्भ में ही वह गायत्री का जप स्मरण करा देती है, यह इसका महत्व है। प्रभु-माता से इसमें हीनता यह है कि इससे जन्म लेकर पृथक् हो जाने पर हमें कभी क्षुधा की इच्छा होती है, कभी कुछ अन्य। किन्तु प्रभु माता की गोद में जाकर यह सब कुछ नहीं। श्रेष्ठ तथा महान् माता जब संसार में आती है, उस समय प्रभु उसे गर्भाशय में उपदेश देता है, "हे माता! तुझे मैंने देवकन्या की योनि प्रदान की है। तू संसार में जा और ऐसा महान् बालक उत्पन्न कर जो मेरी बनायी सृष्टि को पवित्र कर दे। जो मेरी बनायी हुई। सृष्टि को स्वर्ण की रचना के तुल्य सुन्दर बना दे। जो मानव उसके सम्पर्क में आये, वह भी महान् बनता चला जाये।"

(पाँचवाँ पुष्प ४-६-६२ ई.)

माताएँ तीन प्रकार की होती हैं

१ जन्म देने वाली माता।

२ पृथ्वी माता।

३ गौ माता।

१ जन्म देने वाली माता वह है जिसके गर्भस्थल में हमारा जीवन पनपता है। यह माता परमात्मा के कितनी निकट है। उसके जरायुज में एक बिन्दु जाता है उसी से पुत्र की उत्पत्ति होती है। गर्भस्थल में परमात्मा ने उस बिन्दु से इस शरीर का निर्माण कर दिया।

२ माता के गर्भ से पृथक् होकर बालक पृथ्वी माता पर आता है। वह इसे नाना वनस्पतियाँ तथा अन्न देती है, खनिज पदार्थ और खाद्य पदार्थ देती है, इस माता के गर्भ में आकर कोई प्राणी अध्यात्मवेत्ता बन जाता है, कोई वैज्ञानिक बनकर खाद्य-पदार्थों, खनिज पदार्थों, सूर्य, चन्द्र आदि का अनुसन्धान करता है।

३ तीसरी माता गौ माता है जो हमें दुग्ध देती है। उसके दुग्ध को पान करके बलिष्ठ, ओजस्वी और ब्रह्मचारी बनते हैं। जिस राजा के राष्ट्र में गऊओं की रक्षा होती है, वहाँ किसी प्रकार की हानि नहीं होती। पूजा कहते हैं सदुपयोग को। गऊ की पूजा यह है कि उसे खाद्य-पदार्थों का अच्छा पान कराया जाये और उससे दुग्ध लिया जाये। दुग्ध राष्ट्र की महान् सम्पत्ति है।

माता की पूजा है, माता की सेवा करना, उसे नाना सुविधाएँ

देना। हमें उसका श्रद्धालु बन करके उसके कष्ट को निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिये। (आठवाँ पुष्प ७-१०-६६ ई.)

प्रथम माता वह जननी है जिसके गर्भ से हमने जन्म धारण किया है। द्वितीय माता यह पृथ्वी है, जहाँ हम प्रथम माता के गर्भ से आकर आश्रय पाते हैं। यह हमारा पालन पोषण करती है और हमें ऊँची स्थली पर पहुँचाने वाली है। हमें उस विज्ञान को जानना चाहिये कि किस प्रकार यह हमारा पालन-पोषण करती है, कौन से पदार्थों से हमारा आदर करती है। बुद्धिमान इसको जानने लगता है।

तृतीय माता हमारी संस्कृति है। जब बुद्धिमान संस्कृति का आदर करता है तो संस्कृति उसकी गणना उन देवताओं में करा देती है जिन्होंने अपने को ऊँचा बनाया है। जब हम संस्कृति का आदर करते हैं तो वह हमको अपने में धारण करके हमारे अन्तः करण को पवित्र बना देती है। इस प्रकार माता हमारे अन्तः करण में विराजमान होकर हमारी गणना देवताओं में करा देती है। (दसवाँपुष्प २६-७-६३ ई.)

माताओं का सम्मान

हमें ऋषियों के गौरव को अपनाकर माताओं के गौरव को ऊँचा करना चाहिये जिससे महापुरुषों का जन्म हो सके। (पाँचवाँ पुष्प १९-८-६२ ई.)

माता को नमः। कीड़ों को उत्पन्न करने वाली माता को नहीं, किन्तु उस माता को नमः जो महापुरुषों को जन्म देती है। माता हमारी पालना करती है, अपने गर्भ में धारण करती है जहाँ हमारा

जीवन पवित्र बनता है। माता अपनी धारणाओं से, अपने संकल्पों से इस संसार में वीर बालक, योगी तथा ऋषियों को जन्म देती है। (आठवाँ पुष्प १४-११-६३ ई.)

हे माता ! तू कितनी पवित्र है। परमात्मा ने तुझे अमूल्यताएँ दी हैं, उन्हें शान्त न कर। आज के संसार को केवल तू ही पवित्र बना सकती है। वेद ने तुझे दुर्गा कहा है, तू दुर्गुणों को शान्त करती है। दुर्गुणों के शान्त होने पर हमारा हृदय पवित्र बनता है, हमें विवेक होता है; हम राष्ट्र के पुजारी बनते हैं, ज्ञान-विज्ञान के पुजारी बनते हैं और तेरे गर्भ को ऊँचा बनाते हैं। जैसे पारामुनि और उनकी पत्नी रेन्धवी के पुत्र महर्षि धुरेन्द्र ने किया तथा भगवान् राम ने किया। (पाँचवाँ १०-४-६४ ई.)

हे माता ! तू उस पुत्र को जन्म न दे जिससे संसार में कोई लाभ न हो, ऐसे कीड़ों को जन्म न दे। हे माता! तू ऋषि बालक को जन्म दे, तू राष्ट्र के राजा को जन्म दे। तू ऐसे बालक को जन्म दे जो तेरे गर्भाशय को ऊँचा बनाता चला जाये।(सातवाँ पुष्प १७-७-६५ ई.)

हे माता ! तू शृँगार में परिणत हो परन्तु लिप्त न हो। जिससे तेरे गर्भ से उत्पन्न होने वाला पुत्र 'देवी-यज्ञ' पर आक्रमण करने वाला नहीं होना चाहिये। तू अपने जीवन को याग रूप में स्वीकार कर, तेरा प्रत्येक अंग याग है। तेरे प्रत्येक श्वास के साथ जब 'ओ३म्' का जाप चलता है तो तेरे गर्भस्थल में जिस बालक का निर्माण होता है, उसके प्रत्येक अंग में तेरी 'ओ३म्' की ध्वनि जाती है।

आधुनिक जगत तो ऐसा बन रहा है कि माताओं ने उस श्रृँगार को अपनाना आरम्भ कर दिया है, जिस श्रृँगार को पुरुष ने केवल भोगविलास का साधन बना लिया है।

माँ ! तू पुनः से उस श्रृँगार को अपनाने का प्रयास कर जिससे तेरी महत्ता ऊँची बने। तेरा जो शरीर रूपी याग है, उसके लिये यह मानवीय दृष्टि, याग बन करके रहे, भोग विलास का साधन बन करके न रहे।

सतीत्व की महत्ता

देखो । रावण का कितना ऊँचा साम्राज्य था जिसके राष्ट्र में सूर्य अस्त नहीं हो पाता था। परन्तु माता सीता को वह कलिंकत नहीं बना पाया क्योंकि उसका तप था, उसकी मानवता थी, उसका सतीत्व था जो माता का वास्तविक भूषण है। (तेईसवाँ पुष्प ३-५-७३ ई.)

माताओं की सुन्दरता इस त्वचा को सजाने में नहीं क्यांकि यह तो पृथ्वी की बनी हुई है पृथ्वी में मिल जायेगी। तेरी सुन्दरता तो वह है कि तेरे कण्ठ में आस्तिकता हो, हृदय में दया और उदारता हो, तेरा मन तेरे वश में हो। (सातवाँ पुष्प १२-७-६२ ई.)

हे माँ ! तू पवित्र बन। हे माँ ! तेरा आहार पवित्र होना चाहिये। हे माँ! जब तू अपने गर्भस्थल में पुत्र का निर्माण, पुत्र का निर्माण तो प्रभु करता है, पालन, तू करती है। माता ! जब तुम पालन करती हो, उस समय भक्ष्य-अभक्ष्य तुम्हारा पवित्र होना चाहिये। हे माँ ! जो संस्कार तू अपने गर्भस्थल में परिणत कर देती है, वे संस्कार विद्यालयों में प्राप्त नहीं होते। माता ! ऐसा आयुर्वेद कहता है, ऐसा

वेद का वचन कहता है। परन्तु यह विद्या केवल शब्दों में नही; यह विद्या तो वेदों में परिणत होती है, यह विद्या तो अनुसन्धान-वेत्ताओं से प्राप्त होती है।

हे माँ! आज वह तेरे गर्भ से उत्पन्न होने वाला जो बालक है, (उसकी) तू माँ है, लक्ष्मी है। जितनी भी पुत्रियाँ है वे सब लक्ष्मी हैं। कोई ब्रह्मचारी ऐसा गर्भ से उत्पन्न नहीं होना चाहिये जो तेरे शृंगार को भ्रष्ट करने वाला बन जाये। क्योंकि माता को कुदृष्टिपात करने वाला मानव ही तो होता है। वह उस काल में होता है जब मानव निज मानवीयता में ऊँचा नहीं होता, उसका विचार ऊँचा नहीं होता, उसके संस्कार ऊँचे नहीं होते।

वह माँ भरण करने वाली है संस्कारों का। उन्हें विद्या प्रदान करने वाली ही माँ जब दूषित हो जाती है तो इस संसार को ऊँचा कौन बना सकता है?

माता की योग्यता

आदि ऋषियों ने कहा है कि माँ ऐसी होनी चाहिये, जो आयुर्वेद को जानने वाली हो। माँ ऐसी होनी चाहिये, जो अपने पुत्र को षोडश वर्ष की अवस्था तक ऊँची शिक्षा प्रदान करने वाली हो। उसके पश्चात् माँ हृदय को हृदयग्राही बना करके उज्ज्वल बना देती है। यह पवित्रता इस संसार में होनी चाहिये। (चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

माताओं को विद्या के अध्ययन का अधिकार

प्राचीन काल में ऋषिकन्याएँ भी अनुसन्धान किया करती थीं; अनुसूया तथा अत्रिमुनि एकत्रित बैठकर अनुसन्धान किया करते थे।

(उन्नीसवाँ पुष्प १८-३-७२ ई.)

महाभारत के पश्चात् कुछ काल ऐसा आया जिसमें मनोवान्छित कल्पना करली कि कन्याओं को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, गायत्री (आदि) छन्दों को पठन-पाठन का अधिकार नहीं है।

परन्तु हमारे यहाँ ब्रह्मवेत्ताओं के समाज में परम्परा का काल ऐसा नहीं था। जो मानव वेद की आभा और प्रतिभा को जानता है वही गायत्रीगान को जानता है। यदि माताएँ गायन न गा सकेंगी, तो कौन गायेगा ? क्योंकि माता के गर्भ से ऋषि-मुनियों का जन्म होता है।

ऋषि-मुनियों का जन्म माता की प्रेरणा से होता है। माताएँ प्रायः हृदय की कोमल होती हैं, उनका हृदय नम्र होता है। जब वह ब्रह्मविद्या में कोमल होकर प्रविष्ट होती हैं, तो ब्रह्म-विद्या का मिलान हो करके, उनका हृदय भी इसी प्रकार का कठोर भी बन सकता है। क्योंकि वह अपने अपनेपन में ब्रह्म को साक्षात् करने वाली बनकर अपने जीवन में सदैव सफलता को प्राप्त हुई है। (छब्बीसवाँ पुष्प ३-१२-७३ ई.)

सूर्य-सिद्धान्त

प्रश्न : किसी माता का पुत्र यदि गृह से पृथक् हो जाये, तो किस प्रकार की प्रकृति में जाने के पश्चात् इस प्रकार हननता (विनाश) को प्राप्त हो सकता है?

उत्तर सूर्य सिद्धान्त के अनुसार, प्राण की गति से सिद्धान्त में यह माना गया है कि जब स्वर के साथ, अपने श्वासों के साथ में, प्राण

के संचार में यदि चन्द्रमा की प्रतिभा रमण करती है, उसमें पुष्य नक्षत्र तथा सोमनी नक्षत्र की पुट होती है, तो इन परिस्थितियों में माता का बालक उससे पृथक होता है, तो वह पुनः उसको प्राप्त नहीं होता। जब जेष्ठाय नक्षत्र तथा पुष्य नक्षत्र का मिलान होता है, उस समय सूर्य सिद्धान्त के अनुसार कृतिका नक्षत्र उसके गर्भ में रहने वाला हो। यदि उस समय माता के गर्भ स्थल की स्थापना होती है, तो वह बालक माता को सदा कष्ट में पहुँचाता रहता है तथा किसी भी काल में सुखद नहीं बन सकता। (बीसवाँ पुष्प १९-२-७० ई. सत्तरवें अनुच्छेद से)

माता बनने में बाधक रोगों की चिकित्सा

यदि किसी स्त्री के बालक उत्पन्न न होता हो तो उसकी गतियाँ इस प्रकार जाननी होती है।

१ सबसे प्रथम उसके नेत्रों को जाने। २-उसके पश्चात् मस्तिष्क को। ३-फिर रसना कों। ४-फिर नखों (नाखूनों) को। ५-तदन्तर कुचों को जानना अनिवार्य है। ६-योनि का जो अग्रभाग है, यदि उसमें किरिक पन (विशेष दोष) आ गया है, तो उसको भी जानना होगा। ७-योनि के तृतीय भाग में अनुरथपन आ गया है, अनुरथपन का तात्पर्य यह है कि उसमें शून्यवत् हो जाना, उसमें अग्रति-गति न होना, उसमें प्रतिभा और भान का अभाव हो जाना, यह सब जानना होगा। आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार यह अच्छी प्रकार से जाने।

८-मन की गति जाने कि मन में किस प्रकार क्रोत (चंचल वृत्तिएँ) उत्पन्न हैं। क्रोतपन का तात्पर्य यह है कि योनि में क्राण गति

हो जाना; कारण गति में रात कटिक अनुवोच हो जाना अनिवार्य हो जाता है।

उसके निदान के लिये हमें मन में प्रसन्नता की आवश्यकता है। मन उस काल में प्रसन्न रह सकता है, जब हमारा खान-पान और हमारा औषधिपान सुन्दर होंगे। यह जितना अन्न है, जिससे हमारा रक्त बनता है, मज्जा बनती है, ब्रह्मचर्य बनता है और नेत्र पुष्ट होते हैं,ये सब औषधि ही हैं। (तेरहवाँ पुष्प १७-१-७० ई.)

बन्ध्यात्व का उपचार

जो स्त्रिएँ, बाँझ होती हैं, उनमें से कुछ पाँच प्रकार की कामधनु तथा अनेक आचाँगरिध होती हैं। कुछ ऐसी हैं, जिनकी औषधि यदि कोई है भी तो वह आश्चर्यजनक है। कुछ ऐसी हैं, जो औषधिपान से ठीक हो जाती हैं।

जैसे १-अधुधूत, २-सिंघानी, ३-अंचारी, ४-निधिनाश्वा, ५-आधुरोती, ६-स्वर्णानु अकाता, इन सबको बराबर लेकर पात बना कर, सोमरस बनाकर चालीस दिन लेने से शरीर में सुन्दर रक्त की विधि उत्पन्न होने लगती है। और रजों दर्शन हो जाता है। (तेरहवाँ पुष्प १८-१-७० ई.)

महाराजा अश्वपति के यहाँ गर्भाशय की थैली फट जाने से दो भाग हो गये थे। उसकी चिकित्सा शृँगी जी (वर्तमान श्री पू. ब्र. कृष्णादत्त जी) ने की थी। उसका विवरणःकृतिका नाम की औषधि में तीन प्रकार के गुण होते हैं। १-जड़ (मूल) में प्रसारण शक्ति, २-मध्य में आकुञ्चन तथा ३-फूल-पत्तियों में व्यापकता होती है। ४-कूकक नाम

की औषधि में ऊर्ध्वा-गति का गुण होता है। १-उसकी जड़ में ऊर्ध्व-गति तथा २-पत्ते में ध्रुवा गति होती है।

कृतिका के जड़ का आधा, मध्य का आधा तथा फूल पत्तियों का आधा-आधा भाग लेकर उसी के बराबर कूकक औषधि को मिलाकर पात बनाने के लिये अग्नि में तपाया जाये। फिर उसमें स्वर्ण की अकृत धातु को मिलाया जाये। उसका एक अकृत भाग लेकर के पान कराने से 'वालकानी अनुत ध्वनि' खुलती चली जाती है। क्योंकि इसमें पाँचों तत्त्वों का मेल होता है। जिन औषधियों में पाँचों तत्त्वों का मिश्रण बराबर होता है, उसको जल में शक्तिशाली करके पान कराया जाये, तो स्त्री में किसी प्रकार का रोग नहीं रहता क्योंकि उनका रक्तमान सुन्दर होता है, प्रतिमान सुन्दर होता है और श्वांसों की गति सुन्दर होती है। (तेरहवाँ पुष्प १७-१-७० ई.)

३ तृतीय अध्याय-आयुर्वेद

'जो आयु का प्रकाश है, उसे आयुर्वेद कहते हैं' क्योंकि आयुर्वेद से ही आयु ऊर्ध्व बनती है। आयुर्वेद आयु का सबसे प्रथम वेद है। यह ऋग्वेद का उपवेद है, प्रकाश है, ज्ञान है। जब ज्ञान रूपी प्रकाश मानव के समीप आ जाता है, तो यह जो अन्धकार है, क्रोध की मात्रा है, यह मानव की लुप्त हो जाती है। (पच्चीसवाँ पुष्प १-८-७३ ई.)

मानव की आयु का निर्माण कैसे होता है ? इस सम्बन्ध में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत है।

१-एक सिद्धान्त यह है कि प्राणों के ऊपर आयु को स्वीकार करते हैं। २-कुछ का विचार है कि आयु भोगों के ऊपर निर्भर करती है। आदि ऋषियों का मत है कि मानव का जन्म भोग भोगने के लिये होता है। भोग-भोग कर वह चला जाता है।

३-किन्हीं आचार्यो का यह सिद्धान्त है कि मानव के श्वासों की गणना है। जितनी जिसकी आयु होती है, उतनी उसकी श्वासों की गति के ऊपर मानव का चक्र चलता रहता है। (अट्ठाईसवाँ पुष्प १६-११-७६ ई.)

आयुर्वेद के विकास में योगदान

आयुर्वेद के ऊपर धन्वन्तरि, चरक तथा सुश्रुत ने भी बहुत कुछ लिखा है।

यह अनमोल शरीर है। शरीर का निदान शरीर से कैसे किया जा

सकता है, इसको जानना बहुत अनिवार्य है क्योंकि इसी में संसार का विज्ञान है। (तेरहवाँ पुष्प १३-१-७० ई.)

ऋषि श्रृंगी जी महाराज की आयुर्वेद पर एक पुस्तक तीन हजार पृष्ठों की थी जिसको जैन काल में नष्ट कर दिया गया था। उसमें यह स्पष्ट किया गया था कि क्रोध के करने से कौन सी नाड़ी नष्ट हो जाती है तथा कैसे ज्ञान की सूक्ष्म-सूक्ष्म नाड़ियाँ नष्ट हो जाती हैं।

एक 'हृदयांगिनी' नाम की पुस्तक थी जिसमें चौदह हजार पृष्ठ थे और बारह वर्ष की तपस्या के पश्चात् लेखनीबद्ध की गयी थी। उसमें यह प्रकट किया गया था कि हृदय में परमात्मा की प्रतिष्ठा कैसे है, भगवान क्या है ?

श्री पू. ब्र. कृष्णदत्त जी महाराज किसी पूर्व जन्म में श्रीमान् श्रृँगी ऋषि के रूप में महाराजा दलीप (सूर्यवंशी एक राजा जो अंशुमान के पुत्र, महाराजा भगीरथ, के पिता थे किन्तु कालिदास ने इनको रघु का पिता लिखा है) के यहाँ औषधियों का पान कराते थे तथा औषधियों से यज्ञ कराते थे। (बीसवाँ पुष्प २४-९-७० ई.)

आयुर्वेद विज्ञान का प्रसारण करने में श्री पू. ब्र. कृष्णदत्त जी महाराज (ऋषि श्रृंगी जी) हिचकिचाते हैं। उनका कथन है कि उन्होंने जितना अनुभव किया उसको संसार को देने में असमर्थ हैं उसका कारण यह है कि अनुभव के पश्चात् जीवन का अधूरापन रहना, जीवन में पथ-प्रदर्शक का न मिलना तथा आपत्तिकाल का होना। (तेरहवाँ पुष्प १७-१-७० ई.)

एक बार स्वानुभूति की इच्छा को लेकर किसी जन्म में श्री पू.

ब्र. कृष्णदत्त जी महाराज (ऋषि श्रृंगी जी) औषधियों की खोज के लिये बनों में चले गये। एक औषधि को जानने में उन्हें एक मास लगा। अनुसन्धान की विधि भी विचारणीय है। ''कुरुक'' नाम की औषधि एक वृक्ष होता है उसके अनुसन्धान में उन्हें एक मास लग गया।

जब उसका पत्ता रसना के नीचे दिया तो रसना सूज जाने से विशाल बन गयी, पूरा दिन इसका रस-पान करने से रसना इतनी बड़ी बन गयी कि उच्चारण करने से भी वंचित हो गये। जब उसकी जड़ के अग्रभाग छिलके को एक पूरा दिवस लगाया तो वह उसके प्रदीप्त (विष) को चूस गयी।

जब उसकी बकली (बल्कल) को रसना के निचले भाग में किया तो वह इतनी कसैली कि रसना ऐंठकर कृत बन गयी। उसके जो पुष्प थे, वे बल्कल के रस को चूस गये। जब उसके गूदे को लेने लगे तो वह ऐसा था कि इन चारों भागों को अपने गर्भ में धारण करने वाला। वह इतना स्वादिष्ट था कि उसको पान करते ही चले जाओ। इस प्रकार इसका पञ्चांग था। (तेरहवाँ पुष्प १७-१-७० ई.)

दीर्घायु होने का साधन : अश्वनी कुमार आयुर्वेद के महान् पण्डित थे। उन्होंने कहा कि संसार में आयु के वेद को विचारना चाहिये। आयुर्वेद उसे कहा जाता है जो आयु को देने वाला है। जब मानव प्रकाश में जाता है तो उसकी आयु दीर्घ हो जाती है। जब मानव अपनी सब इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लेता है, उसके विचारों और आचार में संयम आ जाता है तो वह आयु को देने वाला बन

जाता है।

औषधियों के द्वारा मानव की नस-नाड़ियों को बलवती बनाया जा सकता है। मानव के शव को एक वर्ष तक औषधियों में रखकर स्वस्थ बनाया जा सकता है। कण्ठ और हृदय को भी औषधियों में रखकर उसी प्रकार बनाया जा सकता है।

वेदों में जो औषधियों सम्बन्धी मन्त्र हैं, उनको अश्वनी कुमारो ने चुना था। वे जब देखते थे कि माता के गर्भ में जरायुज है और माता में रक्त के न होने के कारण बल नहीं है तो वे जरायुज को १-किरक्टि, २-अवाद, ३-सेल-खण्डा, ४-प्राणानी, ५-अभेतकेतु आदि औषधियों का पात बनाकर उसमें छः मास तक स्थिर कर देते थे। (बीसवाँ पुष्प २४-९-७० ई.)

औषधियों का प्रभाव

एक समय अश्वनी कुमारों ने अश्व के शरीर को धारण किया। अश्व की भाँति नाना औषधियों को उन्होंने चरां। चरने के पश्चात् अपने आत्मत्व के प्रकाश में इस मन से प्रत्येक औषधि पर उन्होंने अनुसन्धान किया।

१-गुडापेश और २-अश्व केतुक नाम की औषधियों का मिश्रण करके जब वे पान करते थे तो ब्रह्मआभा में उन औषधियों का पान करने से अश्व की योनि में ही ब्रह्म-ज्ञान उन्हें स्मरण होता चला जाता था।

जब महर्षि दधीचि को उन्होंने अश्व का मस्तिष्क लगाया था तो १-गुड़ापेश तथा २-अश्वताम नाम की दोनों औषधियों को लाकर के

उनका अमृतपाक बना करके प्रातःकाल में महात्मा दधीचि को पान कराते थे और उसी के द्वारा उनसे ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश पान करते थे।

महर्षि दधीचि के शिर को काटकर औषधियों में सुरक्षित रखा हुआ था। जब इन्द्र ने अपनी घोषणा के अनुसार अश्व के मस्तिष्क को दधीचि के शरीर से पृथक् कर दिया तो अश्विनी कुमारों ने उसके कण्ठ के ऊपरले भाग को औषधियों से निकाल करके उनके कण्ठ के ऊपरले भाग में स्थिर करके १-गुडाशेष, २-चेजाम्बरी, ३-मनुकेता, ४-कुरिचनी, ५-अनुवासन आदि नाना औषधियों को ला करके, अग्नि में तपाया और पात बना करके तीन समय लेपन करने से वह कण्ठ ज्यों का त्यों बन गया। उसके पश्चात् उनसे ब्रह्मज्ञान लिया। (अठाईसवाँ पुष्प १६-११-७४ ई.)

ऋषियों के आश्रम में जब बालक का जन्म होता था, जैसे सीता जी को बाल्मीकि आश्रम में पुत्र को जन्म देने को भेजा था तो बालक गर्भ से पृथक् होने पर मधु और स्वर्ण का पान कराया जाता था। बालक की रसना पर उसका स्पर्श कराते तो वह बालक के उदर में चला जाता था। जहाँ तक वह जाता, वहीं तक बालक का हृदय स्पष्ट, शुद्ध और पवित्र होता चला जाता था तथा शरीर में वर्तमान विष समाप्त हो जाता था।

माताओं को चाहिये कि वे १-स्वर्ण का, २-मधु, ३-सेम कृतिमा तथा ४-अमृता इन चार औषधियों का रस बनाकर बालक का जन्म होते ही उसको रसना पर स्पर्श करें जिससे उसके दोष समाप्त हो

जायें। (इक्कीसवाँ पुष्प अगस्त १९६६ ई.)

आयुर्वेदज्ञ के गुण

आयुर्वेद का पण्डित तथा वैद्यराज उसको कहते हैं जो निःस्वार्थ होता है, स्वार्थी को पण्डित नहीं कहते। (बीसवाँ पुष्प २४-९-७० ई.)

संसार में जो आयुर्वेद का पण्डित बन जाता है और आयुर्वेद के विज्ञान को अच्छी प्रकार जान लेता है, वह संसार में न तो कामिनी का आश्रित रहता है और न अपने मन का दास बनता है।

वह औषधियों में ऐसे विरक्त हो जाता है जैसे भगवान् श्रीकृष्ण जी महाराज सोलह हजार गोपिकाओं (वेद की ऋचाओं) में रमण कर जाते थे। संसार में आयुर्वेद का पण्डित वहीं होता है, जिसको संसार में सदैव नेति-नेति कहने का अवसर प्राप्त होता रहता है। जब वह अपने मन में नेति का प्रतिपादन करता है अर्थात् औषधियों को जानता रहता है, उन पर अनुसन्धान करके, उनसे निदान करता रहता है और उन पर कृतिमान् रहता है, तो वह संसार में अपनी मानवता को प्राप्त होता रहता है।

ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज ऋषि शृंगी जी के रूप में आयुर्वेद का अनुसन्धान करते ही चले गए तो आगे चलकर उन्हें प्रतीत हुआ कि आयुर्वेद का ज्ञान वास्तव में ब्रह्म-ज्ञान है। यह तो ब्रह्म के आसन को ले जाता है और मानव के जीवन को सुकृत बना देता है। (तेरहवाँ पुष्प १७-१-७० ई.)

आयुर्वेदज्ञों की कार्य विधि

आयुर्वेद का पण्डित सर्वप्रथम अग्नि की धाराओं को जान कर

वनस्पतियों पर अनुसन्धान करते हैं। इनमें (वनस्पतियों में) क्या-क्या गुण हैं तथा क्या-क्या कार्य करती हैं? उनका निर्णय करके क्रियात्मक रूप में लाने का प्रयास करता है। इस प्रकार वह औषधियों का ज्ञान प्राप्त करता है।

आयुर्वेद के पण्डित परम्परा से सूर्य विज्ञान को जानने वाले रहे हैं। यह उनका जन्म सिद्ध अधिकार रहा है। ऋषियों ने ऐसी-ऐसी औषधियों को भी एकत्रित किया था जिनसे मानव का विकास होता है। ऐसी भी औषधियाँ हैं, जिनके लेपन से मानव के उन संस्कारों को भी जागरूक किया जा सकता है, जो अन्तःकरण में निहित हैं।

औषधियाँ माता वसुन्धरा के गर्भ में होती हैं। वे प्रकृति की जटा के समान हैं। यह मन भी प्रकृति की जटा है। अतः मन का तथा औषधियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसको हमें जानना चाहिये।

मनोविज्ञान भी बहुत से कार्य करता है। एक तान्त्रिक मन के आवेशों को शान्त कर देता है। वास्तव में होता यह है कि मन की अशक्ति के कारण जो रोग हो जाते हैं, वे मन में विश्वास धारण करने से नष्ट हो जाते हैं। मन को भी रथी कहा है। मन का नाम इन्द्र भी है। इन्द्र सूर्य का नाम भी है तथा वायु का नाम भी (इन्द्र) है। (बीसवाँ पुष्प २४-९-७० ई.)

औषधि सिद्धान्त

आयुर्वेद का सम्बन्ध चन्द्र विज्ञान से है क्योंकि चन्द्रमा औषधियों को रस प्रदान करने वाला है, रस को भरण करने वाला है। इससे अधिक सम्बन्ध सूर्य से है क्योंकि वह उनको तपाता है। जैसे रस का

भरण करना चन्द्रमा का कार्य है इसी प्रकार तपाने का कार्य सूर्य का है। जब सूर्य तपा देता है तो उससे गति अप्रेत वायु में मानी जाती है। वायु उस तपे हुए को शुष्क बना देती है, आस्थापन कर देती है।

वायु चन्द्रमा को पुनः परमाणु दे करके, उन्हें पुनः रस का भरण करके, जल का उस औषधि से आश्रय ले करके जब जल के द्वारा शोधन करते हैं; कुछ औषधियाँ अग्नि के द्वारा शोधन होती हैं। वह एक मूल औषधि बन करके मानव की आयु प्रबल होती है। स्वास की गति में धीमापन आता है, मन में शान्ति आती है क्योंकि औषधियों को हमारे यहाँ सोम कहते हैं। (पच्चीसवाँ पुष्प १-८-७३ ई.)

आयुष्मान होने की विधि

आयुर्वेद का पण्डित कहता है कि हे मानव यदि तू अपने जीवन को ऊँचा बनाना चाहता है, तू अपने जीवन को आयुष्मान बनाना चाहता है, तो तेरा मन प्रसन्न रहना चाहिये क्योंकि मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। चन्द्रमा से मन रस लेता है और मन के ही कारण इस पृथ्वी में औषधियाँ हैं। इस औषधियों का मन से सम्बन्ध है। इसलिये मन अधिक से अधिक प्रसन्न रहना चाहिये।

मन दो प्रकार से प्रसन्न रहता है

१-एक तो आधद से होता है। जैसे एक मानव का मानव से मिलन हुआ, जिससे कभी विच्छेद हो गया था तो मन उल्लास से उल्लसित होता है। उससे भी मानव प्रसन्न हो जाता है। परन्तु उसके चले जाने के पश्चात् वियोग हो जायेगा तो वह मन का कोई अति

प्रसन्न होना नहीं है। यह तो क्षणिक प्रसन्न होना है और क्षणिक वियोग में आना है।

२-मानव को चाहिये कि वह उस आनन्द को प्राप्त करे जिससे मन का चित्त से सम्बन्ध है और जब मन चित्त को सान्त्वना देता है। चित्त भी मन की एक दशा है। यह मन का ही एक स्वरूप माना जाता है। इसको प्रसन्न करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान होना चाहिये, जो किसी भी काल में हमारे अन्तरात्मा से वह जाने वाला न हो, उसका वियोग न हो। ऐसा ज्ञान प्रभु का चिन्तन है, जो सदैव बना रहता है और मन के आँगन में, उसके उल्लास में प्रकाशित रहता है, तो चित्त प्रसन्न रहता है। (पच्चीसवाँ पुष्प १-८-७३ ई.)

कुछ औषधियों की पहचान

१-कठकुत- एक कठकुत नाम की औषधि होती है जिस पर श्वेत पुष्प आता है। इसका निचला भाग श्वेत और नील वर्ण का होता है। इसके पत्ते पुंसांगुली के तुल्य होते हैं। उसकी जड़ (मूल) में लगभग एक सहस्र कीड़े होते हैं। यह पर्वतों में प्राप्त होती है। इसमें मधु का संचार अधिक होता है। जितना मधु चाहिये, उतना ही होता है। उसकी जड़ में कीड़े इस कारण से होते हैं कि इसकी जड़ में मधुपन रहता है। यही उस औषधि की विशेष पहचान है। इन्हें अपनी रसना से जान लेना चाहिये।

२-शंख आनुवतः- एक शंख आनुवत नाम की औषधि होती है। इसके पत्ते तथा पुष्प बादाम की प्रकार के होते हैं। परन्तु उसकी छाल (वक्कल) में महान् कड़वाहट होती है। उसका पत्ता आनवन मधु

होता है। उसकी जड़ (मूल) में एक विशेष प्रकार का रस होता है। जो न कड़वा होता है, न मधु होता है। उसमें एक प्रकार बकाकृत (बक-बका) होता है। इसके पत्तों, पुष्पों, छाल (बक्कल) और उसकी कृतिमा को इन तीनों को लिया, किरकिर के छः भागों को ले करके, तीन भाग उसके और इसके पाँच भाग लेने चाहिये। यह अष्टांग बन जाता है। एक पंचाग होता है, एक अष्टांग। अष्टांग को पात में पकाकर उसकी पात बनानी है। इसमें विष बहुत होता है। अतः उसे मिट्टी के पात्र में रखना चाहिये। जिससे वह रज इसके विष को अपने में सोख लें। परन्तु इस विष को दूरी नहीं कर देना है। इस औषधि को स्त्री चालीस दिन सेवन करे तो किसी प्रकार का दोष जैसे योनि दोष, नेत्र दोष, अवनत नाड़ी दोष आदि सब नष्ट हो जाते हैं

इसको अष्टांग कहते हैं। एक पंचांग होता है। एक त्रिगात होता है। नाना प्रकार के निदान किये गए हैं।(तेरहवाँ पुष्प १७-१-७० ई.)

४ चतुर्थ अध्याय-प्रकृति पूजा अर्थात् प्रकृति का सदुपयोग

प्रकृति जो नाना प्रकार के आवेशों में रहने वाली है उसको भी देवी कहा जाता है। मानव को स्थूल रूप का भोजन तथा स्थूल रूप की प्रवृत्तियाँ इसी प्रकृति देवी से प्राप्त होती हैं। इसीलिये हमें इस प्रकृति को जानना चाहिये। जैसे माँ नाना रूपों में परिणित रहती है, कहीं ब्रह्मचारिणी, कहीं देवी तो कहीं माँ रूपों में। इसी प्रकार प्रकृति माता भी नाना रूपों में, परिणित हो रही है। कहीं पृथ्वी रूपों में कहीं खनिजों के रूपों में, कहीं खाद्य रूपों में तो कहीं शक्ति के रूपों में है। अतः हमें इस प्रकृति रूपी दुर्गा माता को जानना है। (अट्ठारहवाँ पुष्प १७-३-७२ ई.)

अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि भी देवता माने गए हैं। इनकी भी पूजा करनी चाहिये। इनके विज्ञान को जानना ही इनकी पूजा है। (चौथा पुष्प २८-७-६३ ई.)

१-सूर्य को नमः। हे सूर्य! तू प्रकाश का देने वाला है, तू हमारा जीवन चला रहा है, तू कल्याण कर रहा है। आपके ज्ञान-विज्ञान को विचारते ही रहते हैं। आपका प्रकाश हमें सूक्ष्म और सीमित कर देता है।

२-चन्द्रमा को नमः। हे चन्द्रमा! तू वास्तव में महान है। हमें आनन्द और अमृत देता है। जब हेमन्त ऋतु आती है, तो कृषि करने वाले वैश्यों की कृषि उस समय लहलहाई होती है। तेरी ज्योति और शीतलता जाकर उस कृषि में एक अनुपम अमृत प्रदान करती है। इसीलिये कृषि करने वाला तुम्हें नमः कर रहा है।

तू हमें भी अपनी शीतल किरणों से, शीतल कान्ति से नम्र और कान्तिदायक बनाता है, हमें अमृत पान कराता है। हमें चन्द्रमा पर अनुसन्धान करना चाहिये। यह अमृत-धारा क्या है? हमें कितना आनन्द देता है। अमृत पाने के लिये हमें अपनी वाणी को उसी प्रकार बनाना चाहिये जिससे अपने हृदय के अमृत को पान कर सकें।

कहा जाता है कि रावण की नाभि में अमृत था, परन्तु वह अमृत तो प्रत्येक मानव, प्रत्येक देवकन्या तथा प्रत्येक ऋषि की नाभि में है। हमें तो विचारना चाहिये कि हम उस अमृत का पान किस प्रकार करें? चन्द्रमा जब भी संसार में आता है, अमृत ही देता है। माता के गर्भस्थल में, कृषि में तथा प्राणिमात्र को अमृत देता है। हमें उस अमृत को सींचने वाला बनना चाहिये।

३-पृथ्वि को नमः। हे पृथ्वी माता! तू विचित्र है। तू संसार में ओज, तेज देती है, अन्न और वनस्पति देती है। संसार को अपने गर्भ में धारण करती है। वेद कहता है, मनुष्यों ! तुम पृथ्वी को नमः करो, परन्तु इसका अभिप्राय भुजाओं से नमः करने का नहीं है। बल्कि यह है कि पृथ्वी जो तुम्हें देती है, उसे आदर के साथ ग्रहण करो। पृथ्वी नाना प्रकार के पदार्थ देती है। राष्ट्र को चलाने के लिये नाना धातुएँ देती है। ज्ञान-विज्ञान के द्वारा पृथ्वी-तत्त्वों को जानने का नाम ही पृथ्वी का आदर करना है। (आठवाँ पुष्प १४-११-६३ ई.)

भू-गर्भ विज्ञान

हमारे यहाँ ऐसा माना गया है कि अहिल्या नाम पृथ्वी को कहा जाता है। भगवान् राम का जीवन सदैव विज्ञान में विचरण करता

रहता था। जहाँ वे महापुरुष थे वहाँ उनका विज्ञान भी नितान्त (पूर्ण) था। जहाँ वे सदैव परमात्मा के क्षेत्र में रमण करते रहते थे, वहाँ वे परमाणुवाद में भी रमण करते रहते थे। मुझे वह काल स्मरण आता रहता है जब एक समय महर्षि भारद्वाज, महर्षि वशिष्ठ और महर्षि अत्तुरत महाराज और सुमन इत्यादियों का एक समाज एकत्रित हुआ था। उस सभा में यह निर्णय हुआ कि हम राम को महावैज्ञानिक बनाना चाहते हैं। क्योंकि राजा रावण का जो राष्ट्र है वह इतना विशाल है और उसके राष्ट्र में चरित्र की आभा न रहने से हमारा हृदय दुःखित हो रहा है। इसलिये हम चाहते हैं कि ऐसा कोई महापुरुष बने जो रावण को समाप्त कर सके। महर्षि विश्वामित्र ने सभा में यह प्रतिज्ञा की कि मैं उनको धनुर्विद्या प्रदान करूँगा। महर्षि भारद्वाज ने यह कहा था कि मेरे द्वारा जितना भी राष्ट्र का द्रव्य है, जितना भी वैज्ञानिक यन्त्र है उनको अर्पित कर सकता हूँ जिससे वे रावण से संग्राम कर सकें। उस सभा में यह निर्णय हुआ और विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण, दोनों राजकुमारों को लाएँ। याग किया और याग द्वारा उन्हें धनुर्विद्या प्रदान की। जब उन्हें धनुर्विद्या प्रदान करने लगे तो आठ माह तक राम महर्षि भारद्वाज मुनि की विज्ञानशाला में रहे और उनकी विज्ञानशाला में उन्होंने जहाँ नाना प्रकार के यन्त्रों को जाना वहाँ एक यन्त्र का निर्माण किया गया, जो महर्षि भारद्वाज के शिष्य सुकेता से और पिरीमेणत नाम के ब्रह्मचारी के सहयोग से जो अनुसन्धानशाला में विराजमान थे, इन्होंने एक यन्त्र का निर्माण किया, उस यन्त्र का नाम ''अहल्या प्रतिभा स्वातन

यन्त्र'' कहा जाता था। उस यन्त्र में यह विशेषता थी कि पृथ्वी का जो दस-दस योजन गर्भ है उस गर्भ में वह यन्त्र यह निर्णय करा देता था कि अमुक धातु इतनी दूरी पर है, नाना प्रकार की धातु का निर्माण कितनी दूरी पर हो रहा है, ऐसा उन्हें वह यन्त्र दिग्दर्शन कराता रहता था। भगवान् राम को जब यह विद्या पान कराई गयी, अहल्या नाम की विद्या का अनुमोदन कराया गया, अहल्या नाम पृथ्वी का है, नाना प्रकार के खनिज, खाद्य जिसके गर्भ में विराजमान् हैं, अग्नि का जो स्रोत चल रहा है। यह पृथ्वी में नाना धातुओं का निर्माण करती चली जा रही है। मानो पात बनता है, पात बन करके उसको शुष्क बनाया जाता है, उसी से उनका निर्माण होता चला जा रहा है। भगवान् राम ने उस यन्त्र का निर्माण कराया।

जब महर्षि विश्वामित्र राम और लक्ष्मण तीनों प्राणी जा रहे थे तब निशाद से यह कहा कि हे निशाद! यह जो भूमि है यह वज्र तुल्य पड़ी हुई है, मेरा यन्त्र यह कह रहा है कि इस भूमि से तुम अन्न उत्पन्न करो। उनके राष्ट्र में रहने वाले निशाद आदि कृषकों ने उसमें अन्न उत्पन्न किया, इस प्रकार अहल्या (भूमि) के उद्धारक बने ऐसा मुझे स्मरण है। पर्यायवाची शब्दों में यहाँ गौतम नाम चन्द्रमा का भी है और गौतम परमपिता परमात्मा को भी कहा जाता है।

जहाँ अहल्या पृथ्वी को कहा गया है वहाँ अहल्या नाम रात्रि को कहा गया है। यहाँ दर्शन यह कह रहा है कि अहल्या यहाँ रात्रि को कहा जाता है। जब रात्रि अहल्या इस चन्द्रमा को अपने सिंगार रूपी अन्धकार को समर्पित कर देती है, उस काल में चन्द्रमा को गौतम

कहा जाता है। चन्द्रमा रात्रि को अपने में समेट करके अमृत की वृष्टि करता है। चन्द्रमा को सोम कहते हैं क्योंकि यह मन का विषय है। मन जब यह नाना प्रकार के शुद्ध-अशुद्ध से मुक्त होता है तो यह मन ही चन्द्रमा का स्वरूप धारण कर लेता है। जैसे चन्द्रमा अमृतमयी वृष्टि कर रहा है। कृषि की भूमि में अन्न की स्थापना करने वाला कृषक प्रसन्न हो रहा है, चन्द्रमा अपनी कलाओं से मुक्त होता हुआ इसमें अमृत को भरण कर देता है। यही चन्द्रमा है जो पूर्णिमा के दिवस समुद्र की नाना प्रकार की आभाओं को ले करके यह अन्तरिक्ष में ओत-प्रोत कर देता है। चन्द्रमा को हमारे यहाँ गौतम कहा गया है। यह गौतम बन करके अमृत की वृष्टि कर रहा है, रात्रि को अपने गर्भस्थल में धारण कर रहा है। ऐसा कहा जाता है कि इतने में इन्द्र को प्रतीत होता है और वे आते हैं और अहल्या पर आक्रमण करते हैं और अहल्या को अपने में धारण कर लेता है और धारण करके चन्द्रमा चिद्दवादी बन जाता है। यहाँ अहल्या नाम रात्रि का है और गौतम नाम चन्द्रमा का है और इन्द्र नाम यहाँ सूर्य को माना है, यह नाना भगों (किरणों) वाला सूर्य प्रातःकाल में उदय होता है और अन्धकार को अपने में धारण कर लेता है।

मुनिवरो ! अन्धकार कहाँ रहता है? वह जो नाना प्रकार की भगों (किरणों) वाला इन्द्र है, भग नाम किरणों को कहा गया है। नाना प्रकार की किरणों को ले करके अन्धकार को नष्ट कर देता है और अन्धकार इसके समीप नहीं रह पाता। इसी प्रकार गौतम नाम परमात्मा को कहा गया है। परमपिता परमात्मा जब सृष्टि का प्रारम्भ

होता हैं तो उस समय यह जो अहल्या नाम की प्रकृति है, जो शून्यवत् है इसको क्रियाशील बनाता है और इसकी स्थली में विराजमान हो करके, उसकी चेतना प्रकृति में कार्य कर रही है, इसलिये परमात्मा को गौतम कहते हैं और प्रकृति को अहल्या कहा जाता है। (तीसवाँ पुष्प १७-११-७४ ई.)

सूर्य विज्ञान

सूर्य में कहीं तेज-शक्ति है, कहीं शीतल शक्ति है, कहीं आकर्षण शक्ति है, कहीं दूसरी वस्तुओं को निगलने की शक्ति है, कहीं यह अग्नि देता है, कहीं अवरति (विश्राम) देता है, कहीं तेजों का समूह है कहीं, प्रकाश का।

इसे प्रकाशक कहें या अन्धकार कहें। कहीं यह मानव की प्रवृत्तियों को अनेकों धाराओं को सूर्य की शोधन करने वाली शक्ति निगल लेती है, तो सूर्य को शोधन वाला कहें। कहीं यह विष को लेकर अपनी किरणों के द्वारा विषैले प्राणियों को अर्पित कर देता है।

दालभ्य, रेवक आदि ऋषियों ने कहा है कि सूर्य नाम इसकी समूहता (सामूहिक क्रियाओं) के कारण है। सूर्य के अनेकों नाम हैं। जिस गुण से दृष्टिपात करते हैं वही नाम हो जाता है। जैसा ऊषा से, तेजों से और कान्ति (आदि) से।

अंगिरा ऋषि ने कहा है कि नाना प्रकार की सूर्य की किरणों के समूह का नाम सश्रृतम् (सुपक्क्म्) है। उससे सूर्य शब्द बनता है। (सरति आकाशे, सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति वा। सृ-गतौ, सू-प्रेरणे वा-'राज सूयसूर्यमृषो द्येति' क्यप् प्रत्ययेन साधुः) इसीलिये नाना

किरणों के समूह का नाम सूर्य है। आकर्षण शक्ति, शोधन शक्ति, भेदन, शक्ति का समूह होने के कारण यह सूर्य कहलाता है। (दसवाँ पुष्प ७-११-६८ ई.)

सूर्य की आठ किरणें

सूर्य की आठ किरणें प्रातःकाल सूर्य के आठ भाव लेकर आती है। १-मुसंकम् (पुष्णाकम्) जो आठ भागों वाली होती है। २-ऊषा किरण, ३-मनधोति, ४-रेणु, ५-अस्तुति, ६-रोधित, ७-रेधनी या चमण्डला, ८-वैष्णावी।

प्रथम किरण संसार को जीवन देती है।

द्वितीय किरण खाद्य पदार्थों को पवित्र बनाती है।

रोधित किरण खनिज पदार्थों स्वर्णादि नाना धातुओं हैं में जाती है।

उन किरणों में यह भाव होता है, जो उनको जाकर ऊँचा (श्रेष्ठ) बनाती है तथा आगे बढ़ोत्तरी करती है।

एक किरण से अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले परमाणुओं को जीवन मिलता है, उन्हें ऊर्ध्वगति की सत्ता प्राप्त होती है।

एक 'रेधनी' या 'चमण्डला' नाम की किरण होती है जो पवित्र आत्माओं को, ऋषियों को जाकर चेताती है, योगाभ्यास करने वालों को टकराती है। इसके मिलान से योगियों को आत्मिक ज्योति में एक आनन्द और एक सहायता प्राप्त होती है।

एक किरण दिशाओं में पूर्व से पश्चिम तक के लिये सम्बन्ध कराती है, अन्धकार को नष्ट करती है। वह पश्चिम दिशा में रमण

करती हुई पर्वतों से मिलान करती है, पर्वत उससे फलते फूलते हैं।

एक वैष्णवी किरण होती है। इसका सम्बन्ध गर्भवती माता के गर्भ से होता है। इस किरण का मिलान जब इस पवित्रत्व से होता है तो माता के गर्भ में रहने वाले आत्मा, बालक में एक सत्ता प्राप्त होती है उसे जीवन मिलता है। तब हम वैष्णवी के पुजारी बन जाते हैं।

एक किरण वृक्षों व नाना वनस्पतियों से जाकर मिलान करती है। जब वह वायुवेग से चलती है तो यह वनस्पतियों से किरण को लेकर चलती है और प्रत्येक मानव को छूती है और अग्रणी बनाती है।

एक ''गधेवित'' नाम की किरण होती है जिसमें विषैले परमाणु होते हैं। वह सूर्य से चलकार विषैले परमाणुओं से मिलान करती है। यह विषैले प्राणियों सर्पादि योनियों से सम्बन्धित होती है। यह सभी विषैले परमाणुओं तथा वस्तुओं को अपने में धारण करती रहती है। यदि विषैली किसी मानव को छू जाये तो उस मनुष्य के समक्ष मृत्यु का प्रतीक आ जाता है। इस पर अनुसन्धान करना चाहिये। (पाँचवाँ पुष्प १८-१०-६७ ई.)

सूर्य शान्तिदायक तथा हमें प्रकाश देने वाला है। प्रातः से सायंकाल तक तपता है। इस संसार को तपायमान कर देता है। उसके विराट् रूप धारण कर अधिक ताप देने से अकाल पड़कर संसार नष्ट होने लगता है। उसे प्रभु से दी गयी सविता-सत्ता का सदुपयोग करने से उसकी ऊषा किरणों से मानव जीवन महान् बन जाता है।

प्रातःकाल का सूर्य कितना पवित्र व उदार है। उसकी कांति में अपनी कान्ति लगा लेने पर वह हमें त्रिविद्या का प्रकाश देता है। जिससे बुद्धि, हृदय, मन में तथा सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो जाती है। जिसके हृदय में शान्ति का भाव आ जाता है उसका उत्थान अवश्य होगा। वह परमात्मा के आँगन में, माता दुर्गे की गोद में, माता गायत्री की गोद में अवश्य चला जाएगा।

सूर्योदय से पूर्व अपने (शयन) स्थान से पृथक् होकर नित्यकर्म स्नानादि से निवृत्त होकर हम सूर्य से ब्रह्मचर्यत्व तथा बुद्धिदायक तेज को प्राप्त करें तो यह सूर्य का सदुपयोग है। इसके विपरीत यदि हम सूर्योदय से पूर्व अपने स्थानों से पृथक् नहीं होते निद्रा में रहते हैं, नेत्रों का सम्बन्ध तो सूर्य किरणों से नहीं करते बुद्धिदायक तेज को ग्रहण नहीं करते, तो यह सूर्य का दुरुपयोग है।(सातवाँ पुष्प १२-७-६२ ई.)

सूर्य चिकित्सा

हनुमान सूर्य-विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित थे। एक बार राम ने हनुमान से पूछा कि मैं जानना चाहता हूँ कि सूर्य की किरणों से रोगों का विनाश कैसे होता है?

हनुमान ने कहा "सूर्य की सहस्रों प्रकार की किरणें होती हैं। किन्तु मुख्य किरणें सात होती हैं। इन किरणों के विभिन्न प्रकार के रंग जैसे श्वेत, हरित, रक्त आदि हैं। पाँच महाभूतों, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, जल, अग्नि के जैसे रंग होते हैं। उसी प्रकार के रंग इन किरणों के होते हैं।

मानव के शरीर में ये पाँच महाभूत ही कार्य कर रहे हैं। जब मानव रुग्ण हो जाता है, तो उसके शरीर में इन्हीं महाभूतों में से किसी का प्रवाह सूक्ष्म हो जाता है। जो तत्त्व मानव शरीर में सूक्ष्म हो जाता है, उसी प्रकार की किरणों को लाया जाता है। वह किरण मानव के शरीर में रुग्ण स्थान पर प्रभाव डालती हैं तथा रोग शांत हो जाता है।

जैसी किरण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार का यन्त्र बनाया जाता है। जैसे स्वर्ण में अग्नि की प्रधानता मानी जाती है तो स्वर्ण जैसी धातु का अमृत-यन्त्र बनाया जाता है। जब सूर्य की किरणों का उस यन्त्र में प्रवाह होता है तो यह मानव के अंगों को शुद्ध बनाता चला जाता है।

वैज्ञानिकों ने सूर्य अस्त्र नाम के यन्त्रों का निर्माण किया। जिससे मानव अग्नि के प्रभाव को अपने में धारण कर सकते हैं। जो मानव सूर्य की किरणों के विज्ञान को जानना चाहता है वह ऐसे यन्त्रों को बना देता है वह सूर्य की किरण के साथ-साथ रमण करके सूर्य की कक्षा में चला जाता है। (अट्ठारहवाँ पुष्प १-८-७० ई.)

वायु मुनि तथा भारद्वाज का मत है कि हम नाना प्रकार की सूर्य की किरणों को अपनी श्वासों की गतियों में लाना चाहते हैं। सूर्य की किरणों का जन्म होता है। उन किरणों में महत्ता की एक धारा होती है। उसी को लाने के लिये हम सदैव तत्पर रहते हैं। जब हम उसको अपने मस्तिष्क रूप यज्ञशाला में लाना चाहते हैं तो एक यौगिक विषय बन जाता है। जो ब्रह्म-विद्या का निदान करने वाला होता है

वह ब्रह्म-विद्या का निदान करना जानता है। वह उस ब्रह्म-विद्या का निदान मन और प्राण के साथ ही करता है यदि मन और प्राण दोनों को निदान में न ला सका, तो जीवन में महत्ता का दिग्दर्शन कदापि न हो सकेगा। (पन्द्रहवाँ पुष्प १२-२-७१ ई.)

किरणों का पृथ्वी में प्रभाव

पृथ्वी में खनिज पदार्थों का निर्माण तपने से ही होता है। पृथ्वी के तप जाने पर सूर्य की किरण की प्रतिभा उसमें आनी आरम्भ हो जाती है, जिससे नाना धातुओं का जन्म हो जाता है। (आठवाँ पुष्प ३-४-६४ ई.)

जिस समय सूर्य की प्रकाश की रश्मिएँ वायुमण्डल को छेदन करती हुई इस संसार पर आती हैं वे पृथ्वी के छिद्रों से होती हुई उस जल तक पहुँच जाती हैं, जिस पर यह पृथ्वी सूर्य के प्रकाश से स्थिर रहती है। किन्तु जैसा पृथ्वी का प्रतिबिम्ब होता है और जैसे पृथ्वी के गुण होते हैं, उसी गुण में वे किरणें वही कार्य करती हैं। जहाँ जैसा तत्त्व होता है, वहाँ रश्मि का वैसा ही प्रकाश और वैसा ही कार्य बन जाता है। यह सूर्य प्रतिबिम्ब कहलाता है। (आठवाँ पुष्प ३-४-६४ ई.)

जब सूर्य की 'गौ' रूपी अमूल्य किरणें चलती हैं और संसार में उनका विकास होता है तो एक-एक किरण से नाना प्रकार की भावुकता हो जाती है। जिस समय ये संसार में ओत-प्रोत होती हैं तो प्रत्येक मानव उनसे अपने जीवन को बनाता है। सूर्य रूपी इन्द्र सहस्रों भुजाओं वाला बनकर हमारा कल्याण और हमारी रक्षा करता

है। यह इन्द्र रूपी सूर्य प्रातः से सायं तक अपने कर्तव्य का पालन करता है। फिर सायं को उसके अस्त हो जाने पर रात्रिरूपी अहल्या छा जाती है। उसकी गोद में पहुँच कर मानव निद्रा को प्राप्त हो जाता है। रात्रि उसको अमूल्य शक्ति देती है। निद्रा में आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से होकर वह जीवन तथा सविता सत्ता को प्राप्त करता है। प्रातःकाल सहस्रों भुजाओं वाला इन्द्र रूपी सूर्य उदय हो जाता है मानव का जब इन किरणों से सम्बन्ध हो जाता है तो उसे नवीन जीवन मिलता है। (पाँचवाँ पुष्प १९-१०-६४ ई.)

चन्द्र-विज्ञान

वशिष्ठ मुनि ने अपनी पत्नी अरुन्धती को बतलाया कि चन्द्रमा की किरणों को रेणुका कहते हैं। यह रेणुका रात्रि में अपने प्रताप को लेकर चलती हैं, अन्धकार को निगलती जाती है, पृथ्वी को शीतल बनाकर अमृत प्रदान कर देती है। हमारे कृषक की भूमि को उज्ज्वल बना देती है। माता के गर्भ में रहने वाले जरायुज को भी अमृत पान करा देती है। चन्द्रमा की कान्ति से उनकी नाना इन्द्रियों और नाड़ियों का सम्बन्ध होता है। (नवम् पुष्प २८-७-६७ ई.)

चन्द्रमा की कान्ति बड़ी विचित्र है। इसमें लगभग १०१ व्याहृतियां होती हैं। वे जहाँ-जहाँ जिस-जिस वस्तु पर जाती हैं, उन्हीं धातुओं को कान्तिदायक बनाती हैं। जैसे सूर्य की किरणें स्वर्ण पर गिरकर स्वर्ण बनाती हैं, विष पर विष, इसी प्रकार चन्द्रमा की कान्ति चलती है।

१-तुरिद : तुरिद नाम की कान्ति उस स्थान पर जाती है, जहाँ

स्वर्ण होता है। उसको शीतल बनाती है। सूर्य की किरणों से उत्पन्न तेज में शीतलता देती है। जिस पर यह पड़ती है, उस धातु की और प्रगति होती है।

२-सुधित :सुधित नाम की कान्ति उस स्थान पर जाती है जहाँ पत्थरों और स्वर्ण से भी मूल्यवान धातुएँ होती हैं। ये किरणें समुद्रों में जाती हैं। सूर्य का तेज वहाँ भी जाता है। वहाँ विद्युत् और जल भी रहते हैं। इस सबके मिश्रण से भूषण-धातु उत्पन्न होते हैं।

३-कुदित :कुदित नाम की कान्ति वहाँ पहुँचती है, जहाँ पृथ्वी से नाना प्रकार के खनिज पदार्थों की उत्पत्ति होती है, जैसे वाहन चलाने वाली धातु, जिनसे वैज्ञानिक नाना प्रकार के आविष्कार करते हैं।

४-कुड़ित :कुड़ित नाम की कान्ति अन्तरिक्ष में रमण करती है, विद्युत् में भी रमण करती है। जब इनका अन्तरिक्ष में मिश्रण होता है तो भौतिक वैज्ञानिक उसके यन्त्र बना करके अन्तरिक्ष में रमण करने वाले परमाणुओं को एकत्रित करते हैं। इनसे अणु, त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं। नाना प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार होता है। (पाँचवाँ पुष्प २०-७-६४ ई.)

सूर्य और चन्द्रमा की तुलना

१-सूर्य का नाम विष्णु भी है। उसका प्रकाश तीनों लोकों को तपायमान कर देता है। उससे उत्पन्न रश्मियाँ संसार में प्रकाश पहुँचाती हैं। प्रकाश का सम्बन्ध हमारे नेत्रों से है। हमें उस नेत्रों वाले प्रकाश का सदुपयोग करना चाहिये। यह प्रकाश देने वाला विष्णु नेत्रों का गहना है। संसार में मनुष्य दृष्टि को सूर्य की सत्ता से ही पाता है।

सूर्य हमें आनन्दित करता है, प्रेरणा देता है, हमें सदा प्रकाश देता है। इसलिए इसका नाम विष्णु है। चन्द्रमा को विष्णु नहीं कहते, कृति कहते हैं, कान्तिदायक कहते हैं।

२-सूर्य में सतोगुणी तरंगें होती हैं, जबकि चन्द्रमा में तमोगुणी तरंगें होती हैं।

३-सूर्य संसार को महान् ज्योति देता है। अपनी किरणों से प्रकृति में चैतन्य देता है, प्रकृति में जो नाना तत्व हैं, उनमें एक महत्ता और ओज देता है ओज देकर महत् देता है, जिससे संसार का कार्य चलता है। महत् का सम्बन्ध परमात्मा से है। आत्मा का सम्बन्ध महत्त से होता है। मन का सम्बन्ध आत्मा से होता है। मन और बुद्धि का अन्तःकरण से, अन्तःकरण का आत्मा से, आत्मा का सम्बन्ध महत् से, महत् का सम्बन्ध परमपिता- परमात्मा से होता है।

इस प्रकार जब हमारा सम्बन्ध परमात्मा से हो जाता है तो हमारा उत्थान हो जाता है।

चन्द्रमा में कान्ति है। उसको विष्णु नहीं कहते। वह तमोगुण प्रधान माना गया है। जिसमें तमोगुण प्रधान हो उसको विष्णु नहीं कहते। चन्द्रमा में आग्नेयता न होने के कारण इसको तमोगुण प्रधान माना गया है।

४-सूर्य के अन्य नाम १-वराह, २-सिंह, ३-वामन अवतार आदि हैं। चन्द्रमा का नाम गौतम है। गो नाम पृथ्वी का है। चन्द्रमा रात्रि के समय इसके (पृथ्वी के) अँकुर में शीतलता देकर इसको उपजाऊ बनाता है। इस पृथ्वी का स्वामी गोतम कहलाता है। (चौथा पुष्प १८-

४-६४ ई.)

सूर्य परमात्मा की सत्ता को पान करता हुआ संसार को प्रकाश देता है; कभी नम्र, तेजस्वी, कभी मधुर। इस प्रकाश को पान करके संसार के प्राणीमात्र अपने-अपने मार्ग का प्रदर्शन करने वाले बन जाते हैं। जैसे सर्पयोनि में सभी कुछ श्रेष्ठताओं का उसके मुख में जाकर विष ही बनता; नाना योनियाँ अमृत-वायु में रमण कर रही हैं। वे योगी के पास जाकर अमृत बना देती हैं, पुष्पों में सुगन्धित बनाती हैं, सर्प में विष बनाती हैं। (सातवाँ पुष्प ३०-९-६४ ई.)

सूर्य चन्द्रमा का पिता है। चन्द्रमा सूर्य से ज्योति प्राप्त करके प्रकाशित होकर पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। जब कलाएँ घटती हैं तो उसी में समा जाती हैं। चन्द्रमा सूर्यमण्डल के निचले स्थान में है। यह सूर्य का अधिकारी क्रम है। ज्योति से क्रमशः बढ़ता हुआ उसीकी किरणों से पूर्णता को प्राप्त होता है, तो पूर्णिमा का चन्द्रमा कहलाता है। (प्रथम पुष्प ६-४-६२ ई.)

कृष्णपक्ष में चन्द्रमा धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। शुल्क पक्ष में धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ एक समय पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। (तीसरा पुष्प ८-३-६२ ई.)

जल

जल को 'आपः' भी कहते हैं। सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी के रचने से पूर्व परमात्मा ने सर्वप्रथम जल की मेंखला बनाई थी, जो समुद्रों के रूप में है। यदि समुद्र न होता तो मानव जीवन भी न होता। यह समुद्र रूपी मेंखला उस विष को निगलती है जिसे पृथ्वी उगला

करती है। विज्ञानवेत्ता नाना प्रकार के निर्माण करते हैं, ये 'आपः' की सहायता से ही करते हैं क्योंकि अग्नि से संरक्षण करने वाला जल कहलाता है। इसको अग्नि का बिछौना भी कहते हैं। जहाँ भी ऊँचे से ऊँचा उद्योग चलता है वहाँ नाना परमाणुओं से यन्त्र बनाए जाते हैं। उनमें नाना प्रकार की आकर्षणशक्ति को लेकर विद्युत् का स्वरूप बनता है। परन्तु जल की पुट उसमें भी होती है, जल उसको शीतल बनाता है। यदि जल उसको शीतल न बनाएगा तो वह कार्य नहीं कर सकेगा।

जल प्राणों का बिछौना है क्योंकि यह प्राणों में रमण करके विद्युत् तथा अग्नि को शान्त करता है। एक समय महर्षि तिलक ने महर्षि दालभ्य से पूछा था कि प्राणों का बिछौना क्या है ? यह जो श्वासों की गति चल रही है, नाभिकेन्द्र से प्राणों का उद्गार आरम्भ होकर घ्राण के द्वारा समाप्त हो जाता है, उसका बाह्य रूप बन जाता है, तो इन प्राणों के द्वारा रमण करने वाली कौन सी सत्ता है?

उत्तर :प्राणों का बिछौना यह जल है। यही प्राणों में सत्ता प्रदान करने वाला है। प्राणों का बिछौना यह इस कारण से है कि श्वासों की गति से जो परमाणु जाते हैं वे जल के परमाणु होते हैं। यदि केवल अग्नि के या केवल वायु के ही परमाणु आवें तो मानव जीवित न रह सकेगा। वायु का जो अपना भौतिक गुण है वह तो ऊषाग्रस्त (शुष्क करना तथा पोला करना) कहलाया गया है।

प्रश्न :इन प्राणों का ओढ़ना क्या है ?

उत्तर :ओढ़ना अन्न है। अन्न और जल दोनों ही एक-दूसरे की

संरक्षणता में प्राणों की रक्षा करते हैं। यहाँ भी प्राणों को शोधन करने वाला 'आपः' ही कहलाया गया है। (चौदहवाँ पुष्प १२-८-७० ई.)

अग्नि

भुञ्जु मुनि ने महर्षि दधीचि से पूछा कि यह ऊष्णता किसके गर्भ में ओत-प्रोत रहती है?

दधीचि ने कहा कि हे ऋषिवर ! यह ऊष्णता ही प्रकृति को एक सूत्र में लाती है। परमाणुवाद में जो गति हो रही है, वह उस ऊष्णता से ही आ रही है। यह ऊष्णता ही तो मानव का जीवन है, सूर्य मण्डल का जीवन है। (पन्द्रहवाँ पुष्प २३-८-७१ ई.)

अग्नि में एक अरब चौरासी लाख तथा वायु में एक करोड़ छयानवे लाख प्रकार की तरंगे होती हैं। इसको जानकर मानव वास्तविक वैज्ञानिकता को प्राप्त हो जाता है।

एक वैज्ञानिक माता वसुन्धरा के गर्भ में जाकर अग्नि के परमाणुओं को जानना चाहता है। जो विद्युत् मानव के गृह में प्रकाश करती है, वह तो सूक्ष्म सा भाग है। इससे ऊपर जो विद्य त् होती है, वह इससे अरबों गुणा होती है। एक मानव अपनी प्राण-शक्ति के द्वारा उसी महान् अग्नि के तेज के द्वारा अग्नि तथा विद्युत के भेदों को जानता हुआ, इस पृथ्वीमण्डल से सूर्य लोक की यात्रा करने में सफल हो जाता है। जितना आग्नेय तत्त्व जाना जाएगा उतना ही मानव आग्नेय लोकों को प्राप्त हो सकेगा।

जितना वायु को जानकार वायु का अनुसन्धानवेत्ता बनता है, उतना ही वायु लोकों को प्राप्त होता है।

पार्थिव तत्त्वों पर अनुसन्धान करने वाला खाद्य एवं खनिज पदार्थो का ज्ञाता बनता है। दोनों की प्रतिभा को जानने वाला पार्थिव लोकों को प्राप्त होता है।

जो तमोगुण में परिणत रहता है वह सदैव अन्धकार में रमण करता रहता है। उसकी कोई महत्ता संसार में नहीं हाती। (इक्कीसवाँ पुष्प २९-३-७० ई.)

वेद का ऋषि कहता है कि हे मानव ! तू अपने शरीर में विराजमान 'इन्द्रागत अलोकतः' अग्नि को जानने का प्रयास कर, जो इन्द्र को प्रकाशित करती है। 'इन्द्र' नाम सूर्य का है। इन्द्र को जो प्रकाशित करने वाली अग्नि है, वह तीन प्रकार की धातुओं में रमण करने वाली है।

१-एक अग्नि-लोक में आती है।

२-एक अग्नि द्यु-लोक में रमण करती है।

३-वे जो सूर्य-लोक की अव्यक्त किरणें हैं जो सूर्य लोक को तपा रही हैं वही अग्नि की विचित्रधारा सूर्य के आँगन में विराजमान हो करके किरणों को नाना रूपान्तर देती चली आ रही हैंः कोई जीवन का नाश कर रही हैं, कोई मानव जीवन को उद्बुध बना रही हैं।

नाना प्रकार की अग्नियों की आभा आने के पश्चात् वह नाना स्वरूपों को धारण करने लगती हैं। जैसे एक वैज्ञानिक द्यु-लोक के गर्भ से नाना प्रकार के कणों को एकत्रित करके विद्युत् का निर्माण करता है।

इसी प्रकार आध्यात्मिकवेत्ता पुरुष में जो मन की तरंगो नाना

रूपों से बिखरी होती हैं, अर्थात् कुछ श्रोत्रों में, कुछ चक्षु में, कुछ घ्राण में, कुछ त्वचा में आदि आदि। वह अपने मनस्तत्त्व को ऊंचा बनाता हुआ, तपस्या करता हुआ उस बिखरी हुई अमूल्य शक्ति को एकत्रित करता है। एकत्रित करता हुआ मन को प्राणरूपी सूत्र में जकड़ देता है अथवा उसमें समावेश करा देता है।

जब वह प्राण के क्षेत्र में चला जाता है अर्थात् प्राण और मन एक क्षेत्र में आ जाते हैं, उनका एक गृह हो जाता है। एक गृह होने के पश्चात् अर्थात् जब मन और प्राण में एकीकरण हो जाता है तो इतनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि संसार की अनेकता को एकता में दृष्टिपात करके एक सूत्र में ंपिरोने वाले जगत् को अपने में दृष्टिगत करने लगता है क्योंकि यह प्राण ही इस संसार में ओत-प्रोत हो रहा है। (सत्ताईसवाँ पुष्प २-३-७६ ई.)

यह जो अग्नि की ज्योति जागरूक हो रही है, जिसको अखण्ड ज्योति कहते हैं, वह 'सप्तजिह्वा' कहलाती है। इसकी एक-एक जिह्वा से एक-एक सहस्रो जिह्वाओं का जन्म होता है। इनमें से एक-एक से निन्यानवे-निन्यानवे धाराओं का जन्म होता है। पुनः निन्यानवीं धारा में से भी एक सहस्र धाराओं का जन्म होता है।

इसीलिये जब इस ज्योति की अग्नि के ऊपर शब्द विराजमान होता है तो उसकी भयंकर गति बन जाती है तथा वह शब्द द्यु-लोक में रमण करने वाला बन जाता है। (अट्ठरहवाँ पुष्प १७-३-७२ ई.)

शब्दों का वाहन यह अग्नि ज्योति है जिसको विद्युत् कहते हैं। इस पर सवार होकर शब्द क्षण समय में पृथ्वी की साढ़े सात

परिक्रमा कर लेता है। इस अग्नि को जानना चाहिये। फिर इस आत्मा की ज्योति को जानें। इसको जानकर वह धर्मज्ञ पुरुष विशाल ज्योतिष्मान बन जाता है। (उन्नीसवाँ पुष्प १७-३-७२ ई.)

महर्षि शाण्डिल्य ने महर्षि दधीचि से पूछा कि इस वाणी का वाहन क्या है ?

महर्षि दधीचि ने उत्तर दिया कि वाणी का वाहन यह अग्नि है। यह वाणी अग्नि पर विश्राम करती हुई व्यापक बन जाती है। स्थूल रूप में अग्नि की दो सौ चौरासी तरंगें होती हैं। दो सौ चौरासीवीं तरंग से बहत्तर तरंगों का निकास होता है। बहत्तरवीं तरंग से निन्यानवें तरंगें तथा निन्यानवीं तरंग से एक सौ बीस तरंगों का निकास होता है। जब यह शब्द अग्नि के ऊपर विराजमान हो जाता है तो उसमें से अरबों खरबों तरंगों का जन्म होता है। (अठारहवाँ पुष्प १३-४-७२ ई.) (२८४*७२*९९*१२०=२४२९२२२४० तरंगें होती हैं।)

सामगान से दीपमालिका

दीपमालिका के सम्बन्ध में मैंने बहुत पुरातन काल में तुम्हें एक निर्णय दिया था। महाराजा हनुमान जब शान्त मुद्रा में विराजमान होकर के गान गाते थे और वह साम-गान थे, गान गाते-गाते वह दीपावली के गान में चले जाते थे। जितनी भी दीपमालिका होती हैं वह गान रूपों में प्रकाश में आ जाती हैं। परिणाम क्या है ? क्योंकि यह जो वाणी है यह ज्ञान का प्रतीक है और यह अग्नि का प्रतीक कहलाया गया है। याज्ञवल्क्य ऋषि महाराज ने जब मानव रचना के

सम्बन्ध में अपने विचार दिए तो जैसे यह बाहरीय जगत् की अग्नि है, ऐसे ही आंतरिक जगत् की अग्नि है। जैसे बाहरी जगत् में कोष्ठों में अग्नि विद्यमान है, उसी प्रकार यह अग्नि मानव के द्वार पर विद्यमान है। तो मुनिवरों! वेद का ऋषि, वेद का राजा कहता है, कौन? अश्वपति, महर्षियों! मेरे राष्ट्र में इस प्रकार का ज्ञान और विज्ञान होना चाहिये जिस ज्ञान को पा करके मेरी पुत्री जब गान गाने वाली हो, मंगल को रचाने वाली हो तो उस समय दीपमालिका जागरूक हो जाए। ऐसा मेरा मन्तव्य रहता है।

इस प्रकार का विज्ञान, इस प्रकार की शाला होनी चाहिये, सामगान हो रहा है साम-गान गाते हुए दीपमालिका जागरूक हो जाए। मुझे वह काल स्मरण आता है मेरे प्यारे! शाण्डल्य गोत्र में उत्पन्न होने वाली गार्गी, वह साम गान गाती थी एकांत स्थली में विद्यमान हो करके तो मुनिवरो! देखो मृगराज और सिंहराज उसके चरणों को छूते थे, उसके चरणों को स्पर्श करके शांत भाव से उसके साम-गान को श्रवण करने लगते। उसकी यही प्रेरणा लेकर के महाराजा अश्वेतव महर्षि ने सामगान की विद्या को पान किया। इसी प्रेरणा को लेकर के महात्मा दधीचि ने अपनी अस्थियों से वज्र को बनाने की प्रेरणा उन्हीं के द्वार से ली थी। (तीसवाँ पुष्प ७-११-७६ ई.)

महर्षि भृगु मुनि महाराज ने मौन रहने का संकल्प किया और वह मौन रहते थे। जब वह स्वरों से साम-गान गाते थे तो मृगराज, सिंहराज, सर्पराज उनके गान को श्रवण करते थे। हिंसक प्राणी भी

अहिंसा परमो-धर्म की प्रतिभा का वर्णन करता था।

उन्हीं वेदों में दीपावली का वर्णन आया, दीपमालिका का एक गान आया जिसको दीपमालिका गान कहा जाता था तो वह ऋषि भृगु सत्वादी बन करके अपने उदान प्राण को व्यान में सुगठित करके और समान को व्यान में परिणत करके जब वह गान गाते थे, चारों प्राणों का एक सूत्र बन जाता था, नाग प्राण की उसमें पुट लगती थी। देवदत्त नाम का प्राण उसमें विचरण करता था। जब वह गान गाते थे तो उनकी अस्थियों में एक अग्निसी प्रदान होने लगती थी। उनकी वाणी से वेद परमाणु उत्पन्न हो जाते थे क्योंकि आंतरिक जो चित्त है, वह जो ब्रह्माण्ड का चित्त है उस चित्त से अपने चित्त का समन्वय हो करके जब वह गान गाया जाता था तो मुनिवरो! उससे दीपमालिका प्रज्ज्वलित हो जाती थी, उससे अग्नि संचार हो जाती थी, अग्नि का प्रादुर्भाव हो जाता था क्यांकि ऋषियों ने यह विचारा, वेद का मंत्र आता है ''अग्निवतम् ब्रहेः वानश्चय प्रविद्धतोः देवतम् देवः बाहयाणि धृयति उत्पन्नो देवचश्य लोकः'' वेद के ऋषि ने इस वेद के मंत्र के ऊपर चिंतन करना प्रारम्भ किया और यह विचारा कि प्रायः वास्तव में मैं वाणी के ऊपर अनुसंधान करूँगा। वाणी के ऊपर मेरा आधिपत्य होगा और वाणी का सम्बन्ध उदान प्राण से होता है और उदान प्राण का सम्बन्ध व्यान से होता है और व्यान का सम्बन्ध अपान से होता है, अपान का सम्बन्ध समान से होता है। सर्वत्र प्राणों को एक सूत्र में लाने में ब्रह्मरंध्र में इंगला, पिंगला और सुषुम्णा के द्वारा मूलाधार से ले करके जब नाभि केंद्र में गमन होगा, प्राणों का गमन

होगा, अग्नि के तत्व उसमें विद्यमान होते हैं, मनस्तत्व का गमन होगा, उसी संकल्प शक्ति के द्वारा जब मानव गान गाता है तो मुनिवरो! दीप प्रदीप्त हो जाते हैं और जब दीप प्रदीप्त हो जाते हैं तो उसकी वाणी में अग्नि तत्व प्रधान हो जाता है। वह मानव जो भी वाणी से उच्चारण करता है वही हो जाता है। मुनिवरो ! सिंहराज के हृदय में जब यह कहता है कि ''अहिंसा परमोधर्मी'' है तो सिंहराज उसकी मनोहरता, उसकी व्यापकता, उसमें धर्म को विचार करके अपने धर्म में अपनाने के लिये तत्पर हो जाता है। (तीसवाँ पुष्प ८-११-७६ ई.)

शचि

शचि नाम विद्युत् का है जो जल में, वायु में, अग्नि में, पृथ्वी में रमण करती है। इन सबका सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है। अन्तरिक्ष का सम्बन्ध इन लोक-लोकान्तरों से है। हमें परमात्मा के इस विज्ञान को, वैज्ञानिक तत्त्वों को जान कर राष्ट्र के कल्याण के लिये, अपने मानवत्व के लिये, अपनी रक्षा के लिये प्रयत्न करना चाहिये। (पाँचवाँ पुष्प १९-१०-६४ ई.)

विद्युत् तन्मात्राओं का रूप है। विद्युत् वह है जो प्राणों के सँघर्ष से उत्पन्न होती है। जब मेघ अन्तरिक्ष में रहते हैं, तो इन्द्र रूपी वायु अपने प्राण रूपी वज्रों का आक्रमण (आघात) करता है। जल और इन्द्र दोनों का घर्षण होता है, इससे विद्युत् उत्पन्न हो जाती है। विद्युत् जल में रहती है जिसे नाना यन्त्रों से उत्पन्न करते हैं। (दूसरा पुष्प २१-८-६२ ई.)

अग्नि जब तक मर्यादा में रहती है, तब तक वह संसार के लिये लाभदायक होती है। जब मानव अग्नि को मर्यादा से पृथक् कर देता है तो उसी काल में वह संसार का विनाश करने वाली बन जाती है। (आठवाँ पुष्प ६-११-६२ ई.)

वायु

दर्शनों में तीन प्रकार की वायु का वर्णन है।

१-इन्द्र, २-यम और ३-बृहस्पति।

१-इन्द्र नाम की वायु से तीन शाखाएँ निकलती हैं :

१-सोन्तति। २-किरणाति। ३-सोमभाम। (पाँचवाँ पुष्प १९-१०-६४ ई.)

जब यह आत्मा इस शरीर को त्यागकर अन्तरिक्ष में जाता है, तो वह अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा यम नाम की वायु में रमण करता है। (तीसरा पुष्प ९-३-६२ ई.)

वायु शक्तिदायक है। यह शरीर त्यागने के पश्चात् आई (हुई) आत्माओं को आकर्षित कर शान्ति देता है, इससे यह प्राणों में लय हो जाती है। (सातवाँ पुष्प १२-७-६२ ई.)

वायु अव्याहत गति वाला होता है परन्तु उसकी गति मन से कुछ धीमी होती है। धीमी गति होने के कारण पार्थिवता में आने से स्थूल बन जाती है। अर्थात् जिस प्रकार के परमाणुओं का इससे मिलान होता है, वह उसी प्रकार की बन जाती है। वैसा ही वह नृत्य करने लगती है क्योंकि यह नृत्य पृथ्वी, जल, वायु आदि सभी के परमाणुओं के स्वभाविक होता है। इन सबके परमाणुओं में गति का

मूल कारण वायु ही है। वायु में यह गति अन्तरिक्ष से आती है, अन्तरिक्ष ही इस गति का स्रोत है। (चौदहवाँ पुष्प १३-३-६० ई.)

अन्तरिक्ष तथा पञ्चतन्मात्राएँ

प्रश्न : भौतिक वैज्ञानिकों का यह मत है कि जब सृष्टि समाप्त हो जाती है और प्रलय रूप हो जाती है, फिर अन्तरिक्ष रचा हुआ किस प्रकार कहा जा सकता है ?

उत्तर इस सम्बन्ध में दार्शनिकों के दो पक्ष हैं।

१-प्रथम पक्ष कहता है कि अन्तरिक्ष अनादि है, रचा हुआ नहीं।

२-दूसरे पक्ष ने इसे रचा हुआ कहा है। उनका तर्क यह है कि अन्तरिक्ष में वायु के सूक्ष्म परमाणु तथा पंचतन्मात्राओं से इसका सम्बन्ध होने के नाते इसको रचा हुआ कहा जाता है।

प्रश्न : जब अन्तरिक्ष रचा हुआ है तो प्रलय के पश्चात् यह प्रकृति कहाँ चली जाती है ?

उत्तर प्रलयकाल में लोक-लोकान्तर की, सब ही की प्रलय हो जाती है।

प्रश्न यह है कि जब अन्तरिक्ष में कोई वस्तु नहीं, पञ्चतन्मात्राएँ भी नहीं, यह तो अनवृत (अनावृत) है इसको रचा हुआ माने या न मानें ?

इसका उत्तर यह है कि जैसे पञ्चतन्मात्राओं का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा के मध्य में होता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष का सम्बन्ध पंचतन्मात्राओं से है। इसमें इतने सूक्ष्म परमाणु होते हैं कि इनको भौतिकविज्ञान से नहीं जाना जा सकता।

प्रश्न : आज भौतिक वैज्ञानिक अणुओं, महाणुओं को यन्त्रों में एकत्रित कर सकता है तो इन्हें क्यों नहीं कर सकता?

उत्तर अणु, महाअणु, त्रसरेणु का सम्बन्ध पृथ्वी से, वायु से, अग्नि से, सूर्य से और चन्द्र से है इसलिये वैज्ञानिक इन्हें बहुत शीघ्रता से आकर्षित कर सकता है और इनसे यन्त्रों का आविष्कार कर सकता है। किन्तु तन्मात्राएँ दो प्रकार की होती हैं

१-जिनका सम्बन्ध इस भौतिकता से होता है।

२-जिसका सम्बन्ध आत्मा-परमात्मा से होता है और कर्मों की गति से होता है।

प्रथम प्रकार की पंचतन्मात्राओं से अणु महाअणुओं को एकत्रित करके यन्त्रों का आविष्कार किया जा सकता है। यह भौतिक विज्ञान का विषय है।

दूसरी प्रकार की तन्मात्राओं का सम्बन्ध आत्मिक विज्ञान से है। इन्हीं से अन्तरिक्ष की रचना मानी जाती है। मन और बुद्धि भी इन्हीं से रचित होते हैं। इस प्रकार अन्तरिक्ष को रचित माना जाता है। (आठवाँ पुष्प ३-४-६४ ई.)

पंचतन्मात्राओं को न तो सूर्य की अग्नि नष्ट कर सकती है और न चन्द्रमा की कान्ति ही शीतल कर सकती है। ये जिस प्रकार पृथ्वी पर हैं, उसी प्रकार सूर्य पर भी रमण कर रही हैं। जब मानव इस शरीर को त्यागता है तो सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल पंच-महाभूत न जाकर सूक्ष्म तन्मात्राएं ही जाती हैं। इस सूक्ष्म तन्मात्राओं द्वारा मानव रमण करता रहता है। इन्हीं तन्मात्राओं के मध्य में मन, बुद्धि, चित्त,

अहंकार की प्रतिभा होती है। इनमें मानव के जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार होते हैं। मानव जब इन तन्मात्राओं को जानकर इनका यन्त्र बना लेता है तो उस वाहन पर सवार होकर सूर्य की यात्रा कर सकता है। उसको सूर्य की अग्नि भस्म नहीं कर पाती। (सोलहवाँ पुष्प ४-८-७१ ई.)

यह अन्तरिक्ष परमाणुओं का समूह है। इसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु भी हैं, महान् से महान् भी हैं, क्लिष्ट से क्लिष्ट भी हैं। जो मानव अपने को तथा अपने गृहस्थ को जैसा बनाना चाहता है, उसी प्रकार के परमाणु अन्तरिक्ष से आने आरम्भ हो जाते हैं। जैसे मानव क्रोध करता है, तो उसे क्रोध आने लगता है क्योंकि क्रोध के परमाणु ही उसके समीप अधिक आने लगते हैं। 'नाग' नाम का प्राण इन्हें अपने में रमण करता रहता है। परिणाम यह होता है कि मानव क्रोध में भस्म हो जाता है। (ग्यारहवाँ पुष्प १-८-६८ ई.)

अन्तरिक्ष को ऋषि-मुनियों ने एक प्रकार का कल्प-वृक्ष कहा है। मानव जैसी कल्पना करता है, जैसे उसके विचार होते हैं, उसी के अनुसार अन्तरिक्ष से वही परमाणु आने प्रारम्भ हो जाते हैं।

जैसे

१-एक आत्मविश्वासी मानव ''अहिंसा परमोधर्मः'' को मानता है तो उसमें इतना ओज और तेज आ जाता है कि वायुमण्डल में ''अहिंसा परमोधर्मः'' के विचरण करने वाले परमाणु उसके निकट आने लगते हैं। वह मानव जहाँ अपने वाक्य उच्चारण करता है वहाँ का वायुमण्डल शुद्ध हो जाता है।

२-यदि किसी गृहस्थी में कलह रहने लगती है तो वायुमण्डल से कलह के परमाणु वहाँ आने लगते हैं, वह गृह कलह का केन्द्र बन जाता है, उसको नरक की संज्ञा दी जा सकती है। अतः सुखी गृहस्थी बनने के लिये यह आवश्यक है कि उस गृह का वायुमण्डल सात्विक हो।

३-यदि कोई मानव लालच के वशीभूत होकर कृपण हो जाता है तो अन्तरिक्ष में कृपणता के परमाणु विराजमान होकर उसके समीप आने लगते हैं, उसकी कृपणता बढ़ती जाती है।

४-यदि कोई प्राणी कामी बनना चाहता है तो वायुमण्डल से ही कामी परमाणु उसमें आने आरम्भ हो जाते हैं, कामना ही कामना उसे प्रतीत होने लगती है।

५-यदि कोई मानव अनाचार से सुन्दर ऐश्वर्य वाला बन जाता है तो उसे आत्मिक शान्ति नहीं मिलती। उसके अनाचार उसके अन्तःकरण को छूते हैं, उसको दुःखित करते हैं। वह व्याकुल हो जाता है, उसका अन्तःकरण भ्रष्ट हो जाता है।

हमारे शरीर में ७२ करोड़ ७२ लाख १० हजार दो सौ दो नाड़ियाँ हैं। किन्तु किसी नाड़ी में मानव द्वारा प्राप्त ज्ञान का भण्डार सिंचित नहीं होता। विचार करने से पता लगता है कि इस शरीर में ज्ञान का भण्डार कहीं नहीं है, बल्कि इसमें ज्ञान प्राप्त करने के यन्त्र लगे हैं, जिनका सम्बन्ध अन्तरिक्ष से होता है। वाक् को श्रोत्र अन्तरिक्ष से लेते हैं उनको विचारधाराओं में ले जाते हैं परन्तु उनको जीवन में लाने की जो अनुपम धारा है उसको ऊँचा बनाना, मानवता

में लाना, यौगिकता में परिणत कर देना यह सब मानवता का कार्य है। (दसवाँ पुष्प १-८-६८ ई.)

ऋषि शृगी जी ने अपने गुरु ब्रह्मा जी महाराज से पूछा कि यह जो अन्तरिक्ष हमें प्रतीत हो रहा है, क्या यह मानव के हृदय में भी होता है?

ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया, यह अन्तरिक्ष हृदय में भी है क्योंकि शरीर तो इसी का सूक्ष्म रूप है। जैसा यह ब्रह्माण्ड है, ऐसा ही यह पिण्ड कहलाया गया है। जैसे इस लोक में साम्य गति हो रही है और अन्तरिक्ष अपना कार्य कर रहा है, नाना परमाणु भ्रमण कर रहे हैं, इसी प्रकार हमारे इस मानव शरीर में भी अन्तरिक्ष होता है, आकाश होता है। यदि इसमें अन्तरिक्ष न होता तो मानव कोई वाक्य उच्चारण ही नहीं कर सकता था। (ग्यारहवाँ पुष्प ११-४-६९ ई.)

शब्द की उत्पत्ति

ब्रह्म विचार में पाणिनी नाम आत्मा का है जो परमात्मा के सम्मुख होती हुई, उसकी डमरू का अनुभव किया करती है। शिव परमात्मा का तथा पार्वती प्रकृति का नाम है। आदि ब्रह्मा ने अपने को जाना, डमरू के शब्दार्थ को सुना, जो डमरू पाँचों स्वरों को लेकर बजा करता है। माता पार्वती नाचती है, उससे नाना ध्वनियों का प्रसार होता है। (सातवाँ पुष्प २२-८-६२)

आदि अनादि विचार

(१) शब्द अनादि नहीं है। अनादि तो केवल आत्मा, परमात्मा, और प्रकृति ही हैं। शब्द तो संक्षिप्त होकर लुप्त हो जाता है। अन्तरिक्ष

के साथ ही यह भी शान्त हो जाता है। पृथ्वी को ऋत् तथा वायु को सत्य कहा जाता है। दोनों के मिलान से साम गान उत्पन्न होता है।

दोनों के पृथक् होने पर गान समाप्त हो जाता है। गान के समाप्त होने पर विज्ञान की महिमा नहीं रहती। बहुत संक्षिप्त परमाणु बनकर यह प्रकृति में लय हो जाते हैं, इसको प्रकृति कहते हैं। (आठवाँ पुष्प २८-९-६३ ई.)

शब्द तभी तक अनादि है जब तक अन्तरिक्ष है। कुछ वाक्य समाप्त होते रहते हैं, कुछ का रूपान्तर होता रहता है।

(२) एक मत यह भी है कि शब्द अनादि है। यदि ऐसा न होता तो इसको इतनी महत्ता न दी जाती। यह मेधावी बुद्धि से प्राप्त होता है। शब्द का रूपान्तर इस प्रकार से हो जाता है कि जब मेधावी बुद्धि सब ग्रन्थियों को पार करके परमात्मा के आनन्द में रमण करती है और वाक् ज्योति तथा विज्ञान को खा जाती है कि यह वाक् कहाँ से आ रही है तथा कहाँ जा रही है?

हमारे शरीर में कोई ऐसी थैली नहीं है और न इतना स्थान ही है जिसमें इतने शब्दार्थ, इतने वेदों का ज्ञान हो। अतः यह अन्तरिक्ष से आता है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द अनादि है।

निष्कर्ष यह है कि शब्द अनादि है। यह प्रकृति में बीज रूप में रहता है। (आठवाँ पुष्प २८-९-६३ ई.)

शुद्ध-अशुद्ध वाक्यों का प्रभाव

जितना भी यह जगत् दृष्टिपात आ रहा है यह प्रभु की एक महती विज्ञानशाला ही दृष्टिपात आ रही है जहाँ प्रत्येक वस्तु पर जब

अनुसन्धान किया जाता है तो उसको विज्ञान की दृष्टि से हम उच्चारण करने लगते हैं कि वास्तव में यह जो जगत् है, वह शब्दालियों का जगत् है। इस अन्तरिक्ष में, प्रभु की इस महान् विज्ञानशाला में मानव जो भी क्रिया कर रहा है, चाहे वह वाणी के द्वारा, कर्म के द्वारा, वचन और प्रीति के द्वारा, और भी जो नाना प्रकार की विचारधाराएँ हैं, उनका यदि मूल स्रोत विचारते हैं तो यह सर्वजगत् प्रभु की विज्ञानशाला है, जिसके होताजन नित्य-प्रति अनुसन्धान कर रहे हैं।

अनुसन्धान एक ऐसा शब्द है जो प्रायः मानव को विभूषित करता है। मानव की विचारधारा को एक शृंखला में रमण कराने वाला है। जब हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हैं कि मानव वाणी का क्या स्वरूप बनता है? मानव जो मन से विचार करता है उसका क्या स्वरूप बनाता है? तब ऐसा प्रतीत होता है कि वायु की तरंगें इस प्रकार की हैं कि जिनसे मानव के शब्दों का भी शोधन होता है।

जो ऊँचा ऊर्ध्वगति वाला शब्द है वह द्यु-लोक में चला जाता है और जो अशुद्ध होता है वह वायु की तरगों में, अग्नि की धाराओं में, जल के प्रवाह में, तरगों में तरंगित हो करके मानव के समीप नाना प्रकार की रूपरेखा बन करके स्वतः ही आ जाता है।

अशुद्ध वाक्य हृदय से किया गया हो या वाणी से, वह तरंगों में इस प्रकार तरिंगत होता रहता है कि वह जल की धाराओं में रमण करने लगता है, वायु की तरगों में तरंगित हो जाता है। वही अशुद्ध वाक्य समाज के द्वारा अतिवृष्टि, अनावृष्टि अथवा रक्तभरी क्रान्तियों में परिवर्तित होकर समाज में स्वतः आ जाता है। इसीलिये हमें कोई

अशुद्ध कर्म नहीं करना चाहिये। वाणी से यदि उच्चारण करें तो वह मधुर हो, उसका जन्म हृदय से होना चाहिये क्योंकि हृदय ही मानव जीवन का स्रोत्र माना गया है।

ऋषि मुनि वही होते हैं जिनका हृदय का शब्द होता है। हृदय का शब्द लोकप्रिय बन जाता है। लोकप्रिय शब्द महत्ता को देने वाला होता है। (पच्चीसवाँ पुष्प पृष्ठ-४९)

ब्रह्मवेत्ता ऋषि जैसे भारद्वाज, पिप्पलाद, शाण्डिल्य आदि का मत है कि प्रकृत्ति के गर्भ में जो चेतना कार्य कर रही है उसको जानने वाला ही सर्व संसार को जानने वाला बन जाता है। वह चेतना मानव के हृदय में अगम्यता को प्राप्त होती रहती है।

हमें अपने आन्तरिक और ब्राह्य हृदय का समन्वय कर देना चाहिये, इस समन्वय को प्राप्त करने के लिये हमें सर्वप्रथम जिज्ञासु होना चाहिये। जिज्ञासु वह होता है जिसमें सत्यवाद आ जाता है। अतः सत्य की प्रतिभा को सर्वप्रथम अपनाना है। सत्य को अपनाने वाले महापुरुष को मान अपमान नहीं होता।

ये जो दिशाएँ हैं, ये प्रभु के श्रोत्र हैं। यही उसके श्रवण करने की आकृति मानी जाती है। दिशाओं में सत् की उत्पत्ति होती है। शब्दों की गति तीव्र बन जाती है। यह शब्द दिशाओं में ओत-प्रोत हो जाता है और विनाशता को प्राप्त नहीं होता। वह ज्यों का त्यों रहता है जैसा मानव उच्चारण करता है। इसीलिये मानव को सत्यवादी और स्पष्टवादी होना चाहिये।

रक्तभरी क्रान्ति का मूल असत्य उच्चारण

अशुद्ध उच्चारण करने से तथा अशुद्ध व्यवहार करने से वायुमण्डल अशुद्ध हो जाता है। जब वायुमण्डल अशुद्ध हो जाएगा तो हमारा राष्ट्र, हमारी मानवता, हमारा जीवन अस्त व्यस्त हो जाएगा। हमें शान्ति प्राप्त नहीं होगी। शान्ति इसीलिये प्राप्त नहीं होती कि जब मानव में अशुद्धवाद आने लगता है, मिथ्यावाद आने लगता है तो राष्ट्रवाद में मिथ्या आ जाता है, उससे वायुमण्डल में अशुद्धवाद आ जाता है। जब मानव का शब्द 'अहिंसा परमोधर्मः' से सुगठित होता है तो हिंसक प्राणी उसको सुनकर अहिंसक हो जाते हैं।

मानव की वाणी में इतना सत्य होना चाहिये तथा कर्मवचन में इतनी सुगठिता होनी चाहिये कि उसमें अहिंसा का अंकुर न आने पाए।

जो मानव मिथ्या उच्चारण करता है, वह पृथ्वी पर भार है, राष्ट्र का अपराधी है। जब वायुमण्डल अशुद्ध हो जाता है तो यहाँ रक्तभरी क्रान्ति हो जाती है, अशान्ति हो जाती है, राष्ट्र अस्त-व्यस्त हो जाता है। (चौदहवाँ पुष्प २६-३-७० ई.)

सत्य तथा पवित्र वाणी की महत्ता

महर्षि पापड़ी ने महर्षि मुद्गल के प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया कि शब्द मानव के अन्तरात्मा से उत्पन्न होता है। उसके बाह्य स्वरूप में अन्तरिक्ष और ऋत् के मिलने पर एक ओज आ जाता है। इस ओज के कारण वह जैसा आत्मा से चला था वैसा इन्द्रियों तक नहीं पहुँच पाता। इन्द्रियों में जाकर उस शब्द की रूपरेखा परिवर्तित हो जाती है। जिस समय यह शब्द अन्तरिक्ष में आता है तो वाणी और

तालुओं में जितना दुर्गुण, दबाव तथा उग्रता होती है वही शब्दों में प्रारम्भ हो जाती है। उस उग्रभाव से उसका ओजस्वी रूप बन जाता है। इसीलिये शब्द की महत्ता है। आत्मा से जो वेदनाएँ व धाराएँ चलती हैं, वे प्राणों के द्वारा रमण करती हुई मन में, मन से इन्द्रियों में और इन्द्रियों से बाह्य रूप बन जाता है। इसीलिए जो हम श्रवण करते हैं, वह आत्मा की ही वाणी है। बिना आत्मा के मानव शब्द उच्चारण नहीं कर सकता। हृदय जितना स्वच्छ और महान् होगा उतना ही उसका वाक्य तपा हुआ होगा। वाक्यों की जितनी तपस्या होगी तथा शोधन किया हुआ होगा उतना ही दूसरे प्राणी के अन्तःकरण को पवित्र बनाने वाला होगा।

जब हमारा हृदय शुद्ध और पवित्र होता है तो हमारे श्वासों से, वाणी के उद्गम से निकले हुए परमाणु वायुमण्डल के वातावरण में परिणत होते हैं। वह वायु हिंसक प्राणियों के अन्तःकरण को छूती है। वे परमाणु इतने प्रबल तथा शक्तिशाली होते हैं कि अन्तःकरण को छूकर वहाँ के हिंसक परमाणुओं को नीचे दबा लेते हैं। ''अहिंसा परमोधर्मः'' के परमाणु उनके स्थान को ग्रहण कर लेते हैं। इसलिये इन हिंसक प्राणियों की वेदना हिंसक न रहकर ''अहिंसा परमोधर्मः'' बन जाती है। (बारहवाँ पुष्प १८-३-६८ ई.)

द्यु-लोक

जितना भी हमारा जीवन है, हमारे जीवन का जो तारतम्य है, उसका सम्बन्ध द्यु-लोक से बहुत विशेष होता है। क्योंकि हमारे शरीर में जितनी भी प्रक्रियाएँ हैं, उन सब प्रक्रियाओं का स्रोत वह द्यु-लोक

माना गया है। उनके प्राप्त विद्युत् रूपों में हम रमण भी किया करते हैं। उसी में रमण करके हम यह विचारने लगते हैं कि वास्तव में मानव का तो सारा जीवन ही विद्युत् माना गया है। शब्द की विचारधारा उस विद्युत् में है। तरँगे जितनी भी नेत्रों की उन्नीद है, अस्वात् है, उस शब्द का विद्युत् और वायुमण्डल से ही सम्बन्ध है। (पन्द्रहवाँ पुष्प पृष्ठ ४९)

विचारों का प्रत्यावर्तन

किसी कार्य में समय-समय के अनुसार प्रकृति का रूप बन जाता है। जैसा प्रकृति का रूप होता है, वैसे मनुष्य के विचार होते हैं। जैसे तत्त्व होते हैं, ऐसे ही यहाँ कारनामे (कार्य) होने लगते हैं। जब कार्य होने लगते हैं, तो उन कर्मों को भोगने के लिये ये सब आत्माएँ आने लगती हैं।

मानव जैसे विचार बनाता है, वैसे ही वाक्य अन्तरिक्ष में रमण करते हैं। जैसी भावनाएँ अन्तरिक्ष में रमण करती हैं वैसी वायु हो जाती है। यह वायु मेंघों से, वैश्वानरों से और प्रकृति से मिलान करती है। समूह बन करके वही विचार सूक्ष्म रूपों से मानव पर आक्रमण करने लगते हैं। जब इनको भोगते हैं जो कष्ट होता है। जब तुमने इसे किया है, तो भोगने में कष्ट क्या है? मानव आत्मिक तत्त्व जानने का कर्म करेगा तो तत्त्ववेता बनेगा। इसलिये यहाँ ऊँचे से ऊँचा कर्म किया जाए। जिससे यह प्रकृति तुम्हारे अधीन होकर तुम्हारी इच्छा के अनुसार फल देने वाली बने। वे कर्म नहीं करने चाहिये जिनसे यह प्रकृति तुम्हारे ऊपर छा जाए। (दूसरा पुष्प २६-९-

६४ ई.)

विश्वभान (समष्टि) मन

जिस प्रकार मानव शरीर में मन की प्रतिभा है, उसी प्रकार संसार में तथा पृथ्वी में मन की प्रतिभा विश्व-भान (समष्टि) बनकर रहती है। मन को विश्व भान (समष्टि) इसलिये कहते हैं कि यह संसार का विभाजन करने वाला है। इसी के द्वारा पृथ्वी में रसों का विभाजन होता है। एक वृक्ष से दूसरे में रसों में भिन्नता होती है। जितना भी रस है प्राणों के द्वारा उसकी प्रतिभा चलती है किन्तु इनका विभाजन मन के द्वारा होता है।

मन की व्यापकता या सार्व भौमत्व

ऋषियों ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि मन को पवित्र बनाया जाए। मन इस संसार में वनस्पपतियों का सूक्ष्म रस कहलाता है। जिनकी प्रतिष्ठा द्यु-लोक में रमण करने वाली होती है। यह मन संसार में नाना प्रकार की रचनाएँ रचने वाला है। नाना प्रकार की वनस्पतियों तथा औषधियों का रस परमाणु बनकर अन्तरिक्ष में रमण कर जाता है। उसी में मन की उपलब्धि तथा उसकी धारा की प्रतिष्ठा होती है। उसी को ''सार्वभौम-मन'' (समष्टि-मन) कहा जाता है।

मन की एक ऐसी धारा होती है कि यदि वह पृथ्वी में नहीं होगा तो प्राण का तथा नाना प्रकार की वनस्पतियों का उत्पादन नहीं होगा। वसुन्धरा के गर्भस्थल में नाना प्रकार की वनस्पतियों का जन्म इसीलिये होता है, क्योंकि मन में एक महत्ता, सार्वभौमिकता तथा विभाजन करने की महती शक्ति होती है। यह मन प्रकृति के तत्त्वों

का तथा प्रकृति के वनस्पतियों का घृत कहा गया है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १२-२-७१ ई.)

सूर्य में अग्नि की प्रधानता है। वह शीतल पार्थिव तत्त्व प्रधान लोकों को तपाने का कार्य करता है, परन्तु वह मन को नहीं तपा सकता क्योंकि मन सूर्य में भी है।

यह मन प्रकृति का सूक्ष्म तत्त्व होने के कारण सभी लोक लोकान्तरों में रमण करता है। अग्नि मन और प्राण को नष्ट नहीं कर सकती। यदि अग्नि में प्राण न रहे तो अग्नि क्रिया शुन्य हो जाएगी तथा वायु में न रहने पर वायु शान्त हो जाएगी।

ये लोक लोकान्तर मन और प्राण के द्वारा ही गति करते हैं। इनका परस्पर मिलान नहीं हो पाता। प्रलयकाल में सबसे प्रथम मण्डलों का प्राण और मन एक आभा में परिणत होता हुआ अपने में रमण करता रहता है। (बीसवाँ पुष्प २८-३-७४ ई.)

मन प्रकृति का सूक्ष्मतम परमाणु है। आत्मा के सन्निधानमात्र से इसका स्वभाव जागरूक हो जाता है। इस मन की आभा से ही सर्वत्र स्वभाव जागरूक हो जाता है। वायु की गति मन से कुछ सूक्ष्म होती है। अन्तरिक्ष द्वितीय श्रेणी का तत्त्व है। इसमें अग्नि तथा जल के परमाणु अधिकतर मिश्रित रहते हैं। मन की इतनी अव्याहत गति होती है कि वह एक क्षण में मानव के शरीर को अस्वस्थ, रुग्ण कर देती है। उसे चंचल बनाकर जीवन को अस्वस्थ कर देती है। अव्याहत गति का तात्पर्य है, अधिक क्षमता वाला होना।

विभाजन का मूल मन

पृथ्वी के गर्भ में प्रत्येक तत्त्व का तथा प्रत्येक पदार्थ का भिन्न-भिन्न प्रकार का रसास्वादन होता है। एक भूमि में नाना प्रकार की वनस्पति उत्पन्न होती है। किन्तु उनका भिन्न-भिन्न प्रकार का रसास्वादन होता है। यह सब मन की विशेष रचना है। मन ही संसार का विभाजन करता है तथा पृथक्-पृथक् राष्ट्रों का निर्माण करता है। (सत्रहवाँ पुष्प ९-६-७१ ई.)

पृथ्वी में जो विभाजन क्रिया होती है वह उसमें विद्यमान मनस्तत्त्व के कारण होती है। एक सूक्ष्म से स्थल में उत्पन्न हुई वनस्पतियों का भिन्न-भिन्न स्वाद होता है। मनस्तत्त्व से, प्राण की सत्ता से रसों का विभाजन होता रहता है। पृथ्वी के कणों में, परमाणुओं में नाना प्रकार के स्वाद होते हैं। जिस पृथ्वी में कसैला, कसैले में कड़वापन होता है, कड़ुआपन में धीमा मधुर होता है, वहाँ स्वर्ण जैसी धातु का जन्म होता है। (बारहवाँ पुष्प ८-४-६९ ई.)

प्राण विश्व-भान या सामान्य (समष्टि)

जितने भी चराचर प्राणी हैं, वे सब प्राणधारी हैं यह प्राण ही संसार को चला रहा है। प्राण दो प्रकार के होते हैं

१-सामान्य प्राण।

२-विशेष प्राण।

१-सामान्य प्राण वह पदार्थ है, जो संसार को चला रहा है। लोक-लोकान्तरों में रमण कर रहा है, सूर्य मण्डल में, वायुमण्डल में, जल में, अन्तरिक्ष में, सब में ओत-प्रोत है।

२-विशेष प्राण वह है, जो आत्मा की आज्ञा से चला करता है।

हमारे शरीर में आत्मा के अनुकूल पाँच प्राण माने गए हैं। १-प्राण, २-अपान, ३-व्यान, ४-उदान, ५-समान। (तीसरा पुष्प १२-३-६२ ई.)

जीवन और प्रलय का मूल प्राण

जब मानव दिव्य दृष्टि से इस जगत् को देखता है, तो सर्व जगत् प्राण के मुख में जाता प्रतीत होता है। जब प्राण और अपान दोनों वायुओं का संघर्ष हो जाता है तो वह मानव समाज को ''मैं'' में तथा अज्ञानता में प्रतिष्ठित होकर ईश्वर को अपने से दूर कर रहा था, वह भी अपान के मुख में जाने को उद्यत प्रतीत होता है। यह प्राण ही इस संसार को निगल जाता है और वही जीवन का प्रदाता है। जितने भी यन्त्र हैं, आग्नेयास्त्र हैं, ब्रह्मास्त्र हैं, जलास्त्र हैं; चन्द्रमा में जाने वाले यन्त्र हैं, मंगल में जाने वाले यन्त्र हैं; अणुवाद तथा परमाणुवाद हैं, वे सब प्राण की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। (चौदहवाँ पुष्प १३-८-७० ई.)

मन और प्राण की संलग्नता

इस संसार में विभाजन करने वाला मन है तथा जिसका विभाजन किया जाता है, वह प्राण है। मन ज्ञान का प्रतिनिधि होने के नाते ही ऐसा करता है। जैसे एक मानव जब अपने परिवार का परिचय देता है कि यह माता है, यह पुत्री है, यह पत्नी है, यह गुरुजन है आदि-आदि; तो मन की गति भी साथ-साथ उसी प्रकार गति करती रहती है। विभिन्न सम्बन्धियों के सामने आने पर उसी प्रकार की प्रवृत्ति बन जाती है।

इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में, लोक लोकान्तरों में, सूर्य की

किरणों में सर्वत्र मन और प्राण ही कार्य कर रहे हैं। ब्रह्माण्ड में इनके साथ परमात्मा कार्य कर रहा है। मानव शरीर में यह आत्मा कार्य कर रहा है। इसी के आधार पर यह संसार चल रहा है।

प्रभु-मिलन का मार्ग

यह आत्मा जब मन और प्राण के ऊपर सवार हो जाता है तो यह प्रभु से मिलान करने के लिये चल देता है तथा मिलान कर लेता है।

मन और प्राण को एकाग्र करके आत्मा इन पर सवार हुए बिना कभी भी प्रभु से मिलान नहीं कर सकता। जो मानव प्रभु से मिलान कर लेता है, वह इस ब्रह्माण्ड के सभी लोक-लोकान्तरों को जान लेता है। सारे ब्रह्माण्ड में सूर्य-मण्डल, चन्द्र-मण्डल, आरुणी, वशिष्ठ, अरुन्धती, रोहिणी, जेठाय (ज्येष्ठा), शनि, सोमकेतु, अचंग, ध्रुव आदि आदि में केवल मन और प्राण ही सुचारू रूप से कार्य कर रहे हैं। इसीलिये जो मानव मन और प्राण की गति को एकाग्र कर लेता है और जब उस पर सवार हो जाता है तो वह योगी सर्व-ब्रह्माण्ड को अपने में समाहित कर लेता है। (सोलहवाँ पुष्प १७-१-७१ ई.)

अन्तरिक्ष में तरंगे रमण कर रही हैं। हमारा शब्द व्यापक बनकर एक क्षण में अरबों-खरबों योजन की दूरी पर चला जाता है। उसकी यह गति विद्युत-प्राण के कारण होती है। प्राण के साथ-साथ मन रहता है। शब्दों का विभाजन मन के द्वारा होता है। जहाँ मन नहीं होगा, वहाँ शब्दों का विभाजन नहीं होगा। राष्ट्र का विभाजन नहीं होगा, विज्ञान का विभाजन नहीं होगा। एक-दूसरे यन्त्र का निर्माण

किसी काल में हो ही नहीं पाएगा। (पन्द्रहवाँ पुष्प २०-६-६३ ई.)

ऋत् और सत्

प्रकृति में परमात्मा की नियमबद्ध क्रिया को ऋत् कहते हैं। इस प्रकृति की प्रक्रिया तथा हमारे शरीर की प्रक्रिया सब ऋत् कहलाती है। ऋषियों ने इस ऋत् के ऊपर पोथी की पोथी लिखी हैं। इस ऋत् को जानकर ही ऋत्विज बन जाता है। प्रत्येक मानव, प्रत्येक ब्रह्मचारी, प्रत्येक राजा को इस ऋत् को जानना चाहिए। (पाँचवाँ पुष्प १८-१०-६४ ई.)

तपस्या ही एक रूप में ऋत् का रूप धारण कर लेती है। मानव जिस अवस्था और आस्था में संयम के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, इसी को ऋत् कहते हैं। ऋत् नाम ही तपस्या का है। ऋत् से ही यह संसार क्रियात्मक होता है। ऋत् का दूसरा नाम सत्य है। ऋत् नाम ब्रह्म का है, चैतन्य शक्ति का है। क्योंकि उसी के आश्रित हम सब जकड़े रहते हैं उसी के कटिबद्ध रहते हैं। हम सदैव ऋत् और सत् के आँगन में रमण करते रहते हैं जब हम विज्ञान के क्षेत्र में, तप के क्षेत्र में, मनस्तत्त्व के क्षेत्र में विचारते हैं, तो यह सब ऋत् का ही वर्णन है। जिस शक्ति से क्रिया करते हैं, तपते हैं, उसका नाम ऋत् है। (बारहवाँ पुष्प ८-४-६१ ई.)

ऋत् के सम्बन्ध में जानकारी करने के लिये आदि ऋषि शाण्डिल्य, मुद्गल, सुकेतु, भृगु आदि पापड़ी ऋषि के पास गए।

प्रश्न किया कि ऋत् क्या है ?

पापड़ी ऋषि ने उत्तर दिया :

ऋत् उसे कहते हैं जिसमें ब्रह्म का वास होता है अर्थात् जिसमें ब्रह्म परिणत रहता है। ऋत् और सत् दो ही पदार्थ हैं। जिनमें अन्तर यह है कि सत्यता के गर्भ में कहीं-कहीं मिथ्या रहता है और कहीं-कहीं मिथ्या के गर्भ में सत्य भी रहता है। ऋत् ऐसा शब्द है, ऐसी एक रचना है कि वह प्राणीमात्र के हृदय में ओत-प्रोत हो रही है। ऋत् कहते हैं विद्युत् को। जो विद्युत् सारे संसार के प्राणीमात्र में रमण कर रही है। जिसके क्रियात्मक होने से ही वे सब क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। उसी का नाम ऋत् है। ऋत् ही हमारा जीवन है। इसी से हमारे जीवन का प्रसारण होता है।

सत्य तीन प्रकार का होता है।

१-सत्य ही ब्रह्म है, या ब्रह्म ही सत्य है।

२-प्रकृति सत्य प्रतीत होती है।

३-जीवात्मा सत्य प्रतीत होता है।

परन्तु प्रकृतिवाद और जीवात्मा के सत्य में परिवर्तन आता रहता है और ब्रह्म जो सत्य है, उसमें परिवर्तन नहीं होता।

इसीलिये उसके गर्भ में यह संसार समाहित रहता है। विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है कि सत्य केवल ब्रह्म है, जो सर्वत्र विद्यमान है। वह सच्चिदानन्द है। शुद्ध-बुद्ध निरंजन है, उसी को सत्यदेव कहते हैं।

प्रकृति हमें कहीं स्थूल रूप में प्रतीत होती है, कहीं सूक्ष्म रूपों में। परन्तु उसका स्थूलता में भी अभाव है, तथा सूक्ष्मता में भी। इसका कारण यह है कि जो उसकी क्रिया है, यह स्वयं प्रकृति की नहीं है। वह सत्य अवश्य है किन्तु सत्यता में अभाव है।

जैसे एक मानव है। इस शरीर से जब यह आत्मा निकल जाता है, तो उस शरीर की सत्यता में परिवर्तन आ जाता है। यद्यपि इस पर सूक्ष्मता से विचारने पर स्पष्ट होता है कि इस शरीर का अभाव नहीं हुआ। क्योंकि जिन कणों से वह बना हुआ था वे तो त्यों के त्यों हैं। उनका अभाव नहीं है। किन्तु उनके अभाव को इस कारण स्वीकार करना पड़ता है कि वे प्रकृति के कण हैं और उनमें जो क्रिया है, वह किसी चैतन्य की है किसी सत्य की है। इसीलिये उस सत्यता में परिवर्तन और अभाव प्रतीत होता है।

ऋत् और सत्य उसी को कहते हैं जिसके गर्भ में हिंसा नहीं होती। उसमें ''अहिंसा परमो धर्मः'' और सत्यता की पुट होती है। यदि सत्य नहीं होगा तो ''अहिंसा परमो धर्मः'' भी नहीं होगा। जहाँ सत्य और ब्रह्म होता है, वहाँ भय नहीं होता, लज्जा और शंका नहीं होती। वहाँ ''अहिंसा परमो धर्मः'' होता है। वही परम धर्म कहलाया गया है।

जब हम यह जान लेते हैं कि संसार की चेतनावादी प्रक्रिया कहाँ से आती है, उसका मूल क्या है? इसी को ऋत् कहते हैं। जिस चेतना से हम इन्द्रियों का पान करते हैं उसका नाम ऋत् है। (बारहवाँ पुष्प ८-३-६९ ई.)

संसार में तीन प्रकार की मीमांसा होती है

१-एक आत्मिक मीमांसा।

२-एक प्रकृति की मीमांसा।

३-एक ब्रह्म की मीमांसा।

आचार्यों ने कहा है कि इन तीनों मीमांसाओं को दो मीमांसाओं में ले जाओ। १-ऋत् और २-सत् में ले जाओ। इस प्रकार से १-ऋत् और २-सत् की मीमांसा रह जाती है।

अन्य ब्रह्मवेत्ता महापुरुषों ने भी कहा है कि इन दोनों में से सूक्ष्म करके एक चेतना में आ जाओ तो अन्त में उसकी एक ही मीमांसा चेतना रह जाती है।

आरम्भ में तीन की मीमांसा चलती है। आत्मा, परमात्मा और प्रकृति की। परन्तु जब मीमांसा करते हुए इसका अन्त होता है, तो अन्त में ज्योति आ जाती है और चेतना आ जाती है और ''नेति-नेति'' कहकर शान्त कर दिया जाता है। (बारहवाँ पुष्प २८-३-७१ ई.)

वर्षा

सूर्य रूपी इन्द्र की अश्व रूपी किरणें समुद्र को तपाती हैं तथा ऊर्ध्व बनाती हैं। चन्द्रमा सोम बनकर उसकी किरणों को आकृष्ट करता है। उसकी आभा कान्ति बनकर समुद्र से मिलान करती है। उसकी कान्ति के साथ वायु का सम्बन्ध करके तथा अग्नि का उसमें पुट लगाकर जल ऊर्ध्वगति को प्राप्त हो जाता है। ऊर्ध्व-गति में अग्नि तथा वायु के द्वारा मन्थन किया जाता है। सूर्य की नाना किरणें इसमें अपना कार्य करती हैं। इसी मन्थन के पश्चात् मेघों के द्वारा वृष्टि होती है। (इक्कीसवाँ पुष्प १०-८-६६ ई.)

वर्षा के सम्बन्ध में अलंकारिक कथाओं का सारांश

एक समय यह पृथ्वी विष उगलने लगी। देवताओं द्वारा यज्ञ किये

जाने पर यह शान्त न हुई। देवाताओं ने इन्द्र और शिव के आसन पर जाकर याचना में निवेदन किया कि हे शिव ! तू हमारा कल्याण कर। कहा जाता है कि उस समय शिव ने विष को अपने कण्ठ में धारण कर लिया। धीमा-धीमा अमृत देकर इस संसार को आनन्दित करते हुए संसार को शान्ति का प्रतीक बनाया।

इसका आशय इस प्रकार से है कि शिव नाम सूर्य का है। जब सूर्य का ग्रीष्म ऋतु में तेज चलता है तो यह पृथ्वी विष उगलने लगती है, अर्थात् इसमें ऊष्णता उत्पन्न होने लगती है।

वर्षा ऋतु आती है। सूर्य की किरणों का विभाजन होता है। इन्हीं किरणों के प्रभाव से मेंघ मण्डलों से धीमी-धीमी वर्षा होने लगती है। जब वृष्टि होती है तो शिवरूपी सूर्य विष को अपनी किरणों में धारण कर लेता है। इन्हीं किरणों से धीमी-धीमी वृष्टि होकर यहाँ नाना प्रकार की सोमलताएँ, वनस्पतियां और अनादि अत्पन्न होते हैं जिनसे मानव का जीवन चलता है।

इन्द्र नाम वायु का है। समुद्रों से जल का उत्थान होता है। जल से मेघ बनते हैं। जब मेघ अपना वकासुर रूप धारण कर लेते हैं उस समय देवता कहते हैं कि हे भगवन् ! हम पर आनन्द की वृष्टि करो। यह वकासुर हमें नाना प्रकार के कष्ट देता चला जा रहा है। इस आततायी से हमारे प्राणों की रक्षा करो।

उस समय इन्द्र रूपी वायु और उसकी पत्नी शचि रूपी विद्युत् अपने प्राण रूपी वज्र को लेकर इस वकासुर रूपी मेघ को नष्ट करने वाली बनती है। उन मेंघों को समाप्त करके धीमी-धीमी वृष्टि होना ही

संसार के लिये कल्याणकारी है। हमें कल्याण में ही अपने आनन्द को जानना चाहिये। हमें कल्याण ज्ञान से प्राप्त होता है। (पाँचवाँ पुष्प १९-१०-६४ ई.)

एक बार असमय में अतिवृष्टि के कारण सब कुछ नष्ट हो गया। समाज में त्राहि-माम्' मच गया। तब सब मिलकार प्रजापति के पास गए। अपने कष्टों का वर्णन किया। प्रजापति ने मेंघों से पूछा कि मेघो तुम तो बड़े स्वच्छ और पवित्र हो। क्योंकि जल रूप ही सतोगुणी होता है। यह मानव की कामनाओं को शान्त कर देता है। यह अतिवृष्टि करके समाज का विनाश क्यों कर दिया?

मेघों ने कहा कि उन्होंने इन्द्र की आज्ञा से यह किया है।

इन्द्र को बुलाकर पूछा तो उसने कहा कि मेरी पत्नी शचि की यह इच्छा थी।

शचि को बुलाकर पूछा कि हे शचि ! तुम तो जगत् की माता हो, जगत् में रमण करने वाली हो, यह तुमने क्या किया ?

शचि ने कहा कि उसने समुद्रों की इच्छा पूरी की।

समुद्रों ने कहा कि उन्होंने आदित्य की इच्छा पूरी की।

आदित्य ने बताया कि उसने पृथ्वी के कहने पर यह किया। पृथ्वी से पूछा तो उसने कहा कि मैं क्या करूँ ? जब यह प्रजा पाप कर्म करने लगती है तो मैं उस पाप से सन (लिप्त) हो जाती हूँ। तब मेरी इच्छा जल से स्नान करने की होती है। मेरी यह वेदना आदित्य तक जाती है। आदित्य नाम सूर्य का है। सूर्य से तेज का उत्थान होता है। उसी तेज से जलों का उत्थान होता है। उसी से मेघ बनते

हैं। शचि नाम विद्युत् का है और इन्द्र नाम वायु का है। मेघ, विद्युत् तथा वायु का संघर्षण होने से वर्षा होती है, प्रजा के पापों के कारण कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि हो जाती है। (बारहवाँ पुष्प ५-३-६९ ई.)

जाबाला के पुत्र, महर्षि गौेतम के शिष्य सत्यकाम द्वारा सोलह कलाओं में ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन

अपने गुरु महर्षि गौतम के आदेशानुसार सत्यकाम द्वारा चार सौ गऊओं को चराते-चराते, जब वे एक सहस्रो हो गयी तो सत्यकाम उन्हें लेकर गुरु के पास वापस चला। तब एक वृष (साँड) ने गऊओं में से आकर कहा कि मैं चार कलाओं का ज्ञान कराए देता हूँ।

सोलह कला

१ प्राचीदिक् (पूर्व दिशा) : इस दिशा में हमारे लिये प्रकाश उदय होता है, सूर्य उदय होकर प्रकाश देता है। इस समय नवीन जीवन का प्रसारण हो जाता है, आनन्द बिखरता है। उस आनन्द को हम पान करते हैं, उसी आनन्द को पान करने से हमारा जीवन महत्ता में परिणत हो जाता है।

२-दक्षिण-दिक् : इस दिशा में भी प्रभु (इन्द्र) रहता है। संसार की सुन्दरताएँ विराजमान रहती हैं। यह मानव का जीवन भी दक्षिण-दिशा के तुल्य है। इससे अन्धकार आता है तो इससे मानव को जीवन तथा उत्सव प्राप्त होता है।

३-प्रतीचि-दिक् (पश्चिम दिशा) : यह हमारे लिये अन्न की वृष्टि करती है, पृथ्वी में ओज बौर तेज आता है। जिससे वह वनस्पति के

योग्य हो जाती है। पूर्व दिशा से तथा पश्चिम दिशा दोनों से गठित होकर वृष्टि होने लगती है। उस वृष्टि से सुन्दर-सुन्दर वनस्पतियों का जन्म होने लगता है। हमें उन वनस्पतियों को जानना चाहिये। जो अन्न उत्पन्न होता है उसे हम पान करते हैं। इसके ओज और तेज की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इस दिशा से मानव का जीवन कितना गठित रहता है, विचारणीय है।

४-उदीचि-दिक् (उत्तर दिशा) : इस दिशा में शनि का प्रादुर्भाव होता है। 'शनि' कहते हैं ज्ञान को। ज्ञान की ज्योति को 'शनिश्चराय नमः' कहते हैं, जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है। उत्तरायण दिशा में जब महापुरुष उत्पन्न होते हैं तो उसी में अपना जीवन त्याग देते हैं। उत्तरायण कहते हैं प्रकाश को तथा दक्षिणायण कहते हैं अन्धकार को। अन्धकार और प्रकाश दोनों आते रहते हैं, दोनों में सँघर्ष होता रहता है।

इसके पश्चात् वायु देवता ने चार कालाओं का ज्ञान कराया।

५-पृथ्वी कला : हम पृथ्वी पर जन्म लेते हैं। नाना संस्कारों को लेकर पृथ्वी पर नाना खाद्य तथा खनिज पदार्थों के जानने के लिये आते हैं, जीवन भर इसी की खोज करते रहते हैं। यह पृथ्वी हमें खनिज पदार्थ देती है। अन्न देती है, जिसको प्रत्येक प्राणी पान करके पुलकित होता है। वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। इन सभी पर अनुसन्धान करना चाहिये।

६-अन्तरिक्ष-कला : अन्तरिक्ष में सभी शब्द समाहित हो जाते हैं और नित्य रहते हैं। इस शरीर को त्यागने के पश्चात् भी नाना परमाणु

इसी में समाहित हो जाते हैं। यदि यह अन्तरिक्ष न होता तो मानव एक भी शब्द उच्चारण नहीं कर सकता था। प्राणीमात्र जितने पदार्थों का त्याग करते हैं वे सभी अन्तरिक्ष में हो जाते हैं।

हमारे शरीर में यदि अन्तरिक्ष न हो, इस भूमण्डल में अन्तरिक्ष न हो तो मानव का जीवन कभी ऊँचा नहीं बन सकता। इस वाक् की रचना अन्तरिक्ष से होती है। मानव शरीर में जो नाभि-केन्द्र है उसमें सुषुम्णा नाम का एक यन्त्र है, यही अन्तरिक्ष से शब्दों को लेता है। उसी शब्द की रचना मन के द्वारा इस उदर में नाभि केन्द्र से हो जाती है। नाभि केन्द्र से प्राण के साथ-साथ वह शब्द बनाता है तो वही शब्द मानव की वाणी के द्वारा आ जाता है। मानव वाणी से उसी शब्द का प्रसार कर देता है।

७-समुद्र-कला : समुद्र पृथ्वी पर मेंखला के रूप में है। पृथ्वी से जो विष का जन्म होता है, उसे जल अपने में निगलता रहता है तथा अमृत देता रहता है। इस अमृत से मानव का जीवन पृथ्वी पर संचारित होता रहता है। यज्ञशाला में ब्रह्मा सर्वप्रथम यही देखता है, यज्ञशाला में मेखला है या नहीं। सुन्दर जल का पात्र है या नहीं क्योंकि ये ही यज्ञशाला में समुद्र का रूप धारण करते हैं।

यज्ञ से उत्पन्न अशुद्ध परमाणुओं को वह जल अपने में शोषण करता रहता है। सुन्दर परमाणुओं को वह देवताओं को अर्पित करता रहता है। समुद्र में नाना प्राणी रहते हैं वे अशुद्धि को निगलते रहते हैं।

मानव को जो क्रोध आता है, उसका भी समुद्र में जाकर मिलान

होता है। काम वासना में जब मानव अधिक तल्लीन होता है तो वे तरंगें भी अन्तरिक्ष में रमण करती हुई समुद्र में मिलान करती हैं उनके विष को समुद्र शोषण कर लेता है।

८-वायु-कला : वायु का स्वयं का अपना गुण नहीं होता। यदि उसमें जल के परमाणु आ जाते हैं तो वह शीतल हो जाती हैं। अग्नि के परमाणु आने पर वही अग्नि रूप धारण कर लेती है। नाना प्रकार की वायु बनकर मानव के अन्तरात्मा को धृति बना देती है।

आत्मा जब शरीर को त्याग देता है तो सबसे प्रथम वह अपने संस्कारों को लेकर वायुमण्डल में जाता है। वायुमण्डल में वायु के नाना प्रकार के क्षेत्र होते हैं, इन क्षेत्रों में भ्रमण करता हुआ यह आत्मा संस्कारों के साथ-साथ आवागमन के आवेशों में आता रहता है, इस पर अनुसन्धान होना है।

आगे अग्नि देवता ने चार कलाओं का ज्ञान कराया

९-चन्द्र-कला : चन्द्र-कला में नाना प्रकार की कान्ति आती है। यह कृषक की भूमि को अमृत प्रदान करती है, माता के जरायुज में बालक को अमृत प्रदान करती है। चन्द्रमा अपनी किरणों के द्वारा अमृत को बिखेरता रहता है। कहीं चन्द्रमा की कान्ति इतनी शीतल होकर जाती है कि वहाँ रत्नों जैसी सुन्दर वस्तुओं का जन्म होता है, पात बनती है। सूर्य की इन्द्र नाम की किरण उस पात को शुद्ध बनाती है, उससे नाना धातुओं का जन्म होता है।

१०-सूर्य-कला : सूर्य से नाना प्रकार की किरणें उत्पन्न होती हैं। इन किरणों की कान्ति संसार में आकर मानव के लिये नेत्रों का

देवता बनकर मानव का स्वामित्व करने लगती है। नेत्र अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं। इनका क्षेत्र महत्ता में परिणत हो जाता है। सूर्य सहस्रो भगों वाला है, भग नाम किरण का है।

११-विद्युत्-कला : विद्युत् अन्तरिक्ष में, जलों में, अग्नि में तथा पृथ्वी में बिखरी रहती है। इसको एकत्रित करने के लिये यन्त्रों को स्थिर किया जाता है। संसार की जो महान कृति है, वह सब विद्युत् में ही रमण करती रहती है। यदि संसार में विद्युत् न हो तो मानव कोई वाक्य उच्चारण नहीं कर सकेगा, राष्ट्र का पालन नहीं होगा, एक मानव का दूसरे से मिलान नहीं होगा। एक लोक का दूसरे से मिलान होकर प्रलय हो सकती है। विद्युत् को जानना हमारे लिये बहुत अनिवार्य है।

१२-अग्नि-कला : यह अग्नि अनेक प्रकार की होती है। गार्हपत्य, आहवनीय, नचिकेता, वैश्वानर आदि। एक अग्नि ब्रह्मचारी के हृदय में प्रदीप्त रहती है जिससे वह ब्रह्म में विचरण करता हुआ उसमें लीन रहता है। आगे जितना व्यवहार पति-पत्नी में, पिता-पुत्र में, माता-पिता में, पिता-पुत्री में, राजा-प्रजा में है, लोक-लोकान्तरों में है, वह सब अग्नि कला के कारण ही है। यदि तेज नहीं होगा तो संसार में आपः (जल) भी नहीं होगा। यदि आपः (जल) नहीं होगा तो अन्न आदि किसी प्रकार की उत्पत्ति नहीं होगी। यज्ञ में भी अग्नि में साकल्य की आहुति दी जाती है।

आगे आदित्य ने चार कलाओं का ज्ञान काराया।

१३-मन कला : संसार में मन ही मानव को विभाजन की ओर

ले जाता है। माता, बहिन, पत्नी आदि का विभाजन मन से ही होता है। यह कला मानव को परमात्मा तक ले जाती है। मन के कारण ही मानव एक-दूसरे का अपमान करता है, इसी के कारण लज्जित होता है। ऐसे कार्य मन के द्वारा ही कर देता है कि जिससे उसकी अपकीर्ति हो जाती है, मानवता नष्ट हो जाती है।

हमें चिन्तन करते हुए मानवता को मननशील बनाना चाहिए। यदि मानव मननशील नहीं बनेगा तो धर्म का क्षेत्र भी नष्ट हो जाएगा। मानवत्व को ही धर्म कहते हैं, जिसका जीवन धर्म में पिरोया हुआ हो उसे मानवता कहते हैं।

१४-चक्षु-कला : चक्षुओं से मानव दृष्टिपात करता है। धर्म-अधर्म का निर्णय भी चक्षुओं से ही होता है। जैसे नेत्रों की ज्योंति किसी सौन्दर्य को देखने चलती है, यदि वह उसी प्रकार की रहती है जैसी चली थी, तो धर्म है; यदि वह इस सौन्दर्य से दूषित हो जाए तो अधर्म है। इस ज्योति को नियन्त्रण में करना और ज्ञान के क्षेत्र में बाँध देना है।

१५-घ्राण-कला : यह मन्द सुगन्ध को ग्रहण करती है। यह कला वायु के परमाणु, जल के परमाणु तथा पृथ्वी के परमाणुओं का प्रतिनिधित्व करती है।

१६-श्रोत्र-कला : श्रोत्रों से सभी प्रकार के शब्दों का श्रवण करते हैं। यदि अशुद्ध वाक्यों का श्रवण करते हैं, तो हमारे श्रोत अशुद्धता को प्राप्त हो जाते हैं। जब इन्हीं से शुद्ध पवित्र वाक्यों को ग्रहण करते हैं तो वह हमारी कला बन करके रहती है। इन्हीं श्रोत्रों से हम मान-

अपमान के क्षेत्र में चले जाते हैं। हम किसी पर आक्रमण करने से पूर्व अपने पर विचार कर लें कि हमारी मानवता कितनी सुगठित और सुदृढ़ है।

भगवान् कृष्ण इन सोलह कालाओं को जानने वाले थे तथा भगवान् राम बारह कला जानते थे। (दसवाँ पुष्प ४-५-६८ ई.)

प्रकृति का प्रभाव

जिस प्रकार जुगनुओं का रात्रि में प्रकाश मिलता है और पिशाच योनियों को प्रकाश प्रतीत होता है, वे सूर्य के प्रकाश को नहीं लेना चाहते हैं वैसे ही आज का तार्किक भी बुद्धिमान बन बैठा है। वह कहता है कि हमारे शरीर में आत्मा है ही नहीं। यह शरीर तो पंचभौतिक है उसी में रमण कर जाएगा। जब उनसे पूछते हैं कि जल, वायु, अन्तरिक्ष, अग्नि सभी पचभौतिक हैं तो इनमें तुम जैसी बुद्धि क्यों नहीं तो वे शान्त हो जाते हैं। (छठा पुष्प १५-५-६२ ई.)

प्रकृति की प्रवृत्तियों में जाने पर मानव की दो प्रकार की प्रवृतियाँ होती हैं। १-शुद्ध और २-अशुद्ध।

१- जब प्रकृति की उपासना अर्थात् विज्ञान में जाते हैं, तो शुद्ध प्रवृत्ति बनी रहती है।

२- जब इस प्रकृति का रूपान्तर में ध्यान करके अशुद्ध कल्पना करने लगते हैं, तो अशुद्ध प्रवृत्ति हो जाती है। इन अशुद्ध प्रवृत्तियों पर मन के द्वारा संयम करना चाहिए। यह मन मानव को माता वसुन्धरा की सबसे सूक्ष्म देन है।

संसार का सबसे सूक्ष्म तत्त्व मन ही कहलाया गया है। वह

इतना गतिमान् है कि जो मानव प्रकृति माता को अपने में समर्पित करके मन को जान लेता है तो वह प्रकृति के गर्भ को जान लेता है।

योगी का आत्मा इस पर सवार होकर ब्रह्माण्ड का भ्रमण कर लेता है। यह मन कहीं का कहीं रमण करता है, कहीं समुद्र की तरंगों में, कहीं सूर्य की आभा में, कहीं गन्धर्व लोकों में तो कहीं इन्द्र लोकों में।

यह निकृष्ट से निकृष्ट गति भी करने लगता है। अतः प्रवृत्तियों पर संयम करके तथा उन्हें अपना वाहन बना करके आत्मा के लोकों में यह मन प्रकृति के रूपों में चला जाता है। वहाँ पर प्राण और मन का सञ्चार हो करके जो दैवी विचारधारा रूपी सम्पदा है, उसको वाहन बना लिया जाता है। (अट्ठारहवां पुष्प १७-७-७२ ई.)

भौतिक सृष्टि में शान्ति नहीं है। यह वायु कभी शान्त रहती है, कभी अधिक चलने लगती है, कभी अपना प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, कभी शान्त व धीमी पड़ जाती है। इसलिए परमात्मा की मर्यादा में कहीं भी शान्ति प्रतीत नहीं होती, यह काल्पनिक है। (आठवाँ पुष्प ६-११-६२ ई.)

यदि हम प्रकृति पर शासन करना चाहते हैं तो हमें सर्वप्रथम मन की वृत्तियों पर शासन करना होगा। चित्त की वृत्तियों का निरोध ज्ञान के द्वारा कर सकते हैं। हमारे पास ज्ञान के साथ-साथ विवेक भी होना चाहिए तभी यह सम्भव है।

चित्त-वृत्ति पर शासन करने के लिए वाणी पर शासन करना होगा। वाणी पर शासन करने पर हम किसी को अप्रिय व कठोर

वाक्य उच्चारण नहीं करते। ऐसी वाणी में सत्यता और ओज होता है, ओज से विवेक होता है। तब प्रत्येक मानव विवेक सहित उच्चारण किया करता है।

वाणी पर शासन होता है, आहार से। जब हमारा आहार पवित्र होगा तो व्यवहार पवित्र होगा, जब व्यवहार पवित्र होगा तो वाणी भी पवित्र होगी।

हमारा आहार रसदायक तथा रसना को प्रिय होना चाहिए। रसना को तो न जाने क्या-क्या प्रिय होता है? किन्तु आहार पवित्र कहलाता है, जिससे कभी भी इन्द्रिय को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

जिस आहार से रसना दुखी हो उसे कभी न करो। वह आहार कभी न करो, जिसके करने से शंका और लज्जा होती हो। जैसे दुर्गन्धयुक्त वस्तुओं का पान करने पर ऊँचे समाज में जाओगे तो तुम्हें शंका व लज्जा होती है, तुम्हारी अपकीर्ति होती है। वह आहार भी कभी मत करो जिससे तुम्हारी आत्म-शक्ति न्यून बन जाए, तुम हीनता को प्राप्त हो जाओ। (सातवाँ पुष्प ३०-९-६४ ई.)

५ पंचम अध्याय-भौतिक विज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान

प्रकृति के क्षेत्र में, इस संसार में नाना प्रकार के वाद हैं। यथा १-यौगिकवाद, २-मानववाद, ३-राष्ट्रवाद, ४-विज्ञानवाद, ५- ज्ञानवाद, ६-रूढ़िवाद, ७-ब्रह्मवाद, ८-आत्मवाद आदि।

मानव को रूढ़िवाद से दूर रहना चाहिए। विज्ञानवाद तथा यौगिकवाद दोनों के द्वारा मानव रूढ़िवाद से पृथक् हो जाता है किन्तु विज्ञानवाद में अभिमान की मात्रा उत्पन्न हो जाती है जबकि यौगिक वाद में अभिमान न आकर नम्रता की उत्पत्ति होती है। (तेहरवाँ पुष्प २३-८-६९ ई.)

ज्ञान उसे कहा जाता है, जो मानव दृष्टिपात करता रहता है। विज्ञान वह माना गया है जिसको हम क्रियात्मक रूप में लाने का प्रयास करते हैं। उसे क्रिया में लाने के पश्चात् उसका साक्षात्कार करने लगते हैं।

वह जो साक्षात्कार है, उसी का नाम विज्ञान माना गया है।

जैसे एक मानव यह दृष्टिपात कर रहा है कि तेरे द्वारा मन है, चक्षु हैं, सर्व इन्द्रियां हैं, परन्तु इन इन्द्रियों को साक्षात्कार करना उसे कहा जाता है जिस इन्द्रिय के स्वरूप को हम अच्छी प्रकार से जान लेते हैं, जिसका स्वरूप हमारे समीप आ जाता है, उसी स्वरूप के आधार पर हम संसार को क्रियात्मक रूप में लाते हैं।

एक मानव चन्द्रमा, सूर्य आदि नाना प्रकार के लोक-लोकान्तरों के दीर्घ दर्शन कर रहा है तथा उसको क्रिया में लाने का प्रयास कर रहा है, यन्त्र बना रहा है, किरणों के आधार पर अपनी मनोभावना

को मन को, शरीर को, तपा रहा है। तपाने के पश्चात् एक योगी बन करके सूर्य की आभा और किरणों के साथ-साथ वह सूर्यमण्डल को अपने में साक्षात्कार कर लेता है। चन्द्रमा, मलादि को भी इसी प्रकार साक्षात् कर लेता है यन्त्रों के द्वारा अथवा आत्मा की क्रिया के द्वारा। (तेईसवाँ पुष्प ४-१०-७१ ई.)

दो प्रकार के विज्ञान हैं। १-एक भौतिक विज्ञान २- दूसरा आध्यात्मिक विज्ञान।

१-भौतिक विज्ञान वह कहलाता है, जिसमें नाना प्रकार के प्रकृति के अणुओं, महाअणुओं, त्रसरेणु, महात्रसरेणु को एकत्रित करके उनसे नाना प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार किया जाता है। इनसे राष्ट्र की रक्षा होती है, राष्ट्र का कल्याण होता है। राष्ट्र में नाना सामग्री होती है मनुष्य अपने मस्तिक से और अपने मनोविज्ञान से प्रकृति की देन को जाना करता है। भौतिक विज्ञान में विद्युत को जलों से आकर्षित किया जाता है। जल और विद्युत् का प्रयोग करते हुए वैज्ञानिक राष्ट्र को आनन्दित कर देते हैं।

आध्यात्मिक विज्ञान, भौतिक विज्ञान से अधिक शक्तिशाली तथा आगे का विज्ञान है जिससे वे कार्य किए जा सकते हैं जो भौतिक विज्ञान में सर्वथा असम्भव हैं। जिस प्रकार दुग्ध से घृत निकाला जाता है, जो अग्नि को प्रज्ज्वलित कर देता है, उसी प्रकार भौतिक विज्ञान को जानते हुए उस उत्तम घृत आत्मिक विज्ञान को जाना जाता है जो ज्ञानाग्नि को प्रज्ज्वलित कर देता है। (चौथा पुष्प १९-४-६४ ई.)

विज्ञान चतुर्थ विद्या है

हमारे यहाँ त्रिविद्या मानी जाती है। १-ज्ञान २-कर्म और ३-उपासना। चतुर्थ विद्या विज्ञान को कहा जाता है। इस त्रिविद्या का मन्थन करने के पश्चात् जो वस्तु प्राप्त होती है, उसका नाम विज्ञान कहा जाता है। जैसे चन्द्रमा, मंगल, वशिष्ठ, अरुण मण्डल आदि लोक-लोकान्तरों को देखकर इनका ज्ञान तो हो गया और अनुमोदन भी हो गया किन्तु इनकी जो प्रतिभा है, इसमें जो विज्ञान है, इसमें जो वस्तु है, खनिज है, खाद्य है, प्राणिमात्र हैं, उनमें जाने का मार्ग है, उस मार्ग में जाने वाले जो यन्त्र हैं, उस जानकारी का नाम विज्ञान है।

इसी प्रकार यौगिक आचार्योंर्ं ने यम और नियम के द्वारा अपनी आत्मा का उत्थान किया और दर्शनों में यह अध्ययन किया कि यह जो आत्मा है इसके तीन शरीर माने गए हैं। १-स्थूल २-सूक्ष्म और ३-कारण। यह धर्म शास्त्रों तथा वेद मन्त्रों द्वारा निर्णय हो गया। परन्तु अब तीनों शरीरों की जिस-जिस प्रकार की आभा है, उसको जानने का नाम आध्यात्मिक विज्ञान माना जाता है।

हमारा यह स्थूल शरीर है। इसमें मानव क्या-क्या कर्म करता है, कैसा विचारता है ? एक मानव नवीन कुटुम्ब बना लेता है। माता के द्वारा तरह-तरह की आत्माएँ कहाँ से आकर एकत्रित हो जाती हैं। माता को यह प्रतीत नहीं कि कौन आत्मा उसके गर्भ के लिए निश्चित है। गर्भ में आने के पश्चात् भी उसको विदित नहीं कि कौन आत्मा कहाँ से आकर उदर में स्थिर हो गया है।

पुत्री को संस्कार से पूर्व यह प्रतीत नहीं कि कौन तेरा पति निश्चित हुआ है, परन्तु यह एक सुन्दर और आश्चर्यजनक विचार बन जाता है।

परन्तु यह कुटुम्ब है क्या ? अन्तिम इसका निश्चय क्या है ? इन वाक्यों को विचारना तथा इनको क्रिया में लाने का नाम विज्ञान कहा गया है। (तेईसवाँ पुष्प १७-११-७१ ई.)

विज्ञान का स्वरूप

विज्ञान एक प्रकार का वन है। जिसमें जाने के पश्चात् मानव को कोई मार्ग प्राप्त नहीं होता। जब हम चन्द्र-मण्डल, मंगल-मण्डल, पञ्चमहाभूत आदि पर विचार करते हैं तो अनेक पारस्परिक सम्बन्धों तथा सहयोग को देखकर आश्चर्य होता है।

जैसे अन्तरिक्ष के परमाणु महत्तत्व के सन्निधानमात्र से ही नृत्य करने लगते हैं। इस नृत्य के आधार पर एक दूसरा सहायक बन जाता है। इसी प्रकार अन्य पञ्चमहाभूतों-जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, अन्तरिक्ष का स्वभाव है कि महाभूत के सन्निधानमात्र से ही जागरूक हो जाता है क्योंकि महत्व के सान्निधानमात्र से ही प्रकृति का स्वभाव जागरूक हो जाता है। इसलिए प्रकृति आदि रूपों में परिणत रहती है। (सोलहवां पुष्प १७-१०-७१ ई.)

प्रकृति पर शासन तभी किया जा सकता है, जब नाना प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार किया जाता है। उसका नाम भौतिक विज्ञान है। (सातवां पुष्प ३०-९-६४ ई.)

एक परमाणु वेत्ता, भौतिक विज्ञान वेत्ता को भौतिकवादी इसलिए

कहा जाता है कि वह पंचमहाभूतों के परमाणुओं का निरीक्षण कर रहा है। उन पर अनुसन्धान कर रहा है, यन्त्रों का निर्माण कर रहा है। लोक-लोकान्तरों में जाने वाले यन्त्रों का निर्माण कर रहा है। अपने इस शरीर का चित्रण वायु में प्रसारण करके यन्त्र के द्वारा उसका चित्रण कर रहा है। इसको भौतिक विज्ञान कहते हैं। विज्ञान एक प्रकृति की आभा है। अथवा विज्ञान में प्रकृति का मन्थन किया जाता है, मन्थन करने के पश्चात् जो धारा उत्पन्न होती है, उस धारा को जानकर उससे यन्त्रों का निर्माण किया जाता है। (पच्चीसवाँ पुष्प १२-३-७३ ई.)

विज्ञान का महत्व

मानव सदैव आनन्द को प्राप्त करना चाहता है। इसलिए उनकी उत्कृष्ट इच्छा होती है कि वह ज्ञान-विज्ञान को जाने। विज्ञान में भी दोनों प्रकार के विज्ञानों ,भौतिक विज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान को जाने।

जब हम प्रभु को जानते हैं तो उसके ज्ञान और विज्ञान भी हमारे नीचे आ जाते हैं। हम परमानन्द को प्राप्त हो जाते हैं। परमानन्द से एक प्रतिभा उत्पन्न होती है। वही प्रतिभा मानव को उज्ज्वल तथा महान बनाकर परमानन्द को प्राप्त करा देती है। (बारहवां पुष्प ३-३-६९ ई.)

परमात्मा कितना निकट है तथा कितनी दूर है, इस दूरी का नाम ही अन्तर्द्वन्द्व है। इस अन्तर्द्वन्द्व को समाप्त करने के लिए मानव ज्ञान-विज्ञान में पहुँचना चाहता है, कहीं वेद का आश्रय लेता है, कहीं ब्रह्म-ज्ञानी का। तात्पर्य यह है कि मानव वास्तविक शान्ति के लिए

परमपिता परमात्मा को जानने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। जैसे एक ब्राह्मण नाना प्रकार की पोथियों को एकत्रित करके उनका अध्ययन व मनन करता है, अपने जीवन को उसके अनुसार बनाता है, क्योंकि वह आवागमन के चक्र से मुक्त होना चाहता है।

एक राष्ट्रवेत्ता राजा बनता है, ऐश्वर्य के लिए। किन्तु ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी वह ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से आनन्द प्राप्त नहीं कर पाता। वह भोग-विलासों में लिप्त हो जाता है किन्तु उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती। जब मानव ज्ञान-विज्ञान को जानने के लिए तत्पर होता है, तत्पर होकर उसे जान लेता है और प्रभु के निकट चला जाता है तो वहाँ वास्तविक शान्ति मिलती है। (बारहवाँ पुष्प ५-३-६९ ई.)

जिस राष्ट्र और समाज में १-बुद्धि, २-मेधा, ३-ऋतम्भरा और ४-प्रज्ञा। ये चारों प्रकार की धाराएँ होती हैं, तो उस राष्ट्र में भौतिक-विज्ञान तथा आध्यात्मिक-विज्ञान दोनों ऊँचे होते हैं।

भौतिकवाद कहते हैं परमाणुवाद को, परमाणुवाद है वायुयान बनाना, चन्द्रमा तथा लोक-लोकान्तरों में जाना।

आध्यात्मिक-विज्ञान में परमात्मा का विषय होता है

जब दोनों विज्ञानों में एकता होती है, तो वह राष्ट्र स्वर्ग के समान होता है, उसमें अभिमान नहीं होगा। भौतिकवाद में मानव को अभिमान हो जाता है। जहाँ अभिमान होता है, वहाँ मृत्यु है। आध्यात्मिक-विज्ञान में विवेक होता है, विवेक में नम्रता होती है। जहाँ नम्रता और विवेक होता है, वही मानव का जीवन होता है। शिष्टाचार और सदाचार होता है, मानवता होती है। (नौवाँ पुष्प २६-१०-६७ ई.)

विज्ञान मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। उसको उसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह संसार परमात्मा का विशाल विज्ञान-भवन है। इसमें मानव विविध प्रकार के विज्ञानों को प्राप्त करता रहता है।

बालक उत्पन्न होते ही माता की लोरियों से स्वतः दुग्ध पान करने लगता है। यह उस बालक का विज्ञान है। आगे चलकर वह भौतिक वैज्ञानिक बनता है या योगी बनता है।

जो मानव एक ही प्रक्रिया में संलग्न रहता है, वह अपने विज्ञान से विमुख हो जाता है। जो उसमें कुछ न कुछ अनुसन्धान करता रहता है, वह विज्ञान में ऊर्ध्वगति को प्राप्त हो जाता है। (सोलहवाँ पुष्प ३-८-७१ ई.)

मानव के शरीर का इस प्रकार निर्माण किया गया है कि वह विज्ञान का विचार-विनिमय अवश्य करता ही है। हमारे जीवन का विज्ञान से बहुत अधिक सम्बन्ध रहता है। इसलिए विज्ञान को जानने का प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य होता है। इस जगत् को विज्ञान का जगत् तन्मात्राओं का जगत् कह सकते हैं। वह नाना प्रकार की तन्मात्राओं वाला विज्ञान परम्परा से एक ही रस में रमण करने वाला है। (सोलहवाँ पुष्प ४-८-७१ ई.)

आज यह कहा जाता है कि आधुनिक-काल में भौतिक-विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ धर्म नष्ट होता जा रहा है। किन्तु यह नहीं क्योंकि वैज्ञानिक ऐसा नहीं कह रहा है कि मानव को चरित्रहीन होना चाहिए या ईश्वर को स्वीकार नहीं करना चाहिए। वैज्ञानिक तो यह

कह रहा है कि इस प्रकृति के गर्भ में से हम सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं।

ऋषियों का कथन है कि जहां पर यह भौतिक विज्ञान, परमाणुवाद, नाना लोक-लोकान्तरों में जाने के यानों के निर्माण का विज्ञान समाप्त होता है, वहाँ से अध्यात्मवाद आरम्भ होता है। जब मानव अध्यात्मवाद को अपनाकर अपनी आत्मा को उन्नत करने का प्रयास करता है, यौगिक क्रियाओं को जानने लगता है तो उस समय यज्ञों की सुगन्धि समाज में ओत-प्रोत हो जाती है। (सोलहवाँ पुष्प १६-१०-७१ ई.)

भौतिक-विज्ञान की सीमाएँ

भौतिक विज्ञान मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। वह परम्परा से चला आ रहा है। इस अधिकार का अभिप्राय यह है कि वह विज्ञान परम्पराओं से ही चल रहा है इस विज्ञान की अभावों में एक महत्ता का दिग्दर्शन होता रहता है। इसको विचारने के पश्चात् हमारा जीवन एक महत्ता की वेदी पर आकर पवित्रता को प्राप्त होता रहता है। (सत्रहवाँ पुष्प २२-२-७२ ई.)

मनुष्य को भौतिक वैज्ञानिक बनना चाहिए। उच्च उपाधि को प्राप्त करना चाहिए, परन्तु इतना (ऐसा) न हो कि मनुष्य को ही समाप्त कर बैठे। मनुष्यत्व के समाप्त हो जाने पर यह विज्ञान यहीं रह जाएगा। यह तो प्रकृति का विज्ञान है, प्रकृति में ही रह जाएगा। तुम्हारा जीवन नष्ट होने के तुल्य हो जाएगा। (छठा पुष्प १५-७-६४ ई.)

मानव को भौतिक-वैज्ञानिक होना चाहिए, किन्तु उसके साथ में मानव का शुद्ध और सात्विक विचार भी होना चाहिए। यदि सात्विक विचार न होकर तमोगुणी या रजोगुणी विचार होता है तो इनकी प्रतिभा उसको अभिमान में ला देती है। यह अभिमान मानव के लिए, राष्ट्र के लिए तथा समाज के लिए विनाश का कारण बन जाता है। यह अभिमान ही मृत्यु का कारण बनता है; इसको जीवन नहीं मृत्यु कहते हैं। (इक्कीसवाँ पुष्प २९-३-७० ई.)

मृत्यु भौतिकवाद का विषय है अध्यात्मवाद का नहीं। जब मानव भौतिकवाद में चला जाता है तो यन्त्रों का निर्माण करता है। इससे एक-दूसरे को नष्ट करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से अभिमान आ जाता है। जितना अभिमान होता है, उतनी सØीणता होती है, उतना ही मानव को भय होता है, उतना ही मानव मृत्यु के मुख में जाता रहता है उसी को मृत्यु कहते हैं। इसके विपरीत जब तक मानव अध्यात्मवाद में रहता, उसका जीवन सुखमय तथा आनन्दमय रहता है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों को साथ-साथ अपनाने से ही समाज, राष्ट्र, संसार तथा मानववाद ऊँचा बनेगा। (दसवाँ पुष्प ७-११-७८ ई.)

जब मानव भौतिकवादी बन जाता है, तो उस समय उसमें अहंकार आ जाता है। वह यहाँ तक कहने लगता है कि मैं इस सृष्टि का निर्माण कर सकता हूँ। इसका अहंकार तभी समाप्त होता है, जब यह आत्मा तथा आध्यात्मिकता के अगाध सागर में गोता लगाता है। अनुभव करता है कि अरे! अभी तक तो तूने अपने को ही नहीं

जाना, इस अनन्त सृष्टि, लोक-लोकान्तर तथा संसार को क्या जान सकेगा। (तीसरा पुष्प १६-७-६३ ई.)

अभिमान का मूल कारण केवल प्रकृति की उपासना

लोक-लोकान्तरों में जाना कोई कठिन कार्य या पाप नहीं है, क्योंकि इसकी विद्या तो वैदिक साहित्य में परम्परा से (पूर्व से ही) निहित है। किन्तु इस विज्ञान की आवश्यकता हमें तभी होती है, जब हम अपने मानव समाज को ऊँचा बनाते हैं। यह विज्ञान तो सुन्दर है परन्तु इससे अभिमान, राष्ट्र में अभिमान तथा अधिकार की चेष्टा होने लगती है। इसके परिणामस्वरूप यह समाज अन्तर्द्वन्द्व को प्राप्त होता रहता है। (सत्रहवां पुष्प २२-२-७२ ई.)

अध्यात्मवाद का परिणाम

परमाणुवाद में जाने के पश्चात् मानव अपनी वास्तविक चेतना को नष्ट कर देता है क्योंकि उसे कार्य पर वड़ा गौरव तथा अभिमान होता है। प्रकृति का यह स्वभाव है कि जो इससे घनिष्टता करता रहता है, उसमें वह क्रोध, अभिमान, कामवासना आदि लाकर नीचे गिरा देती है। जो प्रकृति से उपराम होकर चलता है, वह इस चेतना को अपना स्वामी स्वीकार करता है, आध्यात्मिकवाद में पारंगत हो जाता है। वह प्रकृति के गर्भ से दूर होता हुआ चेतना के गर्भ में चला जाता है, जिसे वसुन्धरा कहते हैं। वहां पर इसे ब्रह्म ही ब्रह्म, ओ३म् प्रतीत होता है। (चौदहवाँ पुष्प २२-३-७० ई.)

पूर्ण विज्ञान को कैसे प्राप्त करें

भौतिक-विज्ञान केवल प्रत्यक्षवाद को स्वीकार करता है। यह होना

भी चाहिए। परन्तु संसार में बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसे मन, क्षुधा, वायु आदि। इनका हमें केवल अनुभव होता है। इसी प्रकार जब हम ऊँचे शिखर पर परमात्मा की ऊँची यौगिकता पर जाएंगे तो परमात्मा भी प्रत्यक्ष होता चला जाएगा। आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार हो जाएगा। मानव प्रत्यक्षवादी बनकर, परमात्मा को साक्षी बनाकर संसार में पूर्ण विज्ञान को प्राप्त कर सकता है। (पाँचवाँ पुष्प २०-१०-६४ ई.)

आध्यात्मिक एवं भौतिक विज्ञान के समन्वय से श्रेय की प्राप्ति

मानव को दार्शनिक तथा भौतिक वैज्ञानिक बनना चाहिए। यदि वह लोक-लोकान्तरों में जाने के लिए, परमात्मा को साथ लेकर चलेगा, तो शीघ्र सफलता मिलेगी। यदि मानव अपनी गम्भीर तथा यौगिक मुद्रा से अन्तःकरण का यन्त्र बना ले तो इससे किसी भी लोक-लोकान्तरों में रमण कर सकता है। (पाँचवाँ पुष्प १८-८-६२ ई.)

आज वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा चन्द्रमा आदि पर पहुँच रहे हैं, किन्तु उनका महत्व इसलिए नहीं कि एक योगी केवल दो वर्ष के अभ्यास से चन्द्रमा, मंगल आदि मण्डलों में जा सकता है। इस भौतिक विज्ञान से तो अभिमान ही बढ़ेगा और कोई विशेष लाभ नहीं होगा। (ग्यारहवाँ पुष्प २८-७-६७ ई.)

भारद्वाज-दालभ्य-संवाद

एक समय महर्षि भारद्वाज के आश्रम में महर्षि दालभ्य जी जा पहुँचे। जब दोनों का विचार-विनिमय होने लगा, तो दालभ्य जी ने

कहा कि मैं इन विचारों को जानना चाहता हूँ कि क्या आप विज्ञान को नहीं जानते, क्या आप सूर्य-मण्डल में जाने की प्रक्रिया नहीं जानते, क्या चन्द्रमा में जाने वाले यन्त्रों का निर्माण नहीं कर सकते, क्या मंगल में जाने वाले यन्त्रों का निर्माण नहीं कर सकते ?

भारद्वाज ने कहा :.हे भगवन् ! आप इनको जानकर क्या करोगे ?

दालभ्य :.प्रभु ! हम चन्द्रमा की यात्रा करेंगे।

भारद्वाज :.मैं उस विद्या को जानता हूँ, परन्तु उसको तुमसे प्रकट नहीं करना चाहता, क्योंकि तुम पण्डित हो। मैं तो यह चाहता हूँ कि हे दालभ्य जी ! तुम ब्रह्मवेत्ता बनो। ब्रह्म-वेत्ता बनकर, ब्रह्म की जो प्रतिभा है, जिस प्रतिभा में सर्वलोक-लोकान्तर समाहित रहते हैं, तुम्हारे सूक्ष्म से पिण्ड में भी वही संसार ओत-प्रोत रहता है, तुम अपने पिण्डरूपी ब्रह्माण्ड को जानने का प्रयास करो। परन्तु यह ब्रह्म को जानने से ही जाना जा सकेगा। इससे चन्द्रमा-सूर्य तुम्हारे निकट आ जाते हैं। तुम्हारे अन्तरात्मा का इतना प्रकाश है कि उसके सामने सहस्रों सूर्यों का प्रकाश भी नहीं होता।

हे दालभ्य जी, संसार में जब भौतिक विज्ञान बाह्य रूप धारण कर लेता है, उस समय मानव में नास्तिकवाद का प्रसार होता है, वहाँ विडम्बना होती है, जहाँ विडम्बना होती है, वहाँ अन्धकार होता है, जहाँ अन्धकार होता है, वहाँ मृत्यु होती है।

निश्रेयस की प्राप्ति में केवल भौतिकवाद बाधक है

जब भौतिक विज्ञान पराकाष्ठा पर जाता है, उस समय मानव का

अन्तःकरण अभिमान में परिणत हो जाता है। जहाँ अभिमान होता है, वहाँ रात्रि होती है, अन्धकार होता है, विडम्बना होती है और रक्त में उत्तेजना होती है। वहीं मानव जीवन का मृत्यु का कारण बन जाता है। इसलिए मैं इस विषय को तुम्हें देना नहीं चाहता।

इस विद्या का केवल आन्तरिक रूप ही धारण कराना चाहता हूँ, बाह्य अँग बनाना नहीं चाहता। जब तक संसार में कर्त्तव्य की देवी है, तब तक इसको बाह्य रूप देने का हमारा कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। इस विद्या को संसार को दे सकते हैं किन्तु उसमें अधिकार-अनधिकार का विचार होता रहेगा।

इस संसार में कर्त्तव्यवाद प्रथम है। यह भौतिक विज्ञानवाद उसके पश्चात् है। आत्मवेत्ता बनना यहां सबसे प्रथम माना गया है। अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण से राष्ट्र की रक्षा भी कदापि नहीं हुआ करती। उसका मूल कारण यह है कि जिस राजा के राज्य में जितने अस्त्र-शस्त्र होंगे, परमाणुवाद की विद्या होगी, उतना उस राष्ट्र में अभिमान होगा। जब अभिमान होगा तो उसी प्रकार की विडम्बना (छलना, उपहास, लज्जा) होगी। वह अभिमान जो होता रहती है, वह मानवीय समाज के सुकृतों का हनन कर लेता है। उस राजा के राष्ट्र में नाना प्रकार की क्रान्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं और क्रान्तियों का अभिप्राय यह है कि एक समय वह आता है, जब वही राष्ट्र अग्नि के मुख में परिणत हो जाता है।

दालभ्य ने कहा :-मेरे विचार में तो यह वाक्य यथार्थता में परिणत हो गया है। मैं इसका अनुमोदन करता हूँ मेरा विचार तो यह

परम्परा से रहा है। एक महान् विज्ञान की धारा में ही जाकर क्या करेंगे ?

जब इस प्रकार का विचार ऋषियों का रहा तो उन्होंने अपने विचारों में एक महत्ता का दिग्दर्शन किया, जिससे उनके विचारों में महत्ता की ज्योति जाग्रत हो गई। (बाईसवाँ पुष्प २-५-७० ई.)

आध्यात्मिक-विज्ञान क्या है ?

आध्यात्मिक वह विद्या है, वह पदार्थ है, जिसको जानने के पश्चात् संसार में पृथ्वी, चन्द्रमा की उड़ान ही नहीं अपितु मंगल आदि सर्व भू-मण्डलों की उड़ान के लिए मानव तत्पर हो जाता है।

इसमें मानव एक श्रुति के अनुसार मन और प्राण की कल्पना एकाग्र करने मात्र से ही संसार की उड़ान उड़ने लगता है। (सत्रहवाँ पुष्प २५-२-७२ ई.)

आत्मा प्रकृति का शासक कैसे बनता है?

आध्यात्मिक विज्ञान वह होता है जब हम आध्यात्मिकता से प्रकृति पर शासन करने लग जाते हैं, मानव के शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये ही प्रकृति का स्वरूप हैं। ये सब संगठित होकर आत्मा के समीप जाते हैं। आत्मा अपने ज्ञान से इन सबके विषयों को भस्म कर देता है। तब आत्मा स्वच्छ और निर्मल होकर प्रकृति पर शासन करने लगता है।

सर्वप्रथम हम ज्ञान से प्रत्येक इन्द्रिय के विषय को जानें। तब कर्मेन्द्रियों का सूक्ष्मत्व ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष जाता है, ज्ञानेन्द्रियों का सूक्ष्मत्व मन के समक्ष जाता है, मन पर हमें शासन करना है। मन

का जो विषय है वह बुद्धि में रमण करना है। बुद्धि का निर्णय आत्मा के समक्ष जाता है। निर्णय अनुकूल होने पर आत्मा उसे ग्रहण कर लेता है, प्रतिकूल होने पर वह बुद्धि के समक्ष आ जाता है। ऐसे निर्णय से लज्जा और शंका उत्पन्न हो जाती है। लज्जा और शंका से मानवत्व का विनाश होने लगता है और मानवत्व की भूमिका नष्ट-भ्रष्ट होने लगती है। (सातवाँ पुष्प ३०-९-६४ ई.)

हमें आध्यात्मिक मार्ग को जानना चाहिए। यह ऐसा पथ है जिस पर चलकर मानव मानवता के शिखर पर पहुँच जाता है तथा भौतिकवाद की निष्ठा को समाप्त करना है। हमें द्यु-लोक की अग्नि को जानना चाहिए। उस चेतना को जानना चाहिए जिसको जानकर हम स्वयं चेतनित हो जाते हैं और हमारे जीवन में अन्धकार का जन्म नहीं होता, सदैव प्रकाश ही प्रकाश रहता है। इसी को वेद का विचार, प्रकाश का विचार तथा दर्शनों का विचार कहा जाता है।

हममें हृदय और मस्तिष्क दोनों का समन्वय करने की शक्ति होनी चाहिए। इन दोनों का मिलान करना हमारा कर्त्तव्य है। मन और प्राण दोनों का मिलान करने पर हृदय और मस्तिष्क का मिलान हो जाता है। इनमें सहस्रों-सहस्रों प्रकार की तरङ्गों का जन्म होता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १२-४-७१ ई.)

आध्यात्मिक-विज्ञानवेत्ता पुरुष ब्रह्मनिष्ठ बनने की चेष्टा करता है। ब्रह्मनिष्ठ वह होता है, जब अपने और ब्रह्म में कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं रहता। इतने प्रकाश में वह चला जाता है, उसका हृदय इतना व्यापक बन जाता है और व्यापक हृदय तो मानव को रसिक बनाता

है, पवित्र बनाता है, वैयाकरण बना देता है। ब्रह्म की निष्ठा में ब्रह्मवेत्ता बन जाता है। आध्यात्मिकवेत्ता वह होता है जो आत्मा के जानने वाला होता है, मृत्यु को जानने वाला होता है। जो मानव मृत्यु को नहीं जानता, वह आध्यात्मिकवेत्ता नहीं होता। जो मानव मृत्यु से भयभीत रहता है वह मृत्यु को जानता ही नहीं। अतः वह अध्यात्मवेत्ता नहीं कहलाता, परन्तु वह मन ही मन में अपनी बाह्य-वृत्तियों से संलग्न होता हुआ आध्यात्मिकवाद की घोषणा करता है। परन्तु वह वास्तव में अध्यात्मवेत्ता होता नहीं। जब ब्रह्मवेत्ता मानव व्यापक ज्ञान में रमण करता रहता है, उस मानव को भय नहीं होता है। (तेईसवाँ पुष्प २९-७-७१ ई.)

आध्यात्मवेत्ता की सामर्थ्य

वे मानव जो अध्ययनशील होते हैं, अध्यात्मवेत्ता होते हैं, ब्रह्मवेत्ता होते हैं, वे प्रत्येक श्वास के परमाणुओं की गणना कर लेते हैं। उसी गणना के साथ मानव अपने चित्र को चित्रण कर लेता है। वह योगी इस प्रकार का महापुरुष बन जाता है, जो श्वास की गति को जानता है और अपने सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर के परमाणुवाद पर अध्ययन कर लेता है। वह मानव को यथार्थ स्थूल रूप में दृष्टिपात नहीं आता है। उस मानव की इस प्रकार की गति बन जाती है।

जब आत्मवेत्ता बनने के लिए ब्रह्मवाद में जाते हैं, तो यही प्रतीत होता है कि हमें इस आध्यात्मिक विज्ञान को जानना चाहिए जिससे हम संसार का चित्रण कर सकें।

अध्यात्मवाद में मानव पक्षी की वार्ता या अश्व की वार्ता ही नहीं,

वृत्तों में जो तरंगें होती हैं, उनको भी जान लेता है। (तेइसवां पुष्प १३-११-७१ ई.)

यदि हम लोक की ज्योति तथा हृदय की ज्योति दोनों का समन्वय करें, तो वह विशाल विज्ञान में परिणत हो जाता है। (अठारहवाँ पुष्प पृ. ८३)

आध्यात्मिक व भौतिक विज्ञानों की तुलना

हमारे यहाँ परम्परा से ही इस समाज में ऋषि-मुनियों के क्षेत्र में दोनों प्रकार के महापुरुष होते आये हैं। एक तो वह महापुरुष कहलाता है जो वेद-मन्त्र का विचार-विनिमय करता रहता है। विचार-विनिमय करते हुए उसकी दो प्रकार से मीमाँसा करता है। एक मीमाँसा रूढ़ि में रह जाती है, दूसरी मीमाँसा यौगिक क्षेत्र में चली जाती है। रूढ़ि तो सामाजिक पद्धति बनकर रह जाती है, यौगिकता ब्रह्मवाद बनकर रहती है। इनमें प्रथम प्रकार के वैज्ञानिक को भौतिक विज्ञानवेत्ता कहा जाता है, द्वितीय को आध्यात्मिक विज्ञानवेत्ता। दोनों ही विज्ञान है। केवल अन्तर इतना है कि भौतिक-विज्ञान मानव को अभिमान के क्षेत्र में ले जाता है, अध्यात्मिक विज्ञान मानव को प्रकाश में ले जाकर ब्रह्म में प्रतिष्ठित कर देता है। वास्तव में ये दोनों धाराएँ यौगिक है। (सताईसवाँ पुष्प ६-५-७६ ई.)

आध्यात्मिक विज्ञान पिता के तुल्य है, तो भौतिक विज्ञान पुत्र के तुल्य है। जब मानव आत्मिक विज्ञान को जानने लगता है, तो भौतिक विज्ञान उसके समक्ष स्वयं ही आने लगता है। (आठवाँ पुष्प २३-४-६४ ई.)

केवल प्रकृति की उपासना क्यों त्याज्य है

प्रश्न : प्रकृति पूर्ण है। उसके बिना भी न यह संसार है, न हमारा शरीर है। ब्रह्म भी पूर्ण है। फिर प्रकृति के आश्रय में जाने से हीनता क्यों मानी जाती है ?

उत्तर.हमारे शरीर में जो ज्ञानेनि्द्रयाँ कर्मेन्द्रियाँ, रसना, अहंकार आदि हैं, इनमें सूक्ष्म मन है जो इन्हें नियन्त्रित करता है। मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म अन्तःकरण है, जिसे चित्त भी कहते हैं। इस चित्त से सूक्ष्म वह आत्मा ज्योति है। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त सभी प्रकृति का स्वरूप हैं। ये सब प्रकृति के आवेशों में आ जाते हैं। जब हम इन पर नियन्त्रण करते हैं तो यह प्रकृति का स्वरूप इसमें समाहित हो जाता है। इसके पश्चात् हम अन्तिम ज्योति पर जाते हैं।

आत्मा प्रकृति से सूक्ष्म है। परमात्मा आत्मा से भी सूक्ष्म है। प्रकृति जड़ है, परमात्मा चैतन्य है। दोनों के मध्य में यह आत्मा भी चैतन्य है, परन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ है। सबसे कम गुण प्रकृति में है, इसमें अधिक जीवात्मा में हैं, सबसे अधिक परमात्मा में हैं।

जो जैसे गुण वाले से सम्पर्क करेगा, वैसे गुण उसमें ओत-प्रोत हो जायेंगे। जैसे कोई मानव यदि दुराचारी का संग करता है, तो उसमें दुराचारी के अंकुर आ जाते हैं।

प्रकृति में कम गुण हैं, जीवात्मा में उससे अधिक। इसलिए यदि जीवात्मा उन्नति चाहता है, तो उसे अधिक गुण वाले से सम्पर्क करना चाहिए।

जब वह अपने से कम गुणवाली प्रकृति के सम्पर्क में आता है, उसका संग करता हैं, तो उसमें हीनता ही आती चली जाती है। उसे वह आनन्द प्राप्त नहीं होता, जो ब्रह्म के सम्पर्क में आने से होता है।

प्रकृति सत् है। जीव सत-चित् है। प्रभु सत-चित् आनन्द है। जीव सत-चित् होने के नाते आनन्द का इच्छुक रहता है। जीवात्मा को आनन्द परमात्मा से मिलता है, प्रकृति में आनन्द नहीं है। इसलिए उसका सम्पर्क लाभकारी नहीं है। (पन्द्रहवां पुष्प १३-७-७१ ई.)

प्रकृति मानव को नीचे ले जाती है। हमें इसकी उपासना में न लगकर उस परमपिता की उपासना करनी चाहिए जो चैतन्य स्वरूप है, जो शून्य प्रकृति को कम्पायमान बना रहा है। हमारे जीवन को भी कम्पायमान (गतिमान) बना रहा है। जब तक परमात्मा, जो एक विश्व आत्मा है, इस ब्रह्माण्ड के कण-कण में तथा प्रकृति में ओत-प्रोत हो रहा है तब तक हमें यह संसार प्रतीत हो रहा है। नाना प्रकार के लोक-लोकान्तर, चन्द्रमा आदि जलाशय, समुद्र आदि हैं परन्तु जब यह विश्व-आत्मा ब्रह्माण्ड को प्रलय में परिणत कर देता है तो प्रकृति शून्य रूप हो जाती है, अन्धकार छा जाता है। (सातवाँ पुष्प ७-१०-६६ ई.)

आचार्यों का मत है कि जहाँ भौतिकवाद समाप्त होता है, वहाँ से अध्यात्मवाद आरम्भ होता है। इसका कारण यह है कि जब तक मानव भौतिकवाद से ऊबकर उससे अकृत नहीं होता तब तक उसकी मनोभावना तथा मनोबल अध्यात्मवाद के लिए प्रेरित नहीं होता। (आठवाँ पुष्प १२-४-७२ ई.)

जब भौतिकवाद के परमाणुवाद की समाप्ति आत्मा से हो जाती है तो आध्यात्मिक-विज्ञान या यौगिक-विज्ञान आत्मा हो जाता है। भौतिक वैज्ञानिक आज तक यन्त्रों से आत्मा को नहीं देख पाया। आत्मा इतनी सूक्ष्म है कि उसको भौतिक यन्त्रों से नहीं देखा जा सकता। इसके साथ ही इतनी विशाल भी है कि उसमें सर्व-ब्रह्माण्ड का ज्ञान-विज्ञान ओत-प्रोत हो जाता है। (चौदहवाँ पुष्प २-११-७० ई.)

भौतिकवाद में मानव के विनाश के यन्त्रों का निर्माण अधिक किया जाता है, लाभ के निर्माण सूक्ष्म होते हैं। इस विज्ञान में मानव को आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त नहीं होती। जब इस संसार से मानव ऊब जाता है तो आत्म-शान्ति चाहता है, आत्मा की उन्नति चाहता है। आत्मा की उन्नति बिना ज्ञान के नहीं होती। इसलिए १-ज्ञान, २-कर्म, ३-उपासना में ज्ञान सर्वप्रथम आता है। (तेईसवा पुष्प १३-११-७१ ई.)

अध्यात्मवाद में जीवात्मा की अनन्त गति

एक भौतिक विज्ञानवेता की केवल सूर्यमण्डल तक ही सीमा होती है। अध्यात्मवाद की सीमा परमात्मा तक होती है। परमात्मा मानव को एक महान्, पवित्र देन दिया करते हैं। उसी के आधार पर मानव की ऊर्ध्वगति बनती चली जाती है। वह अग्रतुल्य (अग्रगामी नेता) बन करके नाना लोक-लोकान्तरों, ध्रव-मण्डल, बृहस्पति-मण्डल तथा सूर्य-मण्डल को जानने वाले बन जाते हैं। इसीलिए अध्यात्मवाद को सर्वोपरि माना जाता है। (सातवाँ पुष्प २७-७-६६ ई.)

जिस प्रकार विज्ञानवाद में एक यन्त्र में प्रकाशित किया हुआ

वाक्य उससे सम्बन्धित यन्त्र के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है, इसी प्रकार यौगिकवाद में भी मानसिक वेदना से उत्पन्न पवित्र तरंगें त्तण समय में उसी के पास पहुँच जाती हैं, जिसके लिए उन्हें प्रसारित किया था। मन की गति इतनी तीव्र है कि किसी यन्त्र से उसको नापा नहीं जा सकता। वास्तव में प्राण के ऊपर कोई शब्द या कोई भी वस्तु सवार हो जाती है, वह बहुत तीव्र गति से भ्रमण करने लगती है। (तेईसवाँ पुष्प २३-८-६९ ई.)

आत्मिक विज्ञान सर्वोत्तम

वास्तव में प्रथम स्थान आत्मिक-विज्ञान तथा यौगिकता का है, क्योंकि उसमें एक महत्ता वाला जीवन बनाकर उस परमपिता परमात्मा की गोद में विश्राम किया करते हैं। भौतिकवाद का स्थान द्वितीय आता है। आत्मिक विज्ञान से जब परमात्मा की गोद में चले जाते हैं, तो जहाँ वह होगा, वहीं हम भी होंगे। उसे जानकारी, तो हमें भी जानकारी अवश्य होगी क्योंकि हमने उस समय उस व्यापकता को जान लिया है जो प्रकृति से ऊँची व्यापकता है, प्रभु की चेतनता है।

प्रकृति में कम्पनता (गति-क्रियाशीलता) हो करके नाना लोक-लोकान्तरों की रचना हो जाती है। परन्तु यह सब प्रकृति के तन्तुओं से ही बनती है। जल, अग्नि, वायु आदि भी प्रकृति के तन्तुओं से ही बना करते हैं; इस प्रकृति में कम्पनता (क्रियाशीलता) परमात्मा ही देता है, वह इसका स्वामी है। स्वामी होने के नाते वह सार्वभौम और प्रकृति का पति माना जाता है।१

वह देवात्मा, जो प्रभु के निकट जाना चाहता है, जब प्रकृति को त्यागकर प्रभु की गोद में चला जाता है तो वहाँ जाते ही एक अनुपमता प्रतीत होती है। वह अनुपमता मानवता को ऊँचा बना देती है। लोक-लोकान्तरों को नीचे पहुँचा देती है, और हम ऊँचे चले जाते हैं।(आठवाँ पुष्प-अप्रैल १९६५ ई.)

आधुनिक विज्ञान की पहुँच मन तक ही है

हे भौतिक वैज्ञानिक! केवल मन के विज्ञान तक ही अपने को सीमित न करो। मन के विज्ञान के आगे बुद्धि का विज्ञान है। उसके अनन्तर अन्तःकरण का विज्ञान है। अन्तःकरण के विज्ञान से ब्रह्मचर्य के बल के विज्ञान से पृथ्वी का विज्ञान आता है। तब सब ही विज्ञान जान सकोगे। केवल मन के विज्ञान को जानकर यह कहना उचित नहीं कि परमात्मा कोई नहीं है। (तीसरा पुष्प १८-७-६३ ई.)

उदाहरण

एक बार पुलस्त्य ऋषि के पौत्र कुम्भकर्ण, भृंगी ऋषि के आश्रम में पहुँचे, तो भृंगी जी ने अपने आसन को बहुत दूर ऊपर जाकर स्थित कर लिया। उस समय 'अभेनु' ऋषि ने कहा तुम वैज्ञानिक बने हो, क्या तुम भी अपने आसन को इस प्रकार उठा सकते हो ?

उस समय कुम्भकर्ण ने कहा था कि महाराज! मैं तो भारद्वाज के आश्रम का छोटा-सा वैज्ञानिक हूँ। ये परमात्मा की विज्ञानशाला के वैज्ञानिक हैं। मैं इनकी समानता कहाँ कर सकता हूँ। (सोलहवाँ पुष्प ३-८-७१ ई.)

विज्ञानवाद और ईश्वरवाद

शंका : इस भौतिक वैज्ञानिक युग में ईश्वरवाद तथा आध्यात्मवाद का कितना महत्त्व है?

समाधान.यह संसार केवल नाना प्रकार के यन्त्रों, ऊँचे-ऊँचे भवनों से, सुन्दर मार्गों से ऊँचा नहीं बनता। यह तो तभी ऊँचा बनता है, जब मानव में चरित्र की महत्ता होती है, पवित्रता होती है तथा एक मानव दूसरे के रक्त का पिपासु नहीं बनता। वे भवन सुन्दर नहीं होते, जिनमें यज्ञ कर्म और सदाचार की सुन्दर वार्ता प्रकट न की जाती हो। वे मार्ग नहीं जिन पर सदाचारी व्यक्ति भ्रमण न करते हों। उस मानव में उच्चता नहीं जो केवल अपने में ही प्रमादी बन जाता है।

चन्द्रमा में जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। चन्द्रमा, बुद्ध, मंगल, शुक्र आदि नाना लोक-लोकान्तरों में तो मानव मन के द्वारा भी भ्रमण कर सकता है, किन्तु चरित्र तो उसी समय आता है, जब मानव अपने ऊपर अनुसन्धान करता है।

प्रकृतिवाद के अनुसन्धान में मानव अणु तथा परमाणुओं को एकत्रित करता है। इससे मानव उज्ज्वलता को प्राप्त करके वायुमण्डल में जा सकता है। यह तो आश्चर्यजनक नहीं है। हमें संसार को उज्ज्वल बनाकर चरित्रवाद की वेदी पर लाना है, जिससे समाज में मानवता का दिग्दर्शन होता रहे।

ईश्वर मानव जीवन का प्रकाशक है। अन्तःकरण को उज्ज्वल बनाने वाला है। हम परमात्मा का चिन्तन करते हुए उसकी आराधना करते हुए, मानवता की पवित्र वेदी पर भ्रमण करते रहें। मानवता को अपनाने का प्रयास करें, वैज्ञानिक बनें परन्तु मानवता और चरित्र को

न त्यागें। इस प्रकार हम जीवन को सार्थक बनाकर आनन्द की प्रतिभा में जाना चाहते हैं। हम प्रभु को जानें, उसको जाने बिना आस्तिकवाद का प्रसार नहीं होगा। हम जीवन में सदाचार चाहते हैं, रूढ़िवाद नहीं। मानवता और महत्ता की प्रतिभा चाहते हैं। जहाँ चरित्र की प्रतिभा होती है, वहाँ राष्ट्र और समाज पवित्र बनकर संसार को ऊँचा बना देते हैं। (इक्कीसवाँ पुष्प २९-९-७३ ई.)

परमात्मा अनन्त है

नाना प्रकार का जो विज्ञान है, वह परमाणुवाद में निहित रहता है। उसको हमारे यहाँ प्रायः प्रत्यक्षवाद कहा जाता है। परोक्ष वाक्य प्रत्यक्ष से भिन्न माना गया है। जैसे क्षुधा है, मानवीय क्षेत्र में उसका भौतिक स्वरूप कुछ नहीं माना जाता, उसका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह अनुभव का विषय है। अनुभव हो रहा है कि अब मुझे क्षुधा लग रही है। इसी प्रकार परमपिता परमात्मा का जो विज्ञान है, अथवा उसकी जो प्रतीति है वह मानव के अन्तःकरण में होती है। उस प्रतीति को हम सदैव अपने अन्तःकरण में धारण करते रहें। उसका जो एक स्वरूप है जो मानव को प्रेरणा देता है, उसे हमें साक्षात्कार कर, लेजाने का प्रयास करना चाहिए। क्योंकि उससे मानव का अन्तःकरण मानव की अन्तरिक प्रतिभा प्रायः विचित्र बनती रहती है। हम परमात्मा को साक्षात्कार करना चाहते हैं। उसकी मौलिकता को जानने के लिए प्रत्येक प्राणी ने नाना प्रकार के प्रयास किए। वह उड़ान में प्रायः सफलता को प्राप्त करता रहा। परन्तु उनका जो अन्तिम परिणाम था वह नेति-नेति का प्रतिपादन करता रहा,

क्योंकि परमपिता परमात्मा को मापा नहीं जा सकता। कोई भी विज्ञान के युग में, आध्यात्मिक युग में, दोनों युगों में जाने वाला प्राणी उस परमपिता परमात्मा को मापना चाहता है तो मापा नहीं जाता। (छबीसवाँ पुष्प ३-१२-७३ ई.)

मानव नास्तिक कब और क्यों बनता है

सदैव से यहाँ वैज्ञानिक होते रहे हैं। किन्तु प्रकृतिवाद का दर्शन करने वाला वैज्ञानिक जब यह मानता है कि ब्रह्म-चेतना का अभाव है तो हम कहते हैं कि वास्तव में ब्रह्म-चेतना का अभाव नहीं होता, बल्कि उस वैज्ञानिक की तपस्या का अभाव होता है। यदि ऐसा न होता तो परमात्मा का अभाव उसके मस्तिष्क में आ ही नहीं सकता था। वह ब्रह्म-चेतना का अभाव उसी मानव के हृदय में आता है, जिसमें तपस्या के अंकुर नहीं होते। (इक्कीवाँ पुष्प २९-७-७३ ई.)

प्रत्येक मानव के हृदय में यह आकांक्षा बनी रहती है कि मैं अपने उस परमदेव को दृष्टिपात करना चाहता हूँ वह मुझे किस स्थली पर प्राप्त हो सकता है ?

वेद का ऋषि कहता है कि परमात्मा को यदि बाह्य जगत् में दृष्टिपात करना है तो उसका जो ज्ञान-विज्ञान है, वह इतना अनुपम है कि उसके सम्बन्ध में प्रत्येक मानव को उड़ान उड़नी चाहिए। बाह्य-जगत् में दृष्टिपात करता हुआ मानव परमपिता परमात्मा के अनन्त ज्ञान-विज्ञान को अपने में नहीं पा पाता। वह बाह्य-जगत् में दृष्टिपात करता हुआ नाना प्रकार के अणु और परमाणुओं में रत रहता है। वह यह जानता है कि इन शब्दों में ब्रह्म को दृष्टिपात करना है। कहीं

मानव रूप में दृष्टिपात करने लगता है, कहीं मंदसुगंध में और कहीं रस में वह नाना लोक-लोकान्तरों की उड़ान उड़ता रहता है। परमात्मा में नवीनता और वृद्धपन को दृष्टिपात करता रहता है।

१-जब दार्शनिकों और विचारकों का यह विचार-विनिमय होने लगता है कि वह ब्रह्म कैसा है ? ब्रह्म को किस प्रकार पाया जाता है ? वैज्ञानिक परमात्मा के बिखरे हुए ज्ञान-विज्ञान से परमाणुवाद की उड़ान उड़ते हैं। उनकी उड़ान अन्तरिक्ष तक चली जाती है। वहाँ से उड़ते हैं, पृथ्वी के गर्भ में जाने के लिए।

२-द्वितीय उड़ान शुक्र मण्डलों के लिए।

३-तृतीय उड़ान सूर्य लोकों के लिए।

४-चतुर्थ उड़ान ध्रुवमण्डल के लिए।

५-पञ्चम् उड़ान स्वाति नक्षत्रों के लिए। मूल नक्षत्रों में अपनी गति बना लेते हैं।

६-ऊर्ध्वगति में जाते हैं तो आकाश गंगा में चले जाते हैं।

७-और ऊर्ध्वगति बनाते हैं तो नाना आकाश गंगाओं में चले जाते है।

८-और भी ऊर्ध्वगति बनाते हैं, तो एक मण्डल से दूसरे मण्डल की सहकारिता में दृष्टिपात करने लगते हैं। एक मण्डल दूसरे से गुंथा हुआ है। एक मण्डल है, एक मण्डल की आकर्षण शक्ति से यह ब्रह्माण्ड गतिशील होता दृष्टिपात माना जाता है।

९-यदि हम और ऊर्ध्व उड़ान उड़ते हैं, तो योगेश्वर बन करके ही संसार को अपने अन्तःकरण में दृष्टिपात करने लगते हैं। ध्यानावस्थित

होने मात्र से ही इस संसार को संकुचित बना लेते हैं। इसका इतना आकुंचन कर लेते हैं कि सर्वत्र विस्तार वाले ब्रह्माण्ड को हम अपने मस्तिष्क में दृष्टिपात करने लगते हैं, क्योंकि इन आकाश गंगाओं का लघुमस्तिष्क होता है। लघुमस्तिष्क में यह लोक-लोकान्तरों वाला ब्रह्माण्ड दृष्टिपात आने लगता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प ४-५-७६ ई.)

यह जगत् परमात्मा का विज्ञान-भवन है। परमात्मा का रचाया हुआ महान् विज्ञान इसमें नित्यप्रति अपना कार्य करता चला जा रहा है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १२-७-७१ ई.)

चाहे विज्ञानवेत्ता हो या अध्यात्मवेत्ता, उस विज्ञान की सभी धाराएँ, यह सभी जगत् परमात्मा के अन्तर्गत ही रहती हैं। विद्युत-विज्ञान, वायु-विज्ञान, पृथ्वी-विज्ञान, जल-विज्ञान, अन्तरिक्ष में शब्दों के प्रसारण का विज्ञान आदि सब परमात्मा के गर्भ में ही रमण कर रहे हैं। वह प्रभु परमाणु में इतनी शक्ति दे देता है कि एक भौतिक-विज्ञानवेत्ता अपने पर गर्व करता है कि मैंने शीतास्त्र, अरुणास्त्र, त्रिकाट आदि अस्त्रों का निर्माण कर दिया। वास्तव में तो यह सब परमदेव की ही महिमा है। (चौदहवाँ पुष्प २७-३-७० ई.)

परमात्मा का विज्ञान अनन्त है

परमात्मा का विज्ञान हमारे विज्ञान से अतिश्रेष्ठ है, किन्तु वह हमारी आभा (बुद्धि) में निहित रहता है। वह हमारी बुद्धियों से दूर भी रहने वाला है, वह बुद्धियों में भी रमण करने वाला है।

इसका स्पष्टीकरण यह है कि मन से आत्मा का सन्निधान होने पर मन कार्य करने लगता है। मन की ही सूक्ष्मधारा का नाम बुद्धि

है। अतः उसमें क्रिया आती है। प्राण का विभाजन करने से, किसी भी वस्तु का विभाजन करने की उसमें प्रवृत्ति होती है। यह आत्मा के सन्निधानमात्र से ही होती है। परमात्मा सबमें समाहित रहता है। समाहित रहने के नाते बुद्धियों के समीप भी रहता है। दूर इसलिए रहता है, क्योंकि यह मन का प्रतिबिम्ब है अथवा मन की एक धारा है और उस धारा में रमण करने वाला मनःस्थित कहलाता है। (इक्कीसवाँ पुष्प पृ. ६६)

पनपेतु ऋषि ने कहा है कि प्रभु के सामर्थ्य से ही यह जगत् अपना कार्य कर रहा है। उसकी चेतना के बिना कोई इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती। जब हम अभिमान में परिणत हो जाते हैं तो हममें अपना अस्तित्व नहीं रह जाता। विचार करने से प्रतीत होता है कि यह सर्वजगत् उस प्रभु के गर्भ में रमण कर रहा है। आध्यात्मिक विज्ञान और भौतिक विज्ञान दोनों में ही उसकी प्रतिभा दृष्टिपात आती है। यदि कोई विज्ञानवेत्ता यन्त्रों का निर्माण करके कहता है कि मैंने तत्त्वों को जानकर, अणुओं, कृतियों तथा ऋत् को जानकर इसे बनाया है। तो उससे जब प्रश्न करते हैं कि ऋत् का स्रोत क्या है ? इस ऋत् और सत् में ही तो यह सब जगत् परमाणुवाद, आध्यात्मिकवाद तथा ब्रह्मवाद रमण करने वाला है, तो वह चैज्ञानिक निरुत्तर हो जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि इसका रचयिता कोई चेतना है, उनके गर्भ में ही मानव रमण कर रहा है। (इक्कीसवाँ पुष्प २९-३-७० ई.)

प्राचीन काल में विज्ञान में नास्तिकवाद नहीं था। आज का

वैज्ञानिक परमात्मा की चेतना को स्वीकार नहीं करता, किन्तु वह इस पर विचार करे कि जिन धातुओं को तुमने जाना है।, उनमें जो क्रिया है वह कहाँ से आती है ? वह प्रकृति को शून्य जड़ स्वीकार करता है या चेतन? यदि जड़ स्वीकार करता है तो जड़वत् प्रकृति में अपना स्वभाव जड़वत् रहता है, चेतना नहीं रहता।

यदि हम स्वीकार कर लेते हैं कि प्रकृति में जो चेतना होती है, उस चेतना के आधर पर हम विज्ञानशाला में निर्माण करते हैं तो यहाँ भी कोई न कोई वस्तु स्वीकार करनी होगी। उसी को ईश्वरीय चेतना कहा जाता है, जो संसार को नियन्त्रित कर रही है। (सोलहवाँ पुष्प १-८-७० ई.)

भौतिक और आध्यात्मिक विज्ञानों का समन्वय

विज्ञानवाद तथा यौगिकवाद में कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं है क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है। किन्तु जब दोनों चलते हैं तो योगी आगे निकल जाता है क्योंकि उसमें नम्रता, मानवता, सूक्ष्मता तथा विज्ञान की प्रतिभा एक महत्ता में परिणत हो जाती है।

वे वैज्ञानिक भी एक प्रकार के योगी ही हैं। जो इस जीवन को क्षणभंगुर समझकर तथा द्रव्य का सदुपयोग करके, विज्ञान में जानकारी के लिए प्रवेश करते हैं। वैज्ञानिक मानव आज चन्द्रमा की 'भावधुक' रेखा के समीप चला गया है। द्रव्य को भोगों-विलासों में नहीं लगाया। यौगिकवादी तथा भौतिकवादी दोनों को ही मृत्यु से भय नहीं होता, यहाँ तक दोनों समान हैं। परन्तु एक योगी प्रकृतिवाद से उदासीन रहता है। वह ब्रह्म की चेतना को स्वीकार करता है। यह

दोनों में अन्तर है। (तेरहवाँ पुष्प २३-८-६९ ई.)

यह जो संसार दृष्टिपात हो रहा है, परमात्मा का गर्भस्थल या विज्ञानशाला है। इस विज्ञानशाला में जो नाना प्रकार के मण्डल हैं, उनको विज्ञान के सहित जानना है क्योंकि इस विज्ञान-भवन में हम सब प्राणीमात्र आए हैं और विश्राम करके चले जा रहे हैं। भौतिकवादी तथा योगी दोनों का यह परम-कर्त्तव्य है कि वे इस पर विचार करके जानें कि इस संसार रूपी विज्ञान भवन की क्या स्थिति है? वह किस प्रकार का है? इसमें प्रभु किस प्रकार विराजमान है? इसमें कैसे-कैसे परमाणु हैं? कैसे-कैसे लोक हैं? आदि-आदि। (सातवाँ पुष्प २७-७-६६ ई.)

मानव को विज्ञान को जानना है, विज्ञान की प्रतिभा में जाना है। आत्मिक विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान दोनों का समन्वय करना है। अपने हृदय और मस्तिष्क दोनों का मिलान करना है। यह मिलान इसी प्रकार हो सकता है कि उसे अपने विचार संकुचित न बनाकर व्यापक हृदय बनाना है। व्यापक हृदय बनाकर उसे ओ३म् रूपी धागे में परिणत कर देना है। दोनों का तारतम्य लगा करके मन और मस्तिष्क की दूरी का समन्वय कर देना है। उस समय मानव ऐसी-ऐसी वार्ताएँ प्रकट करने लगता है, जो न सुनी जाती हैं और न ही जानी जाती है। कहीं-कहीं तो सुनने वाले उन बातों को पाखण्ड तक कहने लगे हैं। जब आत्मवेत्ता अपने क्रियात्मक कार्यों को करता है तो हिंसक प्राणी भी आत्मा की विवेचना को स्वीकार करने लगते हैं। वही व्यापक विचार होता है, उसी को साम्य विचार या साम्य-अमृत

कहा जाता है। (चौदहवाँ पुष्प २-११-७० ई.)

दोनों विज्ञानों को जानना मानव का कर्त्तव्य है

जब हम विज्ञान के आधार पर अपने जीवन को निर्धारित कर लेते हैं तो दोनों प्रकार का पक्ष, आत्मा का पक्ष तथा विज्ञान के परमाणुओं का पक्ष हमारे समीप होता है। दोनों पक्षों में भिन्नता मानी गई है। जहाँ परमाणुवाद के अन्त करने को प्रश्न आता है, वहाँ से आध्यात्मिक विज्ञान आत्मा का साक्षात्कार आरम्भ हो जाता है। प्रत्येक मानव का जीवन चाहे वह किसी भी लोक-लोकान्तर में रहता हो, आध्यात्मिकवाद तथा भौतिकवाद परमाणुवादों से गुंथा हुआ माना गया है। अतः इन दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं को जानना हमारा एक मौलिक कर्त्तव्य है। (तेइसवाँ पुष्प ४-१०-७१ ई.)

जब भौतिक विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान दोनों मिलकर चलेंगे, तो मानव का सदैव कल्याण होगा। यदि संसार में केवल भौतिक विज्ञान है, आध्यात्मिक विज्ञान नहीं तो उसे विज्ञानवेत्ता स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब तक हमारे यहाँ दोनों विज्ञानों की समता नहीं होगी, तब तक मानववाद संसार किसी भी प्रकर ऊँचा नहीं बन सकता और न ही राष्ट्रवाद ही ऊँचा बनेगा।

बुद्धि और मेधा का क्षेत्र केवल भौतिकवाद है, ऋतम्भरा और प्रज्ञा का क्षेत्र आध्यात्मिक विज्ञान है। (नौवाँ पुष्प ६-१०-६७ ई.)

अध्यात्मवाद की सिद्धि के लिए यज्ञ करना कर्त्तव्य है

यदि भौतिकवाद के गर्भ में अभिमान न आ जाए तो वह अध्यात्मवाद में परिवर्तित हो सकता है। परन्तु भौतिकवाद में प्रकृति

और 'मैं' के वाद में अभिमान की मात्रा होती ही है। यह परम्परा की बात है, किसी के वश की बात नहीं। भौतिक विज्ञान के गर्भ में जो अभिमान है, वह अभी पूर्णतया उद्भूत नहीं हुआ है। इसका पूर्ण तथा उत्थान हो जाएगा तो मानव के हृदय से ऐसा परमाणुवाद अन्तरिक्ष में ओत-प्रोत हो जाएगा कि कुछ समय में यह समाज उस अग्नि की ज्वाला में भस्म हो जाएगा।

जब भौतिकवाद में आध्यात्मिकवाद की पुट नहीं होती, धर्म की मर्यादा नहीं होती, आध्यात्मिक विज्ञान नहीं होता तो उस विज्ञान को निगलने वाला नहीं होता। भौतिक-विज्ञान, आध्यात्मिक विज्ञान का भोजन होता है, इसलिए यज्ञ करना चाहिए। यज्ञ से उसका मिलान अध्यात्मवाद से होता है। (सोलहवाँ पुष्प ४-८-७१ ई.)

संसार में विज्ञान होना चाहिए और बहुत अधिक होना चाहिए। परन्तु आध्यात्मिकवाद और धार्मिकवाद उससे अधिक होना चाहिए। आध्यात्मिकवाद में माता को माता की दृष्टि से पान किया जाता है, भौजाई को भौजाई की दृष्टि से। परन्तु जब परमाणुवाद आ जाता है, प्रकृतिवाद आ जाता है तो इसमें विवेक नहीं रहता। इसमें विडम्बना आ जाती है, अभिमान आ जाता है राष्ट्र और समाज को और मानव को नष्ट करने वाला होता है।

वैज्ञानिकों और आत्मवेत्ताओं दोनों का एक स्वरूप बनना चाहिए। जैसे कोई ब्रह्मवेत्ता है, उसे किसी ऋचा को जानना है। दर्शनों में ऋचा का वर्णन आता है। ऋचा का विचारक जो पुरुष होता है, एकान्त स्थान में चला जाता है, भयंकर वनों में चला जाता है। अपने

को ऋचा के लिए अर्पित कर देता है, समर्पित कर देता है।

ऋचा को जानने के लिए एक ऋषि को सैंकड़ों और सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाते थे। वे अपने को नहीं जान पाए कि मैं जगत में हूँ? संसार में हूँ, कहाँ हूँ? वे अपने को चेतना में अनुभव करने लगते हैं। मैं चेतना में हूँ मेरी तो चेतना ही भिन्न है।

इसी प्रकार जो वैज्ञानिक होते हैं वे एक-एक वस्तु पर एक-एक परमाणु पर अनुसन्धान करता हुआ छः-छः मास तक उसी अनुसन्धान में लीन हो जाता है। जैसे सम्राट रावण के भाई कुम्भकरण छः-छः मास तक अनुसन्धान में लीन रहते थे। अनुसन्धान करता हुआ नाना परमाणु अस्त्रों के निर्माण करने वाला बन जाता है। (बाईसवाँ पुष्प २-८-७० ई.)

आध्यात्मिक विज्ञान और भौतिक विज्ञान दोनों का मिश्रण होना चाहिए। आध्यात्मिकवाद इसलिए अनिवार्य है कि मानवों में विवेकी पुरुष होने चाहिए।

जब क्रियात्मक आध्यात्मिकवाद होता है, तो विवेकी पुरुष होते हैं, निष्पन्न पुरुष होते हैं। जहाँ विवेकी पुरुष होते हैं, वहाँ उनके द्वारा राष्ट्र तथा समाज का कल्याण हो जाता है। वह जो निर्माण है, राष्ट्रीयता है, उससे मानव ऊँचा बना रहता है।

इसके विपरीत यदि विज्ञान ही प्रगतिशील होता रहा, तो अन्त में इसका दुरुपयोग होने लगता है। जब विज्ञान का दुरुपयोग होना आरम्भ हो जाता है, तो उस समय समाज में रक्त भरी क्रांतियों का आना सम्भावित हो जाता है। (चौबीसवाँ पुष्प ६-८७७३ ई.)

मानवता की स्थापना

यौगिकता तथा भौतिकता का समन्वय करते हुए ऋषियों ने कहा था कि यन्त्र निर्माण हमारे लिए कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु आध्यात्मिकवाद, विनम्रता और मानवता का समाज में लाना अनिवार्य है। संसार में केवल एक-दूसरे की टिप्पणी से काम नहीं चलेगा। हमें अपने विचारों को सुदृढ़ बनाकर यौगिकता को प्राप्त करना होगा। यौगिकता ऋषियों के मस्तिष्क में रही है। वे तपस्वी होते हैं। एक अन्तःकरण को जानना, एक-दूसरे की आभा को जानना मृगराजों के अन्तःकरण को जानना, यह विद्या योगियों के मस्तिष्क में रहती है। (अठारहवाँ पुष्प १३-४-७२ ई.)

भौतिक विज्ञान से भोगवाद का प्रसार होता है

महर्षि भारद्वाज अपने शिष्यों को भौतिक विज्ञान की शिक्षा को देते समय यही कहा करते थे कि इनको जान लो, प्रयोग करो, सब कुछ करो, परन्तु इसके ऊपर अधिक मत जाना, क्योंकि इससे आचरणों में भ्रष्टता आ जाती है।

वास्तव में इसका तात्पर्य यही है ब्रह्म की चेतना से मानव की अन्तरात्मा का विकास होता है अन्तरात्मा का जो विकास है, वह भौतिक विज्ञान से सहस्रों गुणा होता है। वास्तव में आध्यात्मिक वैज्ञानिक भौतिक वैज्ञानिक भी होता है क्योंकि वह १-स्थूल, २-सूक्ष्म तथा ३-कारण शरीरों को जानता है। उसी में भौतिक विज्ञान भी आ जाता है। भौतिक वैज्ञानिक का क्षेत्र सीमित है, जबकि आध्यात्मिक वैज्ञानिक का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वह कहीं भी सूक्ष्म शरीर से

भ्रमण कर सकता है। आज भी इस प्रकार के योगी पर्वतों की कन्दराओं में हैं, जो यात्रा करते हैं तथा शान्त हो जाते हैं। (तेरहवाँ पुष्प २३-८-६९ ई.)

संसार को सुखी बनाने के लिए यौगिक प्रणाली के द्वारा विचार करने की आवश्यकता है। आज जहाँ मानव भौतिक यन्त्रों तथा यानों के द्वारा एक-दूसरे के निकटतम आता चला जा रहा है, उतना ही वह हृदयों से दूर होता चला जा रहा है। मानव धर्म की घोषणा करता है, किन्तु यह वाद उसके मस्तिष्क में नहीं कि अपने विचारों को भी सुगठित बनाना है या नहीं। यही कारण है कि आज मानव सुखी प्रतीत नहीं होता। दूसरों से दूर होने का कारण यह है, महाभारत काल के पश्चात् आध्यात्मिक वेत्ताओं ने अपने को स्वार्थवाद में परिणत करते हुए अपनी तथा दूसरों की मानवता को संकीर्णता में लाने का प्रयास किया।

मानव यौगिक परम्पराओं में पारंगत होकर भी आनन्द प्राप्त इसलिए नहीं कर पाता कि उसके विचार उतने व्यापकता में परिणत नहीं होते, जितने होने चाहिए! उसके विचारों में सूक्ष्मता रह जाती है। प्रजा कभी दोषारोपण के योग्य नहीं होती। जब राजा ऊँचा होता है, तो प्रजा स्वयं ऊँची हो जाती है। जब योगी ऊंचे बन जाते हैं, तो संसार स्वयं ऊँचा बन जाता है तथा सहायक भी ऊँचे बन जाते हैं। (बीसवाँ पुष्प १२-२७७२ ई.)

विज्ञान क्या है ? विज्ञान-नाना प्रकार के परमाणुवाद को जानना यन्त्र बनाना, चन्द्र-मण्डल में जाना और भी लोक-लोकान्तरों में जाना।

यह वास्तव में विज्ञान तो है, परन्तु जहाँ मन और प्राण का निदान करके तथा दोनों का मिलान करके जब नाना नाड़ियों तथा चक्रों की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तो यह विज्ञान उस मानव के समीप इस प्रकार आ जाता है जैसे गऊ का बछड़ा गऊ के पास।

लोक-लोकान्तरों की मानव की उड़ान प्रायः विनाशकारी होती है। यह लाभकारी भी बन सकती है। जब एक याज्ञिक पुरुष के पास दोनों प्रकार का विज्ञान होता है। १-एक मानव की रक्षा करने वाला, २-दूसरा मानव तथा समाज को नष्ट करने वाला। रक्षा महान् सुकृतों वाला ही कर सकता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १३-२-७१ ई.)

भारद्वाज ऋषि कहते हैं कि यह पञ्चमहाभूतों का विज्ञान इसी मार्ग को हो करके आध्यात्मिक-वेत्ता बन जाता है। आध्यात्मिक-वेत्ता का मार्ग है, इस भौतिकवाद को जानना, भौतिकवाद को जान करके ही सार ग्रहण कर और यदि सार न हो तो त्यागते चले जाएँ, और मृत्यु को विजय करना आध्यात्मिकवाद कहलाता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प ६-५-७६ ई.)

दोनों की प्रक्रिया

श्रीमान पूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज अपने किसो जन्म की स्मृति प्रकट करते हुए कहते हैं कि मुझे वह काल भली-भांति स्मरण आता रहता है, जब यहाँ ऋषि-मुनि विराजमान होकर अपने चित्त पर अनुसन्धान किया करते और उसी चित्त की आभा के साथ परमाणुवाद पर भी अनुसन्धान करते थे। उनका सदैव यह दृष्टिकोण रहा है कि जब आध्यात्मिकवाद में सर्वत्र विज्ञान आता है, तो हमें

मन के ऊपर अनुसन्धान करना है। चित्त को हमें शान्त बनाना है। हमें संसार के दोषारोपणों को दृष्टिपात नहीं करना है। केवल हमें अपने चित्त के आनन्द में प्रतिष्ठित होना है। चित्त को दृष्टिपात करते हुए मन में संलग्नता को परिणत होते हैं जो मन में, चंचलवाद में रमण करता है।

मन एक चित्रण लेने वाला है। संसार को जो हमने दृष्टिपात किया, नेत्रों से तो दृष्टिपात किया मन ने उसका चित्र लिया और आत्मा के प्रकाश में इस जगत् को दृष्टिपात किया गया। वे चित्र तथा उनके संस्कार चित्त में विराजमान हो रहे हैं, उनकी बड़ी-बड़ी विचारधाराएँ छाती जा रही हैं।

जो वस्तु चित्त में विराजमान हो जाती है, उसका नाम संस्कार है। भारद्वाज तथा अन्य ऋषियों ने कल्पना की कि १-मन, २-बुद्धि, ३-चित्त और ४-अहंकार, इन चारों को एक सूत्र में लाने का नाम अन्तःकरण है, चित्त, मन और बुद्धि के द्वारा निर्णय किया हुआ है, उसमें उसका चित्र आ जाता है। कैसी भी सूक्ष्म वार्ता हो, कैसा भी चित्त में विचार हो, आत्मा का विचार हो, परमपिता परमात्मा का विचार अथवा प्रकृति के एक-एक परमाणुवाद का क्यों न विचार हो, उन सबके संस्कार चित में विराजमान हो जाते हैं। संसार में जितना भी लोकवाद है, परमाणुवाद है अथवा जितना भी नेत्रों से मन और बुद्धि के द्वारा जो भी ग्रहण किया जाता है, वह सारा परमाणु प्रकृति के सहयोग से प्राप्त किया गया है। यदि प्रकृति उसमें संलग्न नहीं होती तो कोई भी कार्य नहीं कर पाएँगे।

जैसे मन प्रकृति की धारा है, बुद्धि मन की धारा है। चित्त और अन्तःकरण भी मन की धाराएँ हैं। बुद्धि की चार धाराएँ हैं.१-बुद्धि, २-मेधा, ३-ऋतम्भरा और ४-प्रज्ञा। परन्तु ये सब मन की धाराएं हैं।

अतः जब मन बुद्धि के क्षेत्र में जाता है तो बुद्धि लिप्त बन जाता है, मेधा के क्षेत्र में जाता है तो मेधा-युक्त बन जाता है। प्रज्ञा में जाता है तो यह प्रज्ञायुक्त क्षेत्र बन जाता है। परिणाम यह है कि यह उसकी धारा है। इसी प्रकार बुद्धि के आँगन को त्याग करके जब सूक्ष्म मेधावी बुद्धि में जाता है तो लोक-लोकान्तरों का ज्ञान होने लगता है। जब यह ऋतम्भरा में जाता है तो लोकों के ज्ञान को अनुभव करके यह त्यागने लगता है। इसके रहस्यों को त्यागने लगता है। जब कोई रहस्य प्रतीत नहीं होता तो उसका नाम विवेक है।

मन ऋतम्भरा को भी त्यागकर, वह प्रज्ञावी क्षेत्र में चला जाता है। यहाँ केवल एक ब्रह्म को साथी बनाता है, मित्र बनाता है। चित्त में वही धारा प्रारम्भ हो जाती है। अब चित्त में जो धाराएँ ंहै, उन धाराओं का हम ज्ञान और विवेक के द्वारा, परमात्मा की सहकारिता के द्वारा इस प्रकृतिवाद को त्यागने का प्रयास करते हें तब वह चित्त की जो प्रतिभा है, वह भी समाप्त हो करके यह आत्मा मोक्ष को प्राप्त हो जाता है इसीलिए अध्यात्मवेत्ताओं ने कहा है कि हम चित्त का शोधन करें। चित्त मानव को प्रकृति के आँगन में ले जाना चाहता है। उस मार्ग को त्याग करके हम उसके आँगन से दूर चले जाते हैं। यह जो आत्मा है, उसके लिए संसार की क्रिया उस समय केवल एक चेतना ही चेतना दृष्टिपात होती है।

चित्त प्रकृति का सूक्ष्मतम तत्त्व माना जाता है। इसलिए प्रकृति का जितना भी यन्त्रवाद है, प्रकृति का जो एक-एक परमाणु है, एक-एक लोक-लोकान्तर है, उसकी धारा चित्त में विराजमान रहती है। इसीलिए ऋषि-मुनियों ने पिण्ड और ब्रह्माण्ड की कल्पना की हैं भौतिकविज्ञानवेत्ता यह कहते हैं कि संसार में जो कुछ भी क्रिया है वह केवल प्रकृति वाद मानी जाती है। हमारे यहाँ भारद्वाज आदि ऊँचे वैज्ञानिकों ने इस क्रिया को तथा इस संसार को संचालन करने वाली किसी सत्ता को स्वीकार किया। उस सत्ता को हमारे यहाँ चेतन-प्रभु कहा जाता है।

भारद्वाज तथा अन्य ऋषि-मुनियों ने चित्त को लेकर ही उन परमाणुओं को एकत्रित करना आरम्भ किया, जिन धाराओं से चित्त में संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है, ऋषि भारद्वाज ने इसी आधार को नाना प्रकार की धातुओं को एकत्रित करना आरम्भ किया क्योंकि जिन धातुओं से हम किसी की चेतना से, हम संसार को दृष्टिपात करते हैं, विभाजनवाद भी करते हैं, इसी प्रकार उन्होंने इस प्रकृति में जो विभाजनवाद हो रहा था उसको जानने को प्रयास किया। (चौबीसवाँ पुष्प ६-८-७३ ई.)

ज्ञान-विज्ञान में प्रवेश

हमारे यहाँ योगीजन विज्ञान को जानते हुए भी प्रकट नहीं करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि यह भौतिक-विज्ञान है, यान्त्रिक-विज्ञान है, इससे प्राणी को विशेष लाभ नहीं होता। इसका दुरुपयोग होने लगता है। तब विज्ञान भ्रष्ट हो जाता है। यदि इसका सदुपयोग होने लगता

है तो सत्य में रमण करने लगता है।

प्रायः ऐसा है कि प्रकृति के विज्ञान में अहंभाव अधिक होता है। इसलिए इसका सदैव दुरुपयोग होता रहा है। अन्त में दुरुपयोग होता है, जब दुरुपयोग होता है तो समाज में रक्तभरी क्रान्तियां आ जाती हैं। जैसे १-विष्णु-काल, २-देवासुर-संग्राम, ३-रावण का काल और महाभारत का काल आदि। प्रायः परम्परा से इस प्रकार का संग्राम होता रहा है। (चौबीसवाँ, पुष्प १८-८-७२ ई.)

जब हम यह विचार आरम्भ करें कि विज्ञान कितना महान् है, साथ में भौतिक-विज्ञान तथा आध्यात्मिक-विज्ञान की सन्तुलना करते हैं तो योग के मार्ग में प्रवेश करने से पूर्व हमें अपने मानवीय जीवन के चित्रण को अच्छी प्रकार जानना होगा।

भारद्वाज ने रेवक से कहा था कि महाराज ! मैंने भौतिक-विज्ञान में प्रवेश कर लिया है। मैं यह जानने का प्रयत्न करता रहा हूँ कि इसमें कितनी तरगें हैं, इन तरगों का क्या-क्या कार्य है?

जब मैं आध्यात्मिक-विज्ञान में प्रवेश करता हूँ तो यह आध्यात्मिक विज्ञान मेरे समीप आने लगता है। आत्मा का प्रकृति से कितना सम्बन्ध है? कितना मिलान है? तथा इन दोनों की सन्निधानता कितनी होनी चाहिए?

हमारे यहाँ तीन प्रकार की वस्तुएँ विचारणीय हैं। १-प्रकृति के तत्त्वों का विषय, २-आत्मा का विज्ञान, ३ परमात्मा का विषय।

प्रकृति के तत्त्वों का विषय

प्रकृति में पंचमहाभूत हैं इनमें नाना प्रकार की तरंगो और आभाएँ

उत्पन्न होती हैं। इनको विचारने का नाम ही भौतिक-विज्ञान है। जब तक प´चमहाभूतों को अच्छी प्रकार नहीं जान पाएँगे तब तक आत्मा के विज्ञान में प्रवेश नहीं कर सकते। हमें प्रकृति विज्ञान को अच्छी प्रकार जान लेना चाहिए, तथा अग्नि में कितनी तरंगो वायु में कितनी? तथा पृथ्वी में कितनी हैं? इन सब तरंगो को जानकर, इन पर विचार-विनिमय तथा अध्ययन करना मानव का कर्त्तव्य है। जब किसी कार्य में हमारा जीवन आरम्भ होता है, अथवा प्रवेश करता है तो उसको जान लेना अनिवार्य है।

आत्मा का विज्ञान

जब यह विचारते हैं कि आत्मा का प्रकृति से कितना सम्बन्ध है, कितना मिलान है? इन दोनों की कितनी सन्निधानता माननी चाहिए? तब आत्मा का आध्यात्मिकवाद में प्रवेश होता है। जब यह आत्मा अपने स्वरूप में प्रविष्ट होता है तो यह प्रकृतिवाद, प्रत्ययवाद आदि एक नृत्य रह जाता है। जब तक नृत्य करने वाले आत्मा का प्रकृति से मिलान रहता है, तब तक प्राणी नृत्य करता रहता है। जब यह प्रकृति उपराम होकर अपने स्वरूप में चला जाता है, तब यह उस परब्रह्म के प्रकाश में रमण करने लगता है। जिस परमात्मा के सन्निधानमात्र से यह जगत् क्रियाशील हो रहा है। यह प्रकृति अपने आसन पर नृत्य कर रही है।

क्योंकि ब्रह्म इस आत्मा में ओत-प्रोत है, परब्रह्म से संयुक्त होकर यह आत्मा प्रकृति के अंगो-अंगो का ज्ञाता बन जाता है। प्रकृति के अंग-अंग को जानने के पश्चात् यह आत्मा उस परब्रह्म में ओत-प्रोत

रहता है।

परमात्मा में उसी प्रकार रमण करता रहता है, जिस प्रकार माता का प्रिय शिशु माता की लोरियों में आनन्द प्राप्त करता रहता है।

परमात्मा का विषय

आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध में एक विवाद या विचार चलता रहता है। ऋत् और सत् के ऊपर ऋषियों ने बहुत अनुसन्धान किया। वायु-मुनि, भारद्वाज तथा अनेकों ऋषियों का यह विचार रहा है कि १-प्रकृति, २-जीवात्मा और ३-ब्रह्म (परब्रह्म, परमात्मा) इन तीनों पर विचार करने के पश्चात् त्रैतवाद को लेकर जो अपनी मानवता को विचारता है, वह अपनी मानवता में सफलता को प्राप्त होता रहता है।

व्याप्य और व्यापकता का एक गम्भीर विषय है। इसके ऊपर विचार तथा साधनाएँ की गईं। साधनाओं से जो कुछ भी प्राप्त हुआ, उसको उच्चारण करने में वाणी असफल हो जाती है, उसमें मानव की वाणी अपना कार्य नहीं कर पाती।

इसीलिए संसार में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति तीनों को भिन्न-भिन्न स्वीकार करना, उन पर विचारना तथा इन तीनों के रूपों को जानना यही मानव का महत्व है, क्योंकि संसार में जड़ और चेतन दोनों ही पदार्थ माने गए हैं। आत्मा और परमात्मा चेतन हैं। मन जड़ है, प्रकृति का विषय है। यह (मन) आत्मा के सन्निधानमात्र से अपना कार्य आरम्भ कर देता है। इसका कार्य इतना विचित्र बनता चला जाता है कि मानव इसको लेखनीबद्ध करने का प्रयास करता है,

किन्तु अन्त में लेखनीबद्ध करना असम्भव प्रायः हो जाता है। आगे लेखनीबद्ध नहीं हो पाता। (अठारहवाँ पुष्प ११-४-७२ ई.)

हम परमपिता परमात्मा की उस आभा में रमण करना चाहते हैं जिसमें उसका ज्ञान-विज्ञान सदैव ओत-प्रोत रहता है। जब हम इस संसार पर दृष्टिपात करते हैं तो सर्वजगत् हमें ज्ञान-विज्ञान की ही प्रतिभा में दृष्टिपात आने लगता है। इसलिए हम उस परमपिता परमात्मा की ज्ञान-विज्ञान की वेदी पर सदैव दृष्टिपात करते रहें और ज्ञान-विज्ञान में हमारी निष्ठा होती हुई, उस पवित्र आभा को हम जानने वाले बनें। जब हम परमपिता की महिमा का गुण-गान गाने के लिए तत्पर होते हैं, विचार-विनिमय करना आरम्भ कर देते हैं तो हमें वह महान् चेतना ज्ञान और विज्ञानमय दृष्टिपात आने लगता है। हम उस मनोहर विज्ञान को दृष्टिपात करना चाहते हैं, जिस विज्ञान की धारा पर मानव योगेश्वर बन जाता है, महामुनि बन जाता है, ऋषि बन जाता है।

जब हम यह विचारते हैं कि परमात्मा के ज्ञान-विज्ञान पर अनुसन्धान करने वाला पुरुष एक महान् वैज्ञानिक और परमपिता परमात्मा का पथिक बन जाता है तो हमें परमात्मा को जानने से पूर्व ज्ञान और विज्ञान की आभा में परिणत हो जाना चाहिए। जिस प्रकार चन्द्रमा के उस महान् छटामय मेघों के आँगन में आ जाने पर पृथ्वी पर अन्धकार छा जाता है, उसी प्रकार जब मेघ-मण्डल रूपी १-मल, २-विक्षेप, ३-आवरण छायामान हो जाते हैं तो मानव अन्धकार में परिणत होने लगता है। विज्ञान में उसकी प्रतिष्ठा नहीं रह पाती।

इसलिए हमें उस विज्ञान को जानना चाहिए जिसमें रमण करने वाला आत्मवेत्ता बन जाता है। भौतिक-विज्ञान, आध्यात्मिक-विज्ञान के गर्भ में परिणत हो जाता है। (तेईसवाँ पुष्प १२-७-७१ ई.)

मान-अपमानमय जीवन संकुचित होता है

मानव संकुचित विचारों तथा सूक्ष्म मान-अपमान की प्रक्रियाओं में संलग्न रहता है। परन्तु जब हम यह विचारते हैं कि मान-अपमान में आ जाने पर हमारा जीवन कोई सुन्दर नहीं रहता है। यह तो तभी सुन्दर रहता है, जब हम ज्ञान और विज्ञान के आधार पर अपने जीवन को निर्णयात्मक रूप में लाने का प्रयास करते हैं, ज्ञान विज्ञान दोनों का साक्षात्कार कर लेते हैं। वही तो मानव की पवित्र अवस्था कहलाई गई है। (तेईसवाँ पुष्प ४-१०-७१ ई.)

आध्यात्मिक ज्योति का घृत ज्ञान-विज्ञान है

माता वसुन्धरा के गर्भ में यह संसार वशीभूत हो रहा है। माता उसे कहते हैं जिसमें ममता होती है, उसकी ममता वही होती है जो हमें अनुपमता प्रदान करती है। वह अनुपमता एक महान् ज्योति है। उसी ज्योति के प्रकाश में प्रत्येक मानव, प्रत्येक देवकन्या तथा प्रत्येक ऋषिमण्डल ज्योतिष्मान हो रहा है। अतः उस अखण्ड ज्योति को हमें जागरूक करना चाहिए। उस ज्योति में घृत देना हमारा कर्तव्य है। उस आध्यात्मिक ज्योति का घृत ज्ञान और विज्ञान है। ज्ञान-विज्ञान से मानव का आत्मबल बलिष्ठ होता है। जैसे लोक में ज्योति उसी समय तक जलती है जब तक उसमें घृत रहता है तभी तक वह ज्योति कहलाती है। किन्तु घृत के समाप्त होने पर कहते हैं कि ज्योति शान्त

हो गई।' इसी प्रकार मानववाद के जीवन में यदि आध्यात्मिकवाद नहीं दैवी शक्ति नहीं है, तो इसके न रहने परज्आत्मबल नहीं रहेगा। उस समय कहा जाता है कि इसमें आत्मबल नहीं है। इसमें दोषज्तथा विडम्बना इतनी आ गई है कि उसकी आत्मबल रूपी ज्योति शान्त हो गई है। हमें उसी ज्योति को जगरूक करना चाहिए। जैसे लोक में सूर्य की ज्योति सदैव रहती है, इसी प्रकार हमें ज्योति को जागरूक रखना चाहिए।

अनुष्ठान क्यों ?

आध्यात्मिक बल को बलिष्ठ करने के लिए अनुष्ठान किए जाते हैं। अनुष्ठानों का अभिप्राय यह है कि मानवीय जीवन तथा मानवीय धारा इतनी निष्ठावान होनी चाहिए तथा उसमें इतनी दृढता और इतना प्रकाश होना चाहिए कि जिससे इस संसार में आध्यात्मिक वेत्ता बन करके ज्ञान और विज्ञानमयी ज्योति को जानता हुआ इस संसार-सागर से पार होने का प्रयास करता रहे। (अठारहवाँ पुष्प १९-३-७२ ई.)

विष्णु पद को प्राप्त करो

विष्णु के दो गण होते हैं जय और विजय। जय-विजय नाम ज्ञान और विवेक का है। जब हम विष्णु बन करके ज्ञान के द्वारा नाना लोक-लोकान्तरों में रमण करने लगते हैं तथा यन्त्रों का आवागमन हो जाता है, तब अन्तरिक्ष के परमाणुवाद पर विजय पाना है। विष्णु बन करके विजय पाई जाती है। जब मानव में विवेक उत्पन्न हो जाता है, तो विवेक से ही संसार को विजय कर लेता है।

भौतिक विष्णु बनने से हम एक राष्ट्र को ही विजय कर सकते हैं परन्तु तब आध्यात्मिक विष्णु बन जाते हैं, तो हम संसार को विजय कर लेते हैं, संसार में हमारी प्रतिष्ठा हो जाती है। (तेईसवाँ पुष्प-२८-७-७१ ई.)

अध्यात्मवाद के चार अध्यर्थी

जैसे भौतिक-विज्ञान-वेत्ता अग्नि, वायु, जल आदि पर अनुसन्धान करते हुए उनके परमाणुओं को एकत्रित करके यन्त्रों के आविष्कार करता है इसी प्रकार आध्यात्मिक वेत्ता आत्मा के लिए चेतना पर अनुसन्धान करता है। आत्मा को जानने वाले चार प्रकार के पुरुष होते हैं। १-दुःखित, २-जिज्ञासु, ३-अर्थार्थी, ४-ज्ञानी।

दुःखित

दुःखित मानव वह होता है, जो नाना प्रकार के विडम्बनावाद तथा रूढ़िवाद से दुःखित होकर यह उच्चारण करता है कि मैंने जब से जन्म लिया है, संसार में मैंने आनन्द का एक भी श्वास नहीं लिया। मान-अपमान के जगत् में रहने वाला मानव सदैव दुःखित हो जाता है।

जिज्ञासु

जिज्ञासु वे होते हैं, जिनको यह जिज्ञासा रहती है कि प्रभु ! यह जगत् क्या है? माता के गर्भ में कौन मेरा निर्माणवेत्ता था? क्यों निर्माण हुआ? किसलिए निर्माण हुआ? मेरे जगत् में आने का मन्तव्य क्या है? जिज्ञासु अपने को आचार्य के समक्ष समर्पित करते हुए कहता है कि प्रभु ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरे संसार में

आने का उद्देश्य क्या है?

मानव जीवन मोक्ष प्रप्ति के लिए

उस समय बुद्धिमान ब्रह्मवेत्ता आचार्य कहता है कि तुम्हारे आने का उद्देश्य यह है कि तुम किसी वस्तु से अलग हो गए थे, उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए तुम संसार में आए हो। इस मानव शरीर को तुमने प्राप्त किया है। जैसे नाना प्रकार के प्राणी विद्युत् के प्रकाश में अग्नि के प्रकाश में अपने को इसलिए न्यौछावर कर देते हैं, क्योंकि वे किसी काल में वास्तविक प्रकाश से दूर हो गए थे। अब वे प्रकृति के प्रकाश में आकर के अग्नि के जड़वत् प्रकाश में आकर के अपने प्राणों को न्यौछावर कर देते हैं। इसी प्रकार मानव जीवन का उद्देश्य है कि तुम किसी वस्तु से अलग हो गए थे किसी प्रकाश से दूर हो गए थे। अब तुम उस प्रकाश के लिए आए हो उस प्रकाश को प्राप्त करो।

हम मोक्ष में थे, मोक्ष की अवधि समाप्त होने पर हम चेतना से दूर हो गए। उस आनन्द की पिपासा के लिए हमारा जन्म होता है।

इसी प्रकार वह जिज्ञासु नाना प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करता रहता है। ब्रह्मवेत्ता उसका उत्तर देते रहते हैं। उसके मस्तिष्क में नाना जिज्ञासाएँ आती रहती हैं।

अथार्थी

अथार्थी वे होते हैं जो यह विचारते हैं कि मैं कितना अथार्थी हूँ ? मैं कौन हूँ, मेरा जो यह शरीर है, यह क्या है? यह कितने तत्त्वों से निर्मित हुआ है? वे परमात्मा के आँगन में चलने का प्रयास करते

हैं।

ज्ञानी

ज्ञानी वह है जो यह जानता है कि इस मानवीय जगत् में वास्तविकता दृष्टिपात नहीं होती। एक मानव किसी को कटु वाक्य उच्चारण करके दोषारोपण करता है, दूसरा मधुरता से करता है। परन्तु आरोपण दोनों करते हैं। कटुता वाला जो प्राणी होता है, उसके मस्तिष्क में अपमान, अभिमान और हिंसा तीनों ही एक स्थली में रहते हैं।

जो मधुरता से अपमानित करता है, उसके गर्भ में मोह होता है। उसके मस्तिष्क में एक स्थली में मोह और द्वितीय स्थली में उसकी जिज्ञासा होती है। वह उसको ज्ञानपूर्वक जानता है जो करना चाहता है।

ज्ञानी और अथार्थी में अन्तर्द्वन्द्व

जो मानव अहंकार और अपमान की दृष्टि से अपमानित करता है, उस मानव का तो पुण्य समाप्त हो जाता है। परन्तु जो ज्ञानपूर्वक किसी वस्तु का निर्णय लेना चाहता है और उसमें अभिमान नहीं होता, उस मानव का पुण्य प्रबल होता चला जाता है। ज्ञानी पुरुष यह जानते हैं कि यह माँ है यह भौजाई है। इनका अन्तिम परिणाम क्या है? मोह का परिणाम क्या है? क्रोध का परिणाम क्या है? वह इनको जानते हुए त्यागता रहता है। त्यागने योग्य अवस्था त्यागते हुए वह ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता रहता है। जैसे योगाभ्यासी प्राणी ऋद्धि-सिद्धियों को त्याग देता है, वह केवल परमात्मा की प्राप्ति के

लिए मन और प्राण दोनों का सन्निधान करने में लगा रहता है। इसमें सूर्य की किरणें छा जाएँ, कोई भी पदार्थ आ जाए, इन चमत्कारों के लोभ में न फंसकर उन्हें नष्ट करता रहता है।

प्रभु को समर्पित करने वाला सर्वाधिक प्रबल होता है

ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है कि द्रव्यपति, ऋद्धि-सिद्धियों के चमत्कार में रमण करने वाले प्राणी, स्वर्ण की मात्रा अधिक एकत्रित करने वाले, चन्द्रमा, सूर्य पर जाने वाले प्राणियों को प्रबल मत स्वीकार करो। प्रबल वह है जो अपने को प्रभु को समर्पित कर देता है। वह प्राणी संसार में, समाज में ऊर्ध्वगति को प्राप्त करने वाला है। ज्ञानी वह होता है जो प्रभु के समीप पहुंच जाता है और प्रकृति को जानकर इसके ऊपर विश्राम करने लगता है।

ज्ञानी अपने जीवन के भविष्य में यह जानता है कि मेरे प्राणों की गति किस प्रकार की हो जाती है। ज्ञानी पुरुष नक्षत्रों के विज्ञान को जानता है। जिज्ञासु ऐसा कहते हैं कि मृत्यु से पूर्व ही ध्रुव-मण्डल का दिग्दर्शन नेत्रों से ओझल हो जाता है, स्वाति नक्षत्र उनके पास नहीं होता। तृतीय दिवस अपने मन की जो चेतना है उसे नेत्रों की ज्योति से द्वादश मण्डल को दृष्टिपात नहीं कर पाता। उसको ब्रह्म का ज्ञान होता है, वह ज्ञानी होता है। अपने ज्ञान से संसार को दृष्टिपात करता है, गुणों को दृष्टिपात करता है। उसमें स्वार्थवाद नहीं होता। जब स्वार्थवाद नहीं होता तो मोह भी नहीं होता। जब मोह नहीं होता तो क्रोध भी नहीं होता, तो उस ज्ञानी को आत्मा का भाव होता है। (छब्बीसवाँ पुष्प ३१-७-७३ ई.)

माँसाहार का प्रभाव

भौतिक-विज्ञान मानव के संस्कारो से होता है। इसका माँस से सम्बन्ध नहीं होता। प्रकृतिवाद में जाने पर मानव के मस्तिष्क पर हिंसा का उतना प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि प्रकृतिवाद में मानव हिंसक बन जाता है। माँस भक्षण से होने वाली हानियों का अनुमान तभी लगाया जा सकता है जब चेतना वाले विज्ञान को जाने। इस विज्ञान को प्राप्त करने के लिए सूक्ष्मता को प्राप्त करना होगा। भौतिक-विज्ञान की उन्नति में माँसाहार सहायक नहीं है, क्योंकि एक धातु का दूसरी धातु से मिलान करना यह तो प्रकृति की देन है।

भौतिकवाद की मीमाँसा यह है कि जो मानव जहाँ रहता है, वहीं का माँस खाता है। माँसाहर की सूक्ष्म तरंगें तथा वेदना मानव की अन्तरात्मा को प्रभावित करती हैं। परन्तु यन्त्रों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत ''अहिंसा परमोधर्मः'' की आवश्यकता मानव को आत्मिक ज्ञान प्राप्त करने तथा मानव की मानवता को जानने के लिए होती है। (तेरहवाँ पुष्प २३-८-६९ ई.)

शुद्ध आहार-व्यवहार क्यों

जो मनुष्य तमोगुणी आहार करते हैं, माँस का भक्षण करते हैं, वे भौतिक वैज्ञानिक बन सकते हैं किन्तु इसके साथ-साथ आत्मिक वैज्ञानिक नहीं बन सकते। यथार्थ वैज्ञानिक वह होता है जिसके द्वारा आत्मिक- विज्ञान तथा भौतिक-विज्ञान दोनों हों। उसको यौगिकता कहते हैं। यौगिकता प्राप्त होती है, शुद्ध आहार और व्यवहार से। ।। (पाँचवाँ पुष्प २०-१-६६ ई.)

लोक-लोकान्तरों की 'विजय' में दोनों विज्ञानों की तुलना

१-जब मन और प्राण एक सूत्र में बँधकर मूलाधार में जाते हैंज्तो मूलाधार को विजय करने के पश्चात् पृथ्वी-मण्डल को विजय कर लेतेज्हैं।

२-जब साधना के द्वार से नाभि-चक्र में जाते हैं तो उस समय मध्य के आँगन के पार्थिव-तत्त्व जितने हैं उनको अपने में विजय कर लेते हैं।

३-जब वही मन और प्राण आत्मा के सहित हृदय-चक्र में जाते हैं, तो परमात्मा का जितना भी यह जगत् है, यह सब हृदय बन करके मानव में गति करने लगता है।

४-जब यही मन, प्राण आत्मा के सहित कण्ठ-चक्रों में रमणज्करने लगता है तो जितने भी वायु प्रधान वाले लोक हैं, उन पर वह विजय कर लेताज्है।

५-जब त्रिवेणी के स्थान में मन और प्राण के ऊपर आत्मा विश्राम करता हुआ जाता है तो वहाँ कृतिकाएँ होती हैं। इन कृतिकाओं में जब गति प्रारम्भ हो जाती है तो जितने आग्नेय वाले लोक हैं, मानव उन पर विजय कर लेता है।

६-जब यह आत्मा, प्राण और मन ब्रह्मरन्ध्र में जाते हैं तो ब्रह्मरन्ध्र की जो पंखुड़ियाँ हैं, वे गति करने लगती हैं। जब उनमें गति आ जाती है तो उसको हमारे यहाँ ''ब्रह्मरन्ध्र-अस्वत'' कहते हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्णा इन तीनों नाड़ियों का मिलान ब्रह्मरन्ध्र से होता है। ब्रह्मरन्ध्र के साथ में (उन नाड़ियों का मेल अथवा चाक्राणी बन

करके) रहती हैं। उन नाड़ियों में से सहस्रों-सहस्रों क्या करोड़ों - करोड़ों वाहक नाड़ियों का ऊर्ध्वमुख हो करके, अन्तरिक्ष तथा जितना भी लोक-लोकान्तरवाद है, वह सब उस योगी को दृष्टिपात आने लगता है। जब वह दृष्टिपात करने लगता है तो जो लोक-लोकान्तरवाद है उसको वह अपने में धारण करने लगता है। उसको यह संसार अपने में दृष्टिपात आने लगता है। वह बाह्य-जगत् को आन्तरिक-जगत् में ले लेता है। आन्तरिक-जगत् में ले करके लघुमस्तिष्क, वृतकेतु-मस्तिष्क तथा सोमभृत-मस्तिष्क, तीनों मस्तिष्क का ऊर्ध्वमुख हो करके लोक-लोकान्तरों को सहज ही जानने लगता है।

एक भौतिक-विज्ञानवेत्ता विज्ञान को जानने के पश्चात् नाना अणु-परमाणुओं में गति करता हुआ, नाना स्थूल यन्त्रों का निर्माण करता हुआ, अपनी ऊर्ध्वगति को बनाता हुआ लोक-लोकान्तरों में गति करने लगता है।

परन्तु एक योगी नाना मण्डलों को अपने शरीरों में धारण करता हुआ उनको प्रत्यक्ष दृष्टिपात करने लगता है। वह योगी कहता है कि हे वैज्ञानिक! जहाँ तुम्हारा यह भौतिकवाद, अणुवाद पूर्ण.अर्थात् समाप्त होता है, वहाँ से आध्यात्मिकवाद की एक कृतिका प्रारम्भ होती है। (सत्ताईसवाँ पुष्प ४-५-७६ ई.)

कहीं मानव जब यौगिकता में जाता है, वह अन्तरिक्ष में जाने वाले यानों का निर्माण करता है और वही मानव जब परमाणु के क्षेत्र में जाता है, स्थूलता में वह वायुमण्डल में क्या एक यन्त्र में

विराजमान होकर ७२-७२ लोकों की यात्रा करता है, पर यदि वह उदान और प्राण में चित्त-मण्डल के अंकुरों में परिणत होता है तो नाना आकाश-गंगाएँ एक खिलवाड़ सा प्रतीत होने लगती हैं। वह योगी संकल्पमात्र से आकाश-गंगाओं की उड़ान उड़ता रहता है। संकल्पमात्र से वह लोक-लोकान्तरों को अपने चित्तमण्डल में दृष्टिपात करता है, जहाँ उसे सर्वत्र ब्रह्माण्ड सूक्ष्म-रूप से दृष्टिपात आने लगता है। (उन्नीसवाँ पुष्प ५ मार्च, १९७६)

६ षष्ठ अध्याय-अतीत में भौतिक प्रगति के कुछ उदाहरण

विज्ञान मानव का स्वाभाविक गुण है, उसमें तो मानव को जाना ही है, वह चाहे चन्द्र-यात्री बने, मंगल-यात्री बने शुक्र, धुरव या सूर्य-यात्री बने किसी भी प्रकार का यात्री बने। जब वह विज्ञान के गर्भ में, माता बसुन्धरा के गर्भ में चला जाता है, तो संसार का विज्ञानवेत्ता और वैज्ञानिक बन जाता है। बसुन्धरा 'गो' तथा पृथ्वी को कहा गया है। जिससे अणु, महा-अणु त्रसरेणु (तीन द्वयणुकों के स्वरूप में धुरी) आदि को जानने के पश्चात् मानव व्यापक हृदय, व्यापक मस्तिष्क बन करके विज्ञान के क्षेत्र में जाना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है।

विज्ञान में जाना कोई अपराध नहीं किन्तु विज्ञान में मानवता को नष्ट कर देना अपराध है। मानव को, मानवता को जानकर उसे नष्ट नहीं करना चाहिए। (उन्नीसवाँ पुष्प २०-३-७२ ई.)

विज्ञान तो प्रकृति के गर्भ में है, विज्ञान तो प्रकृति का स्वभाव है। मानव का स्वभाव है 'जानना', परमात्मा का स्वभाव प्रकृति में ऋत् और सत् देना है। (अठाईसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

जिस प्रकार माता के समीप उसके बालक के आते ही उसकी लोरियों में दुग्ध उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार की यह प्रकृति है। इसके समीप आने पर इसका स्वभाव उमड़ आता है। जब उसके तत्त्वों को जानने लगते हैं तो एक धातु को दूसरी धातु से मिलान करने की शक्ति उसमें आ जाती है। तब स्वभाव से प्रभु के सन्निधानमात्र से परमाणुओं को एक-दूसरे से मिलान करने से प्रकृति का स्वभाव उमड़ आता है। और नाना प्रकार के यन्त्रों की उत्पत्ति

करने लगते हैं। (तेरहवाँ पुष्प २३-८-६९ ई.)

हमारे यहाँ विज्ञान ऋषियों के मस्तिष्क में रहा है तथा वे वैज्ञानिक इसका अनुसन्धान करते आए हैं। महर्षि दालभ्य जी के काल में उससे भी पूर्व महर्षि शाण्डिल्य जी का काल था और अष्टावक्र जी का काल था, वायुमुनि महाराज का काल था, आज से करोड़ों वर्ष पूर्व का काल था, उस काल का साहित्य कह रहा है कि उनके काल में वे बड़े वैज्ञानिक थे, जहाँ वे योगी थे वहां वे वैज्ञानिक भी थे, प्रकृति को अच्छी प्रकार से जानते थे। (चौबीसवाँ पुष्प १७-८-७२ ई.)

आज का विज्ञान अणु-विद्या में, परमाणु-विद्या में जाना चाहता है, जा रहा है। परन्तु आज का विज्ञान जहाँ यह कहता है हम बड़े महान् उन्नतिशील हैं नाना प्रकार के अणु, परमाणुओं का नाना प्रकार के रूपों में उसका परीक्षण, अनुसन्धान करते हैं, मुझे वह काल स्मरण आता रहता है। एक समय मैंने अपने पूज्यपाद गुरुओं से यह कहा था। एक समय महर्षि विभाण्डक मुनि की सभा में एक प्रसंग आया कि परमाणुओं को विचारा जाए यह परमाणुवाद क्या है? जब वेद का मन्त्र आया तो परमाणुवाद के द्वारा जब नाना यन्त्रों की आभा उत्पन्न होने लगी। ऐसा मुझे स्मरण है उन्होंने श्वास के द्वारा, मानव के क्रोध के द्वारा और क्रोध से जो परमाणु उत्पन्न होते हैं, मानव के शरीर से उन परमाणुओं को जब एकत्रित किया गया। एक सहस्र प्राणियों के क्रोध के परमाणु जब एक यन्त्र में स्थित कर लिए उसका जब आक्रमण किया गया तो कहा जाता है कि बीस सहस्र प्राणियों

की मृत्यु हो गई। यह हमारे यहाँ क्रोधाग्नि के ऊपर विचार आता रहता है। मैं क्रोध के सम्बन्ध में कोई विवेचना नहीं देना चाहता हूँ। यह तो इसलिए कि ऋषि-मुनि इसका परीक्षण करते रहते हैं, ऋषि-मुनि इसके ऊपर विचार विनिमय करते रहते हैं, उसके ऊपर उनका विचार-विनिमय होता रहा है। (तैतीसवाँ पुष्प २३-२-७७ ई.)

प्रकृति के कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त

१-भौतिक-यन्त्र में परमाणुओं की मात्रा होती है। यदि जल की मात्रा अधिक, अग्नि की मात्रा उससे कुछ सूक्ष्म, वायु की मात्रा उससे सूक्ष्म हो तो अग्नि, जल, वायु और पार्थिव परमाणु भी उससे मिलान किए हुए हों तो उन परमाणुओं से एक यन्त्र बन जाता है। जल परमाणु प्रधान होने से इस यन्त्र में विराजमान होकर हम जल में भ्रमण कर सकते हैं।

यदि वायु अधिक हो, अग्नि और जल सूक्ष्म हो, पृथ्वी भी सूक्ष्म हो, तो जो इन परमाणुओं से यन्त्र बनते हैं, उन यन्त्रों से हम चन्द्रादि लोक-लोकान्तरों में भ्रमण कर सकते हैं। (सातवाँ पुष्प २६-६-६६ ई.)

चित्रण का सिद्धान्त

१-ऋषियों की मान्यता है कि जिस स्थान पर महापुरुष रहते हैं, उस महापुरुष के परमाणु, उस स्थल पर लगभग ५० वर्ष विचरते हैं। उन परमाणुओं के साथ उस महापुरुष का चित्र भी विचरता रहता है। यह तथ्य यौगिक सूत्रों से प्राप्त होता है। (अठारहवाँ पुष्प १३-४-७२ ई.)

२-यौगिक-सूत्रों, वैदिक-सूत्रों तथा वैज्ञानिक-सूत्रों में यह माना

गया है कि मानव जिस स्थान पर रहता है (होता है) उसके चले जाने के पश्चात भी उस मानव का आधा चित्रण उस स्थान पर स्वतः विराजमान रहता है।

३-मानव के शब्द के साथ भी मानव का चित्रण रहता है। वैज्ञानिक जब आध्यात्मिक-विज्ञान में प्रवेश करते हैं तो यह मानव सदैव उनके समीप आने लगता है। (अठारहवाँ पुष्प ११-४-६२ ई.)

महर्षि भारद्वाज मुनि के यहाँ नाना विज्ञानशालाएँ थीं। उनमें नाना यन्त्र विद्यमान थे, वे यन्त्रशाला में ले गए। जिस यन्त्र का सबसे प्रथम निर्माण किया था। एक मानव एक स्थली पर विद्यमान है और मानव के वहाँ से प्रस्थान करने के पश्चात् २।। घड़ी (एक घण्टा) के पश्चात् उस मानव का चित्र ले लेता था २।। घड़ी के पश्चात् वह मानव गति कर गया है, प्रस्थान कर गया है। उन्होंने कहा कि सबसे प्रथम मैंने इस यन्त्र का निर्माण किया है। इस यन्त्र में यह विशेषता है कि आप ऋषि लोग यहाँ से गमन कर जाओगे तो २।। घड़ी के पश्चात् वह आपका चित्र ले सकता है।

उन्होंने कहा, धन्य है। अब द्वितीय विज्ञानशाला में ले गए। उन्होंने कहा ये मेरी द्वितीय विज्ञानशाला है। इस विज्ञानशाला के यन्त्रों में ये विशेषता है एक मानव का रक्त का बिन्दु कहीं मुझे प्राप्त हो जाए, चाहे वह मानव इस संसार में है अथवा नहीं है। उस एक रक्त के बिन्दु से ही, उस मानव का साक्षात्कार तथा उस मानव का चित्र आ जाता है। उन्होने कहा धन्य है भगवन्! हम तो केवल दर्शनों में अध्ययन करते रहे परन्तु हमने यह क्रिया में दृष्टिपात नहीं किया।'

उन्होंने क्रिया में दृष्टिपात कराया। एक रक्त का बिन्दु ले करके उन्होंने एक रक्त बिन्दु से यन्त्र में सुकेता का चित्र आ गया।

ऋषि कहता है कि मेरे यहाँ तृतीय विज्ञानशाला है, जिस विज्ञानशाला की यह विशेषता है कि अन्तरिक्ष में यान गति कर रहा है मेरा यन्त्र गति कर रहा है। उस यन्त्र में जहाँ रजोगुणी, तमोगुणी, सतोगुणी वायु गति करती है उस वायु का, जब इस वायु से मिलान करके, अग्नि की तरंगों में प्रवेश करती है, तो वह उसको विभाजन करती है। रजोगुणी शब्द कहाँ जाता है? सतोगुणी पृथ्वी-मण्डल में, द्युलोक में दर्शनों से गुँथा हुआ, सत्य में गुँथा हुआ द्यु-लोक को चला जाता है तो यह विभाजन होता हुआ मुनिवरो ! उनका चित्र आ रहा है उन शब्दों का चित्र आ रहा है जिनकी वायुमण्डल में गतियाँ हो रही थीं वह गति उन्हें प्रत्यक्ष दृष्टिपात होने लगी।

आगे ऋषि कहता है, आओ! उनको चतुर्थ विज्ञानशाला में ले गए। जो यन्त्र विद्यमान है, उस यन्त्र में यह विशेषता है कि जैसे सूर्य उदय होता है और पृथ्वी के अन्तर्गत एक ''प्राण कृति भानु'' नाम की एक रेखा कहलाती है. और उस रेखा में प्राण-वायु, प्राणवर्द्धक परमाणु होते हैं। जब सूर्य आता है तो उसमें जो प्राण-वर्द्धक जो परमाणु होते हैं उनको वह यन्त्र शोषण कर लेता है, रेखा नग्न हो जाती है। तो जब राष्ट्र को भस्म करना हो, उस रेखा को, परमाणुओं को यन्त्र शोषण कर लेने से राष्ट्र का राष्ट्र अग्नि में भस्म हो जाएगा उसी सूर्य से। (पैंतीसवाँ पुष्प २-९-७९ ई.)

शब्द का सिद्धान्त

१-जो शब्द उच्चारण करते हैं, वे उस विद्युत् पर जिसे 'कृत' कहते हैं, विश्राम करने लगते हैं। विश्राम मात्र से उसकी गति प्रबल हो जाती है, यह अन्तरिक्ष में ओत-प्रोत हो जाता है। (सत्रहवाँ पुष्प १७-१२-६९ ई.)

२-मेधावी बुद्धि वाला कहता है कि मानव जो उच्चारण करता है, वह व्यर्थ नही जाता, वह चाहे रजोगुणी हो, सतोगुणी हो, तमोगुणी हो, (वे सब शब्द) अन्तरिक्ष में ओत-प्रोत रहते हैं। जब वाक्यों का प्रसारण 'रेणा-केतु' यन्त्र के द्वारा करते हैं, तो उससे सम्बन्धित जो यन्त्र होते हैं उनमें यह वाणी ओत-प्रोत हो जाती है। (नौवाँ पुष्प २७-१०-६३ ई.)

३-आज का वैज्ञानिक ऐसा यन्त्र बनाने के लिए तत्पर है कि महाभारत के काल में भगवान कृष्ण और अर्जुन का जो संवाद था जो वायु-मण्डल में विचरण कर रहा है, उसको ये यन्त्रों के द्वारा लाना चाहते हैं। इस प्रकार का विज्ञान एक महान् है क्योंकि वह वाणी पर अनुसन्धान करने से ही वायु पर अनुसन्धान करना वायु की रश्मियों तथा अग्नि की रश्मियों दोनों का समावेश किया जाता है। एक वैज्ञानिक यन्त्र बनाता है, और वह यन्त्र बनाने से पूर्व अपना लक्ष्य बनाता है। मैं वायुमंडल में अन्तरिक्ष में जो शब्द भ्रमण कर रहे हैं, उनको एक यन्त्र में लाना चाहता हूँ। क्यांकि वे शब्द तो प्रकृति के गर्भ में रमण कर गए। जो वस्तु (आकाश में) भ्रमण करती है, प्रायः हम उसको एकत्रित कर सकते हैं।

जैसे एक मानव शब्दों को ग्रहण करने के लिए यन्त्र का निर्माण

करता है। उस यन्त्र में, अन्तरिक्ष में जो परमाणु भ्रमण कर रहे हैं अथवा सूर्य की रश्मियाँ हैं, और सूर्य की रश्मियों से भी सूक्ष्म रश्मियाँ होती हैं जो ज्येष्ठा-नक्षत्र की रश्मियाँ होती हैं, उन रश्मियों को तथा सूर्य की किरणों के द्वारा जो रश्मियाँ हैं उन दोनों रश्मियों को एकाग्र करते हैं, उनको एक यन्त्र में स्थिर करते हैं, उनकी एक स्थली बनाते हैं। पृथ्वी की उसमें पुट लगा करके और उसमें से प्राण-वायु और प्राण के नाश देने वाली वायु का दोनों का मिलान करते हैं। मिलान करने के पश्चात् वे जो रश्मियाँ हैं, उनमें कुछ प्राणदायक हैं, कुछ प्राणों को दूषित बना सकती हैं। वह जो व्यान-प्राण है, जो प्रकृति के वायुमण्डल में भ्रमण कर रहा है, वह शब्द के साथ होता है। वह प्राण और ज्येष्ठा नक्षत्र की जो रश्मियाँ हैं वे प्रायः हमें उनसे प्राप्त होती हैं। अग्नि की धाराओं में उनकी धारा रमण करती है। वायु की धाराओं में मिश्रित होता हुआ वायु, वायुमण्डल के परमाणुओं को वह अपने में एकत्रित करने का प्रयास करता है। उस यन्त्र में स्वतः इस प्रकार की रश्मियाँ होती हैं, इस प्रकार ही आकर्षण-शक्ति होती है कि उस यन्त्र के द्वारा शब्दों को ग्रहण कर सकते हैं। (चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

सूक्ष्मता का सिद्धान्त

जितनी सूक्ष्म धातु होती है, उतनी ही उसकी ऊर्ध्व आयु होती है। जितने सूक्ष्म परमाणुओं से यन्त्र का निर्माण होगा, वह यन्त्र उतना ही अधिक आयु वाला होता है।

यन्त्र को समाप्त करने वाली वह धातु होती है जो उसका विनाश

करती है। जैसे पृथ्वी यन्त्र का विनाश करती है क्योंकि पार्थिव-तत्त्व में, पार्थिवता में यन्त्र का निर्माण हुआ है।

इसी प्रकार से अग्नि-तत्त्व से जिस यन्त्र का निर्माण होगा, वही उसका विनाश करेगी। परन्तु अग्नि से ऊर्ध्वगति होकर जिस लोक में उसका निर्माण हुआ था यदि उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है तो उस यन्त्र की करोड़ों वर्षों की अवस्था होती है।

उदाहरण

दैवी यज्ञ में सप्त-जिह्वा अग्नि से ऐसी धातुओं का जन्म होता था। अग्नि में जब 'स्वाहा' देते स्वाहा के साथ जब परमाणु उत्पन्न होते हैं उन परमाणुओं को यन्त्र द्वारा एकत्रित किया जाता। एकत्रित करके उन परमाणुओं का आपस में मिलान करने के पश्चात् उनसे यन्त्रों का निर्माण किया जाता था। उन यन्त्रों का निर्माण करने की सामग्री की प्राप्ति केवल यज्ञ से ही होती है। (उन्नीसवाँ पुष्प २०-३-७२ ई.)

आंकुंचन का सिद्धांत

प्रकृति में पाँच प्रकार के गुण होते हैं। १-ध्रुव, २-ऊर्ध्व, ३-प्रसारण, ४-आकुञ्चन और ५-व्यापकता। (पन्द्रहवाँ पुष्प २०-६-७३ ई.)

४-आकुञ्चन कहते हैं एकाग्र को, संकुचित करने को। किसी विस्तार वाली वस्तु का एकाग्र करने का (छोटे क्षेत्र में जाने का) नाम आकुञ्चन है। जब आकु´चन को जानने वाला राष्ट्र का महान् बुद्धिमान, अणु-विज्ञान को जानने वाला बन जाता है तो सूक्ष्म अणुओं और परमाणुओं को एकत्रित करने लगता है। जहाँ आकु´चन वाले परमाणु एकत्रित किए जाते हैं तो उन यन्त्रों से राष्ट्र के राष्ट्र विनाश के

प्राप्त हो जाते हैं। आकु´चन की इतनी बड़ी शक्ति होती है। जब वैज्ञानिक नाना प्रकार के अणुओं को एकत्रित करके यन्त्र में बन्द कर देता है, ब्रह्मास्त्र आग्नेयास्त्र,इन्द्रास्त्र आदि का निर्माण कर देता है।

रोहिणीकेतु अस्त्र को वैज्ञानिक आकु´चन कर लेता है, जल को शक्तिशाली बना देता है। वह आग्नेयास्त्र तथा ब्रह्मास्त्र तथा आरूणी अस्त्र इन तीनों की शक्ति को एक में कर देता है। आग्नेयास्त्र का एक प्रहार नौ अक्षौहिणी दल को समाप्त कर देता है। ब्रह्मास्त्र भी ऐसा ही होता है। इससे रोहिणी-अस्त्र की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। (आठवाँ पष्प ११-५-६७ ई.)

विद्युत् एवं परमाणु सिद्धान्त

वैदिक सहित्य में 'अग्ने' शब्द आता है। अग्ने शब्द से विद्युत को जल में से मन्थन करते हैं। नाना प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार करते हैं।

१-शृंगित, २-ऋधिर, ३-मूर्शतत्, ४-रेधवी आदि पाँच धातुओं को जानने वाले वैज्ञानिक जानते हैं कि इनमें से कुछ सूर्य से प्राप्त होती हैं। जिनसे विद्युत् के द्वारा अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले सूक्ष्म परमाणुओं को एकत्रित किया जाता है। उन परमाणुओं से 'सुधीर' नाम का यन्त्र बनता है। इस यन्त्र से महापरमाणु एकत्रित होते हैं। आगे त्रसरेणु तथा महा-त्रसरेणु एकत्रित करने के लिए यन्त्र बनाए जाते हैं। (पाँचवाँ पुष्प २१-१०-६४ ई.)

विद्युत् ९६ प्रकार की होती है, इसमें ९६ प्रकार के अणु होते हैं। एक वैज्ञानिक इनको जानता हुआ अनुभव करने लगता है कि मैं

कहाँ आ गया। प्रकृति के गर्भ में जाने के पश्चात् मानव को यह संसार परमाणुओं का प्रतीत होने लगता है। एक-एक अग्नि से ९६ (छयानवे) प्रकार के अणुओं का निकास होता है। जब इस ९६-९६ प्रकार की प्रतिभाओं का जन्म होने लगता है, तो एक अणुवाद और परमाणुवाद का वैज्ञानिक यह सोचने लगता है कि मैं कहाँ आ गया? यह प्रकृति का गर्भ इतना अथाह है कि उस अगम्यता में पहुँचकर वह नेति-नेति कहने लगता है। (चौदहवाँ पुष्प २६-३-७० ई.)

जैसे सूर्यमण्डल के अन्तर्गत लाखों लोक-लोकान्तर भ्रमण कर रहे हैं, इसी प्रकार एक 'रेणु' इतना शक्तिशाली परमाणु होता है कि उसके अन्तर्गत एक करोड़ छयानवे लाख बावन हजार पाँच सौ (१,९६,५२,५००)

परमाणु रमण करते हैं। यह मन और प्राण की महिमा है। (नौवाँ पुष्प ३-३-६८ ई.)

एक भौतिक-विज्ञान वेत्ता परमाणुओं को एकत्रित करता हुआ तथा पाँच, सात और २४ प्रकार के परमाणुओं को जानता हुआ विज्ञान में पारंगत हो जाता है। आगे वह लोकान्तरों की यात्रा करने के लिए तत्पर हो जाता है। (सत्रहवाँ पुष्प १७-१२-६९ ई.)

अन्नत शक्ति का स्रोत तथा सिद्धान्त

एक 'स्वानागृति' नाम की धातु है और एक 'त्रिगण अनथ' नाम की धातु है। दोनों का मिलान करने से जो शक्ति की तरंगें उत्पन्न होती हैं, वे इस विद्युत् से सहस्रों गुणी शक्तिशाली होती हैं। इसमें उस यन्त्र से १०५ गुणी शक्ति होती है जो मंगल से पृथ्वी पर आता

है। इनको मिलान करने वाले वैज्ञानिक होने चाहिए। (तेरहवाँ पुष्प २३-८-६९ ई.)

स्वर्ण निर्माण का सिद्धान्त

सूर्य की वैष्णव और पात´जली नाम की किरणों का परस्पर मिलान होता है। तीसरी व्याकरण नाम की किरण इस पर सम्बोधन (चेताती) करती है। जल का मिश्रण हो करके पृथ्वी के कणों को शुद्ध बनाया जाता है। अग्नि के परमाणुओं को मिश्रित करके उनकी पात बनती है। पात बन करके पात´जली नाम की किरण शनैः-शनैः जल को शुष्क कर देती है। वे जो कुछ अग्नि के, कुछ जल के तथा कुछ पृथ्वी के परमाणु थे उनका इस प्रकार स्वर्ण बन जाता है। (नौवाँ पुष्प २-३-६८ ई.)

सौर मण्डलो की आकर्षण शक्ति का सिद्धान्त

जहाँ एक-दूसरे मण्डल की आकर्षण-शक्ति है, वहाँ एक स्थान ऐसा होता है वायुमण्डल में (आकाश मण्डल में) जिसको हम सौर मण्डल कहा करते हैं। एक स्थल ऐसा है जहाँ तीन सौर-मण्डलों की परिधि, उनकी सीमा प्रायः प्राप्त होती है। वहाँ कोई भी वस्तु निर्धारित की जाए तो वह स्थिर हो जाती है क्योंकि उस स्थान में आकर्षण-शक्तियों की सीमा आ जाती है। जैसे हमारे यहाँ वैदिक साहित्य में गन्धर्व लोकों का वर्णन आता है। गन्धर्व लोक उन्हें कहा जाता है जहाँ एक-दूसरे की आकर्षण-शक्ति, एक-दूसरे से सुगठित रहती है, वह मिलन नहीं हो पाता। (चौबीसवाँ पुष्प १७-८-७२ ई.)

लोक लोक लोकांतरो का यात्रा का सिद्धान्त

एक मानव प्रकृति के गर्भ में जाने के पश्चात् तपस्वी बनता है। उसकी इच्छा होती है कि मैं ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र, बरुणास्त्र शिवास्त्र, रोहिणी अस्त्र बनाऊँ। उनके बनाने के पश्चात् वह सोचता है कि अपनी प्रतिभा को जानने के पश्चात् उसमें तन्मय हो जाऊँ।

एक वैज्ञानिक चन्द्रमा की यात्रा करना चाहता है, दूसरा मंगल की, तीसरा शुक्र की आदि-आदि लोकान्तरों की। अपनी इस कल्पना के साथ वह नाना प्रकार प्रकार के यन्त्रों को जानने का प्रयास करता है, जानते हुए वह ऐसे यन्त्र बना लेता है, जिनमें वायु-तत्त्व के परमाणु अधिक होते हैं। अग्नि तत्त्व के उससे कुछ कम होते हैं। वह इन परमाणुओं को विशेष अनुपात से एकत्रित करता है। सन्निधान करने के पश्चात् उनका युक्ति-युक्त निदान करके एक यन्त्र को निर्धारित कर लेता है तथा उसमें विराजमान हो जाता है।

ऊपर के लोकों में जाने वाले यन्त्रों में वायु प्रधानता अधिक होनी चाहिए, तथा अग्नि उससे कम होनी चाहिए क्योंकि अग्नि के परमाणु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं। अतः जब वैज्ञानिक यन्त्र बनाकर वायु के योग में अग्नि का सन्निधान कर देता है तो उसकी प्रक्रिया यह होती है कि उसकी अवरेत गति हो जाती है। उसके पश्चात् ऊर्ध्वगति को प्राप्त होना स्वाभाविक हो जाता है। (इक्कीसवाँ पुष्प २९-७-७३ ई.)

महर्षि भारद्वाज आदि ऋषियों का कथन है कि एक यन्त्र का जब हम निर्माण करते हैं, उस यन्त्र में वायु की तरंगें और अग्नि की धाराओं का दोनों का मिलान करते हुए, जल की उसमें पुट लगाते हुए हम ऐसे परमाणुओं को एकत्रित करते हैं। उन परमाणुओं को

एकत्रित करके यदि एक सूक्ष्म यन्त्र में, एक यान में स्थिर कर देते हैं और वह यान हमें चन्द्रमा के ऊपर वाले कक्ष में अथवा सूर्य-मण्डल की परिक्रमा कराने के लिए तत्पर हो जाता है। यह निश्चय करके जब इस प्रकार परमाणु एकत्रित करते हैं, उसे यान में स्थिर करते हैं, तो उस यान की एक-एक क्या? कई लाख वर्ष की अवस्था के लिए उसमें परमाणुओं को भर देते हैं और वह सूर्य की परिक्रमा करता रहता है। (चौबीसवाँ पुष्प १७-२-७२ ई.)

किसी लांक मे हुए विस्फोट को जानने का सिद्धान्त

मानव के मस्तिष्क में जो ब्रह्मरन्ध्र है, जिस प्रकार की प्रकृति होती है, उसी प्रकार का ब्रह्मरन्ध्र में एक यन्त्र होता है, जिसको हमारे यहाँ "सह सहस्रार-यन्त्र" कहते हैं। उसको यौगिकता में " सहस्रार - चक्र" भी कहते हैं। जितना भी योगी सूक्ष्म होता है, उतना ही अनुसन्धानवेत्ता होता है।

ब्रह्मरन्ध्र में इडा, पिंगला और सुषुम्णा ये तीन नाड़ियाँ हैं, इनमें से बहत्तर-बहत्तर प्रकार की धाराओं का जन्म होता रहता है। बहत्तरवीं धारा जो होती है उसमें से ९९-९९ प्रकार की धाराओं का जन्म होता रहता है। उन धाराओं का सम्बन्ध इस सर्वत्र प्रकृति से होता है। प्रकृति का जैसा वातावरण होता है, वैसी प्रकृति की गति होती है। उसी प्रकार की छाया उस योगी के मस्तिष्क में प्रायः आ जाती है।

इसी प्रकार भौतिक-विज्ञानवेत्ता उसी के (उस पर) आधृत होते हुए एक यन्त्र बनाते हैं। वह यन्त्र वायु की तरंगों का यन्त्र होता है। वायु और अग्नि की तरंगों का मिश्रण करते हैं, मानो जैसे एक भाग

तो वायु के परमाणुओं का हो, उसका दोगुणा भाग अग्नि के परमाणुओं का हो और उसका सौ गुणा भाग "अस्वति" देखो "अग्नि अहो! वरदेय अकृतम् ब्रह्मो आपोरासि" मानो आपो (जल) की धाराओं का हो, जब तीनों की पुट लगा करती है तो कुछ सूक्ष्मसा इस पृथ्वी का भी मिश्रण होता है।

ऐसे इन परमाणुओं के समूह से जो यन्त्र बनता है, तो प्रकृति में जैसे गति होती है, (उसकी वैसी छाया उस यन्त्र में आ जाती है।) क्योंकि वह यन्त्र इतनी ऊर्ध्वगति वाला होता है कि वह लगभग सूर्य-मण्डल का जो सौरमण्डल है, उस सौर-मण्डल की जितनी गति होती है, उस सौर मण्डल की गति की छाया उस यन्त्र में आ जाती है। उसी छाया के आधार पर वैज्ञानिक अपने में अनुमानित हो जाते हैं। उसी छाया से वे जान लेते हैं कि चन्द्रमा में क्या हो रहा है? मंगल में क्या हो रहा है ? स्वातिनक्षत्र में क्या हो रहा है ? बृहस्पति और शुक्र इत्यादि मण्डलों में क्या हो रहा है? इसी प्रकार वे सूर्यमण्डल तक ही आभाओं के जानने के लिए तत्पर हो जाते हैं। इन आभाओं के द्वारा ही उनका विज्ञान विकसित होता रहता है, क्योंकि बहुत सा विज्ञान इस प्रकार का है कि तीन मण्डलों की छाया उसमें आती रहती है।

एक समय महाभारत काल में १-महर्षि व्यास, २-भास्कराचार्य तथा ३-स्वाति ऋषि तीनों के मस्तिष्कों में तथा उनकी विज्ञानशाला में सूर्य विस्फोट की छाया आई थी। (छब्बीसवाँ पुष्प १७-८-७२ ई.)

पंच महाभूत सिद्धान्त

यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है कि जहाँ पंच-महाभूत.१-वायु, २-अग्नि, ३-जल, ४-पृथ्वी, ५-अन्तरिक्ष होंगे, वहाँ प्राणी अवश्य होता है। जहाँ आकाश होगा, वहाँ भ्रमण करने के लिए अवकाश होगा। जहाँ वायु होगी वहाँ श्वास लेने के लिए प्राणी अवश्य होंगे। जहाँ जल होगा वहाँ प्राणी अवश्य होगा।

यह वेद का सिद्धान्त है। वेद का ज्ञान उसी प्रकार सर्वत्र है, जैसे प्रभु की प्रतिभा तथा मानव शरीर के मन की प्रतिभा सर्वत्र है। बिना पंचभूत के लोक की प्रतिभा नहीं बनती, उसकी मीमांसा नहीं बनती, मीमांसा वहीं होती है जहां-जहां पंच महाभूत होते है। (तेरहवाँ पुष्प २२-८-६९ ई.)

प्रत्येक प्राणी को चाहे वह किसी भी लोक-लोकान्तर का हो, पंच-तत्त्व अवश्य प्राप्त होते हैं। यदि ऐसा न हो तो उनके जीवन का राष्ट्रीयकरण नहीं हो सकता। राष्ट्रीयकरण का अभिप्राय यह है, जहाँ मानव के जीवन में अनुशासन की मात्रा होती है, अनुशासन से मानव का जीवन-बद्ध होता है। तभी हमें राष्ट्रीयता की सहकारिता का परिचय मिलता है। (चौदहवाँ पुष्प २८-३-६९ ई.)

संसार में पाँच तत्त्व हैं। प्रभु के राष्ट्र में जितने लोक-लोकान्तर हैं, जितने भी मण्डल हैं, उनमें कोई न कोई तत्त्व प्रधान होता है। (बाईसवाँ पुष्प २८-३-७४ ई.)

वैज्ञानिक साहित्य

विज्ञान परम्परा से ऋषियों के मस्तिष्क में रहता आया है, उनके अन्तःकरण को प्रकाश देता रहा है, क्योंकि इसकी धाराएँ मानव के

मस्तिष्कों में आती रहती हैं। प्राचीन वैज्ञानिकों के नाना यन्त्र वायुमण्डल में अभी तक भ्रमण कर रहे हैं। (अट्ठारहवाँ पुष्प १३-४-७२ ई.)

१-महर्षि दधीचि ने एक पुस्तक का निर्माण किया था, जिसमें चन्द्रयान तथा बृहस्पति-यान दोनों के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन दिया गया था। (सोलहवाँ पुष्प ३-५-७१ ई.)

२-महर्षि भारद्वाज ने भारद्वाज-संहिता में विज्ञान की अनेक धाराओं का वर्णन किया था, उसमें वरुणास्त्र बनाने का वर्णन था। (उन्नीसवाँ पुष्प २८-१०-७२ ई.)

३-महाराजा अर्जुन ने सूर्य विज्ञान के ऊपर अनेकों प्रकार की पोथियों का निर्माण किया था। (सोलहवाँ पुष्प ३-८-७१ ई.)

४-महाराजा भीम और घटोत्कच ने एक हजार पृष्ठों की सूर्य-विज्ञान, चन्द्र-विज्ञान तथा बृहस्पति-विज्ञान नामक तीन पुस्तकों का निर्माण किया था। (उन्नीसवाँ पुष्प २३-१०-७२ ई.)

५-सुरंगत नाम का यन्त्र इस प्रकार का होता था कि वह लक्ष्य को बेधकर उसी व्यक्ति के पास वापस आ जाता था। इसके निर्माण की विधि भीम के पुत्र घटोत्कच ने 'सुरंगत नामी' नाम की पुस्तक में लिखी थी। (इक्कीसवाँ पुष्प २५-२-७० ई.)

६-महाराजा अर्जुन ने मंगल मण्डल में तीन वर्ष, तीन मास तक रहकर मंगल के निवासियों से वार्ता करके एक ''मंगल-केतु'' नाम की पुस्तक लिखी थी। इसको जैन काल में वारणावत (वरनावा) के पुस्तकालय में नष्ट कर दिया गया था। (इक्कीसवाँ पुष्प २८-२-७०

ई.)

७-महाराजा भीष्म ने 'योग-केतु' नाम की पुस्तक में तथा 'चन्द्रकेतु' नाम की पुस्तकों में सूर्य-विज्ञान के ऊपर और धनुर्विज्ञान के ऊपर अपना प्रकाश दिया था। इनमें एक लगभग दो हजार पृष्ठों की पुस्तक थी। दूसरी चार हजार पृष्ठों की पुस्तक थी। (सोलहवाँ पुष्प १७-१०-७१ ई.)

महाभारत के पश्चात् महावीर के अनुयायियों ने अनेकों पोथियों तथा पुस्तकालयों को जला डाला। उस समय विज्ञान के ऊपर अनेकों पुस्तकें थीं।

महाराजा भीम ने महर्षि व्यास मुनि, सोमभूनि मुनि तथा जैमिनी ऋषि आदि की सहायता से एक पोथी का निर्माण किया था जिसमें लगभग दो हजार पृष्ठ थे। इसमें सूर्य-विज्ञान का वर्णन था। यह पोथी भी रामनगर (तहसील आवला, जिला बरेली) के पुस्तकालय में थी। उस पुस्तकालय में महाराजा हनुमान के समय की पोथियाँ भोज पत्रों पर थीं। इस पुस्तकालय में आठ सौ के लगभग वेद की शाखाएँ थीं जिसमें पिप्पलाद शाखा, सोमकेतु-शाखा, रेणकेतु-शाखा, श्रृंग-शाखा, मनीनि शाखा आदि थीं। इस पुस्तकालय में लाखों पुस्तकें थीं।

उसमें महर्षि याज्ञवल्क्य की एक 'गोपथ' नाम की पुस्तिका थी जो नष्ट हो गई। शतपथ नाम की पुस्तक का आधा भाग अब भी उपलब्ध है। इस पुस्तक में यज्ञों के अनेकों प्रकारों का वर्णन किया गया था। (सोलहवाँ पुष्प १६-१०-७१ ई.)

वैज्ञानिक यन्त्रों के उदाहरण

१-विज्ञान के क्षेत्र में कपिल मुनि ने इतनी धातुओं को निर्धारित किया था कि आज तक वैज्ञानिक उन्हें प्राप्त नहीं कर सके। (छठा पुष्प २८-७-६६ ई.)

भूगर्भ सर्वेक्षण

२-महर्षि भारद्वाज ने एक ऐसा यन्त्र जाना था, अन्तरिक्ष के ऐसे परमाणुओं को जाना जिनसे लगभग दस-दस योजन नीचे इस भूमि में अमुक धातु विराजमान है। उनके यहाँ इस प्रकार का एक यन्त्र था जिसमें दस-दस योजन जो भूमि का, जलाशयों में भी वह क्यों न हो समुद्रों की तरंगों में वह क्यों न हो यह प्रतीत होता था कि वास्तव में अमुक स्थली पर इस प्रकार की धातु विद्यमान है। (तेईसवाँ पुष्प १८-११-७३ ई.)

महाराजा हनुमान जी का सूर्य-विज्ञान पर पूर्ण आधिपत्य था। वे अपनी विज्ञानशाला में सूर्य की किरणों पर अनुसन्धान करते रहते थे और उन्होंने उनकी तरंगों पर आधारित नाना प्रकार के यन्त्रों का निर्माण किया था। एक ऐसे यन्त्र का आविष्कार भी किया था जो सूर्य की किरणों से चालित रहता था इसी प्रकार एक इतना लघु यन्त्र निर्माण किया था जिसका पादुका जैसा रूप था जिनको पादुका की भाँति धारण करके अन्तरिक्ष में उड़ान उड़ते थे। इसी यन्त्र का प्रयोग उन्होंने लंका को जाते समय समुद्र लाँघने में किया था। इसी भाँति का यन्त्र नारद ऋषि महाराज भी अपनी नाना लोकों की यात्रा करने में करते थे। हनुमान जी महाराजा ने सूर्य विज्ञान को एक महान् पोथी में लेखनीबद्ध किया था, जो बाद में अज्ञानियों द्वारा अग्नि में

भस्म कर दी गई थी। (अड़तीसवाँ पुष्प १५-८-७१ ई.)

आज मैं तुम्हें प्राणों के सम्बन्ध में एक वार्ता भी प्रकट करूँगा। आज मैं तुम्हें राजा रावण के उस क्षेत्र में ले जा रहा हूँ जब राम और रावण दोनों का संग्राम हुआ था एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए नाना वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर वह संग्राम हुआ। मुझे स्मरण आता रहता है जब राम और रावण का संग्राम हुआ तो रावण मृत्यु को प्राप्त नहीं हो रहा था। रात्रि का काल था, मध्य रात्रि समाप्त हो चुकी थी। उस काल में भगवान राम ने एक सभा की और सभा में महाराजा जामवन्त और महाराजा हनुमान, लक्ष्मण, राम, अमृतम् और भी जो नाना विशेषज्ञ थे, विशिष्ट थे उन सबकी एक बैठक हुई और सभा में यह निर्णय होने लगा कि रावण को हम कैसे विजय कर सकते हैं ? क्योंकि रावण विजय नहीं हो रहा है। उस समय विभीषण ने एक वाक्य कहा। उन्होंने कहा कि उसके द्वारा कुछ यन्त्र हैं और वे यन्त्र इस प्रकार के हैं जिनका सम्बन्ध महारानी मन्दोदरी से है। यदि वह यन्त्र किसी प्रकार उनसे प्राप्त किए जाएँ तो रावण की मृत्यु हो सकती है। उन यन्त्रों का किसी को प्रतीत नहीं था, जो यन्त्र इतने गोपनीय थे जिनमें यह विशेषता थी कि जिससे वह यन्त्र सम्बन्धित होता है, जो उसकी नाभि में जो भी होता है उसका एक नाभि-केन्द्र होता है और नाभि-केन्द्र में जो उदर में रहने वाला प्राण है उस प्राण से यन्त्र का समन्वय होता है। उन परमाणुओं को जब हम एकत्रित कर लेते हैं तो मुनिवरो! कोई वैज्ञानिक होता है, उस वैज्ञानिक से उसका समन्वय हो करके उसे शक्ति प्राप्त होती है।

उन्होंने कहा, यह यन्त्र कैसे हम प्राप्त कर सकते हैं, कहाँ है वह यन्त्र? उन्होंने कहा, इसकी युक्ति महाराजा शिव वर्णन कर सकते हैं?

महाराजा शिव को निमन्त्रण देने के लिए यत्न किया गया। महाराजा हनुमान और महाराजा जामवन्त दोनों ने अपने-अपने स्वरूप को परिवर्तित करके वहाँ से गमन किया और भ्रमण करते हुए वह कैलाश पर जा पहुँचे। माता पार्वती और शिव दोनों विद्यमान हैं। महाराजा शिव ने उनका स्वागत किया, कहा आओ। वह विराजमान हो गए, विचार-विनिमय होने लगा। मुनिवरो! उन्होंने एक वाक्य कहा कि महाराज! रावण और राम का संग्राम चल रहा है, रावण का कुटुम्ब समाप्त होने जा रहा है। हे प्रभु! आप तो उनके राष्ट्र के आचार्य हैं। आपको उस कुटुम्ब से परम्परा से स्नेह है। आप उनकी सहायतार्थ क्यों नहीं अपनी शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं? महाराजा शिव ने कहा हे विप्रो! मैं इसलिए उनकी सहायता नहीं कर रहा हूँ क्योंकि जो राजा अपने उद्देश्य से दूर चला जाता है, जो राजा अपने उद्देश्य के द्वितीय स्वरूप को धारण कर लेता है, बुद्धिमानों को और जो विचारक पुरुष होते हैं उनको सहायतार्थ नहीं जाना चाहिए। इसलिए मैं गमन नहीं कर रहा हूँ। उन्होंने कहा, क्या आप राजा रावण का समाप्त होना स्वीकार करते हैं? ऐसा आपके मनों में हैं। महाराजा शिव कहते हैं. हाँ, ऐसा ही है क्योंकि मुझे स्मरण है, मैं उस कुटुम्ब के बहुत निकट रहा हूँ। राजा रावण ने इस समाज का दुरुपयोग किया है। इसलिए मैं उस वाक्य को स्वीकार नहीं कर रहा हूँ। उन्होंने कहा कि महाराज! हमने तो कुछ ऐसा श्रवण किया कि रावण

का अन्त नहीं हो रहा है। अहा! यह क्या है? अब महाराजा शिव के हृदय में कुछ कल्पना जागी। उन्होंने कहा, ऐसा प्रतीत होता है तुम विप्रों के रूप में कोई और ही हो। उन्होंने अपना भेदन स्पष्ट किया। उन्होंने कहा, एक हनुमान है, एक जामवन्त है। उन्होंने कहा, अच्छा! तुम्हारा आगमन कैसे हुआ? उन्होंने कहा कि महाराज! हम इसलिए आए हैं कि भगवान राम ने आपको निमन्त्रित किया है कि उनकी सभा में कुछ अपना विचार प्रकट कर जाएँ कि क्या करना चाहिए? क्योंकि महाराजा शिव का स्नेह अयोध्या के राजाओं पर भी विशेष रहा है। रघुवंश से भी उनकी विशेष अनुपमता रही है। उन्होंने कहा, अच्छा! मैं यहाँ से गमन करूँगा, मैं तुम्हारे पश्चात् गमन कर रहा हूँ। जैसे उन्होंने गमन किया उसके पश्चात् महाराजा शिव ने भी गमन किया।

मुनिवरो! भ्रमण करते हुए अपने यानों में विद्यमान हो करके महाराजा शिव, भगवान राम के समीप आ गए। उनका विचार विनिमय चल ही रहा था। एक दिवस समाप्त हो गया था, द्वितीय दिवस आ गया और महाराजा शिव जो उनकी गोपनीय सभा होने वाली थी उसमें वह सम्मिलित हो गए और विचार-विनिमय होने लगा। विचार-विनिमय प्रकट करते हुए भगवान राम ने उनके चरणों की वन्दना की और यह कहा कि भगवन्! मैं रावण को कैसे ह्रास कर सकता हूँ? मुझे अपनी वाणी से उच्चारण कीजिए मैं क्या करूँ? जब उन्होंने यह वाक्य स्वीकार किया कि हे राम! तुमसे यह रावण विजय नहीं हो सकेगा। उन्होंने कहा क्यों? क्योंकि उनकी नाभि में

अमृत कहलाया जाता है। इसका जो नाभि केन्द्र है उसमें अमृत है। सबसे प्रथम जो इन्होंने बाल्यकाल में योगाभ्यास किया। उसके प्रश्चात जब मेरे सम्पर्क में आए तो मैंने इनको एक यन्त्र दिया था और वह यन्त्र महारानी मन्दोदरी सहित दोनों को समर्पित किया था और उस यन्त्र में यह विशेषता है, इनका जो राष्ट्र गृह है और राष्ट्र गृह में जो एक स्तम्भ है मध्य का, उस मध्य में यह यन्त्र लगा हुआ है और यन्त्र में यह शक्ति है कि वह रावण को सहायता देता रहता है। उसमें इतना परमाणु, वह शक्ति से चलता है कि इसकी नाभि की जीवनी जो शक्ति है उससे समन्वय है, इसलिए कोई यन्त्र यह कार्य नहीं कर पाता। जब उन्होंने यह वाक्य प्रकट किया, कहा.महाराज! यह कैसे हो सकता है? उन्होंने कहा, जामवन्त और हनुमान ऐसे हैं जो महारानी मन्दोदरी की वन्दना करके, क्योंकि मन्दोदरी जहाँ विदुषी है, पवित्र है, वहाँ दानी भी वहुत है। यदि उसने अपने सुहाग का दान तुम्हें प्रदान कर दिया तो तुम राजा रावण को विजय कर सकते हो और यदि सुहाग प्रदान नहीं किया तो तुम रावण को किसी भी काल में विजय नहीं कर सकते, यह वाक्य महाराजा शिव ने प्रकट किया।

उन्होंने कहा हे राम! तुम्हें प्रतीत है मैंने और मारकंडेय ऋषि महाराज ने उस यन्त्र का निर्माण किया था। तुमने श्रवण भी किया होगा जिस समय अन्तरिक्ष में जा करके यन्त्र को दृष्टिपात किया था। एक समय महाराजा शिव और पार्वती दोनों विद्यमान थे। पार्वती अन्तरिक्ष में कुछ दृष्टिपात करने लगीं। दिव्य-दृष्टि से दृष्टिपात किया, उन्हें एक यन्त्र सूर्य की आभा में अकृत होता दृष्टिपात हो रहा था।

माता पार्वती ने महाराजा शिव से कहा कि महाराज! यह क्या है अन्तरिक्ष में? मैं क्या दृष्टिपात कर रही हूँ? उन्होंने कहा, चलो देवी, इसको दृष्टिपात करेंगे। तो भगवान शिव और पार्वती अपने यान में विद्यमान हो करके उन्होंने अन्तरिक्ष को गमन किया। भ्रमण करते हुए जहाँ पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों की आकर्षण शक्ति का समन्वय होता है वहाँ एक यन्त्र विद्यमान था और यन्त्र में कौन? महर्षि मारकण्डेय महाराज और महर्षि सोनक यह दोनों विद्यमान हो करके अनुसन्धान कर रहे थे। वहाँ इस यन्त्र का निर्माण हुआ जो उन्होंने हमें प्रदान किया। हमने यह रावण को प्रदान किया था। 'यानाम् ब्रह्मः कृतम् देवः' अब महाराजा शिव कहते हैं मैंने यन्त्र इसे प्रदान किया है। यह तुमसे लिए जाए तो अपने में अपना लो, अन्यथा इसकी मृत्यु नहीं हेगी।

राम ने कहा, अब इस पर विचारा जाए। महाराजा शिव इतना उच्चारण करके यान में विद्यमान हो करके कैलाश के लिए, अपने आसन के लिए प्रस्थान किया। राम रात्रि समय यह चिन्तन करते रहे कि कैसे अपनाया जाए? मन्दोदरी से कैसे भिक्षा प्राप्त की जा सकती है? मुनिवरो! राष्ट्रीय विचारों में सब प्रकार की आभा प्रकट की जाती है। महाराजा जामवन्त और हनुमान दोनों ने यह स्वीकार किया कि महाराज! आप चिंतित न होइए। हम लंका में प्रवेश करेंगे और इसको अपनी आभा में प्रकट करके कोई न कोई यत्न करेंगे। दोनों ने ब्राह्मण के स्वरूप को धारण करके, क्षत्रियपन को त्याग करके, क्योंकि दोनों बुद्धिमान थे वेदों के ऊपर अनुसन्धान करने वाले थे।

हनुमान ने सूर्य की विद्या पर अनुसन्धान किया था। आज मुझे इतना समय नहीं है, कल मुझे समय मिलेगा, मैं हनुमान जी के जीवन के ऊपर अपनी आभा प्रकट करूँगा, जिन्होंने बेटा! बारह-बारह वर्षों का अनुष्ठान करके सूर्यमण्डल, सूर्य की किरणों के ऊपर नाना प्रकार का अनुसन्धान किया। उन आभाओं पर कैसे यह सूर्य अपनी किरणों से चन्द्रमा को तपाता है? किस प्रकार यह सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वियों को तपाता रहता है? इस विज्ञान को हनुमान जी भली-भाँति जानते थे। जामवन्त का चन्द्र-विद्या पर आधिपत्य रहा है। आज मैं वैज्ञानिकों के युग में तुम्हें ले जाना नहीं चाहता हूँ। मुझे जब वह काल स्मरण आता है, आज मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे मैं लंका में ही उन विचारकों में विद्यमान हूँ।

अब हनुमान और जामवन्त दोनों ने गमन किया और भ्रमण करते हुए लंका में पहुँचे। लंका में जाने के पश्चात् वह महारानी मन्दोदरी के यहाँ पहुँचे। उन्होंने भिक्षामयी अपनी ध्वनि उच्चारण की। एकाकी स्वर में उनका स्वर माधुर्य था। वह राजलक्ष्मी राजकृतिभा नाना स्वर्ण की आभाओं में वह उन्हें दक्षिणा देने के लिए तत्पर हो गयी। उन्होंने कहा, नहीं, हम ब्राह्मण हैं, इसको स्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने कहा, क्या चाहते हो? उसे यह लगा हुआ था कि हो सकता है 'राजम् ब्रह्मः' नष्ट करने के लिए बहुत से यत्न सोचता रहता है शत्रु। उन्होंने यह विचारा कि ऐसा न हो यह राम की सेना के कोई हों। उन्होंने कहा, मैं इसे प्रदान कर रही हूँ, स्वीकार करो। उन्होंने कहा, यह हमें स्वीकार नहीं है। उन्होंने कहा, क्या चाहते हो, क्या

तुम वास्तव में ब्राह्मण हो? उन्होंने कहा, हाँ तो क्या चाहते हो? उन्होंने कहा, हमारी इच्छा यह है 'आपम् ब्रह्मणः वचनतम् ब्रहीं आप अपनी वाणी से हमें दूरिता न करें तो हम अपनी वाणी से कुछ वाक्य उच्चारण करें। महारानी मन्दोदरी ने कहा, यह राज लक्ष्मियाँ अपने वचनों से दूर नहीं हुआ करतीं। यह इनका आभूषण है, यह इनका धर्म है, यह इनकी मानवता है। यह राष्ट्र की मर्यादा होती है। यदि राष्ट्र की मर्यादा वाक्य उच्चारण करके उसे समाप्त कर दिया जाए तो वहाँ राष्ट्र की मर्यादा समाप्त हो जाती है। इसलिए मैं अपने वाक्य से दूर नहीं हो सकूँगी, ब्राह्मण! तुम उच्चारण करो। मेरे प्यारे! उन दोनों ने एक स्वर में कहा कि हम आपसे आपके सुहाग का दान चाहते हैं, सुहाग की दक्षिणा चाहते हैं। मेरे प्यारे! महारानी मन्दोदरी मौन हो गई और मौन हो करके यह कहा, यह गोपनीय विषय तुम्हें किसने उच्चारण किया है? तुम ब्राह्मण नहीं हो। मुझे इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि तुम ब्राह्मण नहीं हो जो गोपनीय विषय मुझे और मेरे पतिदेव को प्रतीत है और एक यह गोपनीय विषय महाराजा शिव को प्रतीत है, चतुर्थ को प्रतीत नहीं, तुम्हें किसने यह मार्ग दिया है। मेरा पति तो इस वाक्य को वर्णन नहीं करेगा। अहा! तुम उच्चारण करो। दोनों ने एक स्वर में कहा, ''शिवम् ब्रह्मः अस्वताम्'' महाराजा शिव ने यह वाक्य प्रकट किया है। अब महारानी मन्दोदरी कुछ मौन रह करके बोली अहा! यथार्थ है, मैं अपने सुहाग की दक्षिणा तुम्हें दे चुकी हूँ। मैंने तुम्हें यह दान प्रदान कर दिया है क्योंकि महाराजा शिव की ही जब यह इच्छा नहीं रही कि मेरा पति संसार में जीवित रहे,

तो मेरे प्रभु जो चेतना देव हैं उनकी कोई और इच्छा है, उनका समय आ गया है, क्योंकि जिस वस्तु का निर्माण होता है उस वस्तु को जिन परमाणुओं का सँग्रह हुआ है, निर्माण हुआ है उसका विकृत होना भी अनिवार्य है। मेरे प्यारे! हनुमान जी ने बीच के स्तम्भ के दो भाग किए, उसके मध्य में वह यन्त्र विद्यमान था।

मुनिवरो! मैं ऐसी वार्ता तुम्हें प्रकट कर रहा हूँ विज्ञान की। जब तुम विज्ञान के ऊपर विचार करोगे तो सहस्रों वर्षों तक इस विज्ञान को विचारते रहोगे तो और विज्ञान इसकी इकाई में भ्रमण करता रहेगा। ऐसा भी परमाणुवाद है जो एक मानव के जीवन से सम्बन्धित है। मुनिवरो! वह परमाणुवाद उसे प्राण शक्ति देता है, प्राण-शक्ति दे करके जीवन को ऊँचा बना देता है। अब मुनिवरो! देखो, उन्होंने यन्त्र को प्रदान कर दिया और यन्त्र ले करके दोनों राम की सेना में आ गए, अपने कक्ष में आ गए। राम को प्रदान कर दिया, लीजिए भगवन्! तो राम प्रसन्न युक्त हो गए और उस यन्त्र को छिन्न-भिन्न किया, जिसके पश्चात् मुनिवरो! राजा रावण की मृत्यु हुई। (अड़तीसवाँ पुष्प १०-११-९७ ई.)

स्वानमाम् की रेखा

योगीराज श्रीकृष्ण ने एक ऐसे यन्त्र को खोजा था जिसको अब तक केवल दो ही व्यक्ति जान सके हैं, त्रेता-युग में श्री लक्ष्मण महाराज तथा द्वापर में योगीराज श्री कृष्ण जी महाराज। इसका नाम "स्वानमाम् की रेखा" है। यह एक महान् वैज्ञानिकता तथा यौगिकता है जिसमें षोडश कलाओं को जाना जाता है।

इस रेखा से युद्व क्षेत्र को घेर कर युद्ध में किये गए भयंकर यन्त्रों से उत्पन्न परमाणुओं से बाहर के प्राणियों को बचाया जाता था। (तीसरा पुष्प १६-७-६३ ई.)

जिस समय इन्द्रप्रस्थ में यज्ञ हुआ तो उस याग में जब महाराजा कृष्ण का निर्वाचन होने वाला था तो महाराजा शिशुपाल ने उनको अपशब्दों का प्रतिपादन किया, भगवान कृष्ण ने अपने सुदर्शन चक्र से जो संकल्प के द्वारा वह वैज्ञानिक यन्त्र था और उसके कण्ठ के भाग को दूरी कर दिया। वह सुदर्शन चक्र वास्तव में क्या था? वह भगवान कृष्ण ने कैसे जाना? क्योंकि उन्होंने महाराजा इन्द्र जो त्रिपुरी के राजा थे उन्होंने एक पोथी का निर्माण किया था जिस पोथी में सूर्य विद्या पर, नाना प्रकार की किरणों पर उनका अनुसन्धान था। किरणों में एक संकल्प शक्ति होती है जो सीमा में बद्ध रहती है। परमात्मा के संरक्षण में रहती है। जैसे सूर्य की एक ही किरण है जो स्वर्ण को निर्माणित कर रही है। एक ही किरण है तो और भी नाना धातुओं का निर्माण कर रही है। रत्नों का भी निर्माण कर रही है परन्तु इसी प्रकार वह जो रत्नोमयी किरण है और भी नाना प्रकार की जो किरणें हैं, परन्तु उन किरणों में एक संकलन व्रीत नाम की एक किरण होती है जो आभा कहलाती है। उस किरण को यन्त्रों में लाने से सुदर्शन चक्र का निर्माण हो जाता है, उस सुदर्शन चक्र का भगवान् कृष्ण ने निर्माण किया और वह संकल्प-शक्ति से गति करता था। इसी प्रकार जो संकल्प-शक्ति है उसके भी परमाणु होते हैं। नाना किरणें होती हें और वह ऐसी भयंकर संकल्प शक्ति है, मानव को नष्ट करना चाहते

हो, वही कृत्य कर जाता है। एक यन्त्र ऐसा है जो भुजाओं में है और अग्नि की किरणों से वह गति कर रहा है और इतनी तीव्र गति उसकी होती है कि उसकी गति को गणित नहीं कर सकते, एक-एक शब्द को जब तक उच्चारण किया जाए, इतनी देर में लाखों प्रतिक्रियाएँ, लाखों परिक्रमाएँ उस यन्त्र की हो जाती हैं। इस प्रकार के यन्त्र आधुनिक जगत् में नहीं हैं। वरुणास्त्र का निर्माण तो करना चाहता है वैज्ञानिक। कुछ किया भी है परन्तु वह वस्तु नहीं आ सकती। (उन्तालीसवाँ पुष्प ६-३-८२ ई.)

द्वापर काल में महाराजा कृष्ण द्वारा इतना विज्ञान था कि वे यन्त्र के विस्फोट से दिवस को रात्रि और रात्रि को दिवस बना देते थे। उन्होंने यह क्रिया जयद्रथ वध कराने में अर्जुन की सहायता के लिए सम्पन्न की थी। जब देखा कि जयद्रथ तो अनेक दुर्गम किलों में बन्द हो गया है और चहुँओर असंख्य वीर सैनिक उसकी रक्षा को नियुक्त कर दिए गए, तो भगवान् कृष्ण ने विचारा कि इस प्रकार तो अर्जुन को अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति हेतु प्राण त्यागने पड़ेंगे क्योंकि अभिमन्यु की मृत्यु का कारण जयद्रथ को मान अर्जुन ने यह प्रण किया था कि दूसरे दिन वह जयद्रथ को समाप्त कर देगा और यदि सूर्यास्त से पहले वह ऐसा न कर सका तो अग्नि में प्रवेश कर जाएगा।

कृष्ण भगवान ने तत्काल एक ऐसे यन्त्र को छोड़ा जिससे सर्वत्र अन्धेरा छा गया और युद्ध के मध्य सभी ने ऐसा जानकर कि सूर्यास्त हो गया, अब अर्जुन निजवचनानुसार अग्नि चिता में प्रवेश करेगा, तो कौरव दल में प्रसन्नता फैल गई तथा सभी अर्जुन को चिता में प्रवेश

करते हुए देखने आए। जयद्रथ भी निडर होकर वहाँ आ गया तो उसी क्षण क्या देखते हैं कि अन्धेरा फट गया और सूर्य पुनः अपने स्थान में चमकने लगा। कृष्ण ने अर्जुन को ललकार कर कहा कि अब अवसर है, मारो जयद्रथ को और इस प्रकार जयद्रथ मारा गया।

हुआ क्या कि रुक्मणि देवी ने कृष्ण भगवान के इशारे पर ऐसा यन्त्र अपने महल से छोड़ा था जिससे कि अन्धकार टूट गया और सूर्य पुनः निज स्थान पर प्रकाशित होने लगा। ऐसे यन्त्र थे उस काल में, आज तो केवल अग्नि काण्ड करने वाले यन्त्र हैं, किन्तु उनके बचाव करने वाले, वरुणास्त्र जो जल ही जल कर दें और अग्नि को शमन कर सकें, ऐसे अस्त्र कहाँ हैं? तभी तो यह कहना पड़ता है कि आज का विज्ञान तो एकांगी है, इकाई में भ्रमण करने वाला है। (उन्तालीसवाँ पुष्प ६-३-८२ ई.)

भगवान कृष्ण ने अनुसन्धान करते-करते यह जाना कि जो क्रिया मैं करता हूँ, उसका अभिप्राय क्या है? जल, अग्नि, वायु पृथ्वी आदि देवताओं को स्थापित करके उन्होंने अनुसन्धान किया पृथ्वी से, ''रूर्शिणी'' नामक धातु को जाना और दूसरी ''रूनेनु'' नामक धातु को जाना।

वायु में ''संकेत'' नाम की धातु को जाना।

जल में ''त्रुटित-जटा'' नाम की धातु को जाना। इसी प्रकार और भी धातुओं को जानते हुए उन्होंने ''शुभोष-मणि'' नाम का यन्त्र बनाया, उससे अन्तरिक्ष में रमण करने वाले परमाणुओं को एकत्रित किया।

इनसे ''सुरकेतु'' नाम का यन्त्र बनाया। इस यन्त्र के द्वारा महाअणुओं, त्रसरेणु, महा-त्रसरेणु एकत्रित करने लगे, इनसे नाना यन्त्रों का आविष्कार किया।

''शृंगकेतु'' नाम की रेखा को बनाने का यन्त्र बनाया जिससे महाभारत में युद्धक्षेत्र को घेर दिया था जिससे विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों का प्रभाव उस क्षेत्र से बाहर न जा सका।

इस रेखा को लक्ष्मण ने सीता की रक्षा के लिए खींचा था। इन दोनों महानुभावों के अतिरिक्त कोई व्यक्ति अब तक इन रेखाओं को नहीं जान सका। (सातवाँ पुष्प ३०-९-६४.ई.)

लक्ष्मण ने भारद्वाज आश्रम में राम के साथ छः मास तक रहकर ''सोमतिति'' (स्वान-माम्) नाम की रेखा को जाना था जो नाना प्रकार के परमाणुओं तथा अणुओं को अपने में इस प्रकार निगल जाती थी कि जैसे वर्षा के जल को पृथ्वी सोख लेती है। इसके अन्दर रहने वाला प्राणी सुरक्षित रहता था तथा बाहर से आने वाला भस्म हो जाता था।

इस रेखा को भगवान श्री कृष्ण भी जानते थे। इसका निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि वह रेखा उन परमाणुओं की बनी होती थी जो जल के परमाणुओं को निगल जाए तथा जल की धाराओं को भी निगलने की उसमें शक्ति थी।

बृहस्पति-मण्डल में जल प्रधान होने के नाते उनकी जो तरंगें वायु-मण्डल में भ्रमण करती रहती हैं, वे सब धाराएं एक ही आँगन में रमण करने वाली होती हैं। ''सोमनाकृतिक'' नाम का एक यन्त्र

होता है। उसमें यह विशेषता होती है कि वह वायुमण्डल से जल के परमाणुओं को एकत्रित कर लेता है। उसके दूसरे भाग में इन परमाणुओं को धारण करने की शक्ति होती है। तीसरे भाग में वायु के परमाणु एकत्रित किए जाते हैं। इसी प्रकार पाँचों प्रकार के परमाणु इस प्रकार एकत्रित हो जाते हैं। विद्युत्-कृतियों के द्वारा वह रेखा इस प्रकार की बनाई जाती है कि उसमें अग्नि तथा वायु तत्त्व प्रधान अधिक होते हैं। इसीलिए उसमें अन्तरिक्ष की पुट होती है।

इन तीनों का मिश्रण हो करके पार्थिव तत्त्व तथा उनके अनुसार वैसी ही विद्युत् लेकर, उनका पात बना करके उस रेखा को अंगीकृत किया जाता है। उस रेखा में यह विशेषता होती है कि यदि परमाणु आए तो उसको अपने में निगल जाती है। (सोलहवाँ पुष्प ३-८-७१ ई.)

मुनिवरो! ऋषि वैशम्पायन महाराज के पिता थे स्वर्णकेतु। स्वर्णकेतु ऋषि महाराज 'कृतिकी ददरीय' गोत्र कहलाते थे वे बोले कि मेरे पितृ ऐसा करते थे कि वे एक समय इन वाक्यों पर चिन्तन करने लगे। उन्होंने यज्ञ प्रारम्भ किया। जब यज्ञ प्रारम्भ किया तो उन्होंने एक यन्त्र का निर्माण किया। उस एक ही यन्त्र में ''चित्रावली'', स्वाँगति त्रिकेतु यन्त्र'' कहते थे। उस यन्त्र में यह विशेषता थी कि जो मानव जिस प्रकार का श्वास लेता था उसी प्रकार का यन्त्र में चित्र बन जाता था जिस प्रकार का वह रजोगुणी ममता का श्वास ले रहा है तो जिसके प्रति वह ममता कर रहा है, जिसके प्रति वह मोह कर रहा है वह आत्मा चला जाता है। परन्तु

चित्त के साथ वह माता के अन्तः करण में प्रवेश कर जाता है। परन्तु वह जो पुत्र चला गया है, पुत्री चली गई है, पत्नी चली गई है, संसार का कोई भी प्राणी ममता जिसके साथ लगी हुई है, जिस प्रकार का वह श्वास लेता था उसी प्रकार का मेरे प्यारे चित्र उस यन्त्र में आता हुआ ऋषि को दृष्टिपात आने लगा। परन्तु उसका किसी काल में एक पुत्र समाप्त हो गया मेरे पितृ का। परन्तु उसका चित भी उसे दृष्टिपात हुआ और उस चित्र ने यह संकेत दिया कि वह चित्र कहता है चित्र मेरा बना हुआ है। तुम ममता किस लिए कर रहे हो? तुम्हारी ममता का मूल क्या है संसार में? मेरे प्यारे ऋषि कहता है कि तुम इस समय सतोगुणी श्वास लो, सतोगुणी चित्र आएँगे तो वह उस समय मुनिवरो! उस यन्त्र में ममता का नाना प्रकार का श्वास आया। ममता उसे ऐसे घेरे हुए थी, प्रकाश उसके समीप नहीं आ रहा था। मेरे प्यारे! देखो जब क्रोध में उन्होंने श्वास की गति को जाना तो वह भी अन्धकार और घनिष्ठ अन्धकार में ही था। इसी प्रकार वेद का ऋषि कहता है कि मेरे पितृ ने यह वर्णन कराया है मुझे कि आगे मैं श्वास सतोगुणी लेने लगा, अध्ययन करने लगा। दर्शनों का अध्ययन प्रारम्भ है। उसमें जो श्वास ले रहा था वह जीवाणु, वह परमाणु इतने सतोगुणी कि वह द्यु-मण्डल की आभा में वर्णित कर रहे थे, पवित्र बना रहे थे। इसी प्रकार मैं जब योगाभ्यास करने लगा, योगाभ्यास का जो श्वास गति कर रहा था वह सत्मय और ॠतमय स्वरूप को लाँघता हुआ ब्रह्म के समीप जा रहा था। वह ब्रह्म की आभा में जाता हुआ ऋषि को यन्त्र में दृष्टिपात होने लगा, वह चेतना में लिप्त होता

हुआ ऋषि को दृष्टिपात होने लगा। (तैतीसवाँ पुष्प २०-५-७५ ई.)

इसी प्रकार एक समय उद्दालक गोत्र में उत्पन्न हुए एक ऋषि पति-पत्नी यन्त्रावली में कुछ चित्रों का दर्शन कर रहे थे। एक समय बेटा! ऋषि मुद्गल गोत्र में उत्पन्न होने वाले ऋषि उनके द्वार पर पहुँचे और वे बोले कि हे ऋषिवर! आप क्या कर रहे हो? उन्होंने कहा, यह हमारा चित्रण है हमने याग के द्वारा एक यन्त्र निर्मित किया है। हम इस यन्त्र में अपने सौवें महापिता के दर्शन कर रहे हैं। तो ऋषि कहने लगा कि प्रभु यह आपने क्या कहा कि सौवें महापिता के दर्शन। उन्होंने कहा कि हाँ, हमारे सौवें महापिता जो समाप्त हो गए थे उनके चित्र अन्तरिक्ष में गति कर रहे हैं। अन्तरिक्ष रूपी गर्भाशय में चले गए हैं वे चित्र हमारे यन्त्र में दृष्टिपात हो रहे हैं और हम अपने सौवें महापिता के दर्शन कर रहे हैं। तो मेरे पुत्रो विचार आता है कि ऐसे-ऐसे यन्त्र वायु-मण्डल में गति कर रहे हैं, श्वास के साथ में क्रिया-कलापों के साथ में। एक समय ऋषिवर जब ९९वें महापिता के दर्शन करने लगे, तो उनकी पत्नी और वह स्वतः यज्ञ कर रहे थे और यज्ञशाला का चित्र भी उस यन्त्र में दृष्टिपात आता था। तो मुनिवरो! वह अपने महापिता और महामाता के जो ९९वें महापिता कहलाते थे, दर्शन कर रहे थे। तो मुनिवरो! यह विचार आता है कि यह वायुमण्डल क्या है? परमात्मा का एक ऐसा विज्ञानमय जगत् है, कैसी विज्ञानमयीशाला है? प्रत्येक मानव अपनी आभा के अनुसार कल्पना करता रहता है। उन्होंने एक समय बेटा! अपने ८०वें महापिता के दर्शन किए तो उनका क्रिया-कलाप और ही प्रकार का

उन्हें दृष्टिपात आने लगा। बेटा। एक नहीं, नाना नहीं ऋषिवर! अपने पितृं से लेकर के, श्वास से ले करके अपने महापिताओं के दर्शन करता रहा। (तैतीसवाँ पुष्प २०-५-७८ ई.)

महाराजा हनुमान और गणेश जी दोनों जब ऋषि के द्वार पर पहुँचे तो ऋषि से उन्होंने यही कहा कि महाराज! हम वैज्ञानिक बनना चाहते हैं, हम सूर्य विद्या के ऊपर अपना अनुसन्धान करना चाहते हैं। तो महाराजा गणेश जी ने, हनुमान जी ने पादुका नामक एक यन्त्र का निर्माण किया था। उस पादुका यन्त्र में यह विशेषता थी कि प्राण शक्ति का उसमें उन्होंने सृजन किया। जिस पादुका पर विद्यमान हो करके इस पृथ्वी से उड़ान उड़ने लगे और पृथ्वी से उड़ान उड़ते हुए वह मंगल में पहुँच गए। मंगल से उड़ान उड़ी तो बृहस्पति में पहुँच गए जब पुनः मंगल में आए तो मंगल के वैज्ञानिकों ने उनके यन्त्र को कटिबद्ध करना चाहा। उस समय ''स्वेताम् बृहीहणक'' नाम के मंगल मंडल में एक वैज्ञानिक रहते थे। जब उन्होंने उस यन्त्र को अपने राष्ट्र में, मंगल में रहने के लिए प्रतीति की और अपने यन्त्रों का एक रूपान्तर उसके ऊपर आक्रमण किया तो मुनिवरो! हनुमान और गणेश जी दोनों उस यन्त्र को ले करके अन्तरध्यान हो गए और यन्त्र को लेकर के वह पृथ्वी मण्डल पर आ गए। (चालीसवाँ पुष्प २९-९-८१ ई.)

विनाशकारी अस्त्र

वैज्ञानिक रूप में, भौतिक विज्ञान में ब्रह्म-फाँस (ब्रह्म-पाश) एक अस्त्र भी होता है। (दसवाँ पुष्प २६-७-६३ ई.)

महाभारत में महाराजा अम्बरीश के पास एक ऐसा यन्त्र था जिसके एक प्रहार से नौ अक्षोहिणी सेना समाप्त होकर यन्त्र उसके पास (वापस) आ जाता था। (तीसरा पुष्प १६-७-६३ ई.)

अर्जुन का पुत्र बभ्रुवाहन अत्यन्त तीव्र गति से महाभारत युद्ध में आया था। उसके साथ ब्रह्मास्त्र था जो अपने लक्ष्य को बेधकर उसके पास वापस आ जाता था। (ईक्कीसवाँ पुष्प २९-७-७३ ई.)

रामायण काल में जहाँ आग्नेयास्त्र तथा ब्रह्मास्त्र थे, वहां जलास्त्र भी थे। इन्द्रजीत ने जब ''अग्रीत-केतु-यन्त्र'' का प्रहार किया तो चीचे जल हो गया तथा ऊपर अग्नि की वर्षा हो गई थी। राम ने जलास्त्र का प्रहार किया तो अग्नि शान्त हो गई। (पन्द्रहवाँ पुष्प २३-८-७१ ई.)

जब यहाँ (इस भू-मण्डल पर) राजा रावण की प्रतिभा थी, पताका थी, उनका विज्ञान था, संसार में उस समय इतना विशाल विज्ञान था कि चन्द्रमा में जाने वाले यन्त्र, बुद्ध में जाने वाले यन्त्र, आग्नेयास्त्र, जलास्त्र तथा नाना प्रकार के यन्त्र थे।

जिस समय राम और रावण का संग्राम होने लगा, उस समय रावण के पुत्र मेघनाथ ने एक ''सोमभुक'' नाम के यन्त्र का प्रहार किया। नीचे जल ही जल हो गया और ऊपर अग्नि की वर्षा हो रही है। सर्व सेना जलमग्न हो गई। अग्नि के प्रवाह में, अग्नि के रूपों में भस्म होने लगी। उस समय भगवान राम ने जलास्त्र का प्रहार किया। इस अस्त्र का निर्माण महर्षि भारद्वाज ने किया था उन्होंने भगवान राम को दिया था। वह अस्त्र अग्नि के अस्त्र को अपने में शोषण कर

गया, साथ में जल को भी शोषण कर गया। जल की आकुंचन शक्ति उस यन्त्र में अधिक होने के नाते जल और अग्नि दोनों शांत हो गए और सेना की रक्षा हो गई। (बाईसवाँ पुष्प २-८-७० ई.)

शब्द सन्म्बन्धी यन्त्र

महर्षि भारद्वाज ने ''स्वाति-केतुक'' यन्त्र बनाया था जिसके द्वारा ऋतु और सत् में रमण करने वाली वाणी का दिग्दर्शन हो जाता था। (बीसवाँ पुष्प २८-३-७३ ई.)

महर्षि भारद्वाज आश्रम में इस प्रकार का यन्त्र बनाया जाता था जिससे लाखों वर्षों के द्युलोक में रमण करने वाले शब्दों को आकर्षित किया जाता था क्योंकि शब्द नित्य होता है, वह द्युलोक में रमण करता रहता है। इनको प्राप्त करने वाले यन्त्र को ''शब्दावलीकेतु भूमक-यन्त्र'' कहा जाता है। इस यन्त्र में ऐसी विशेषता होती है कि जैसे मानव के शरीर में करोड़ों जन्मों के संस्कारों को स्मरण करने का यन्त्र बना है, इसी प्रकार मानव इस यन्त्र को बनाता है। उसको हृदय से (तुलना करके) बनाता है।

उसमें केवल वायु की तन्मात्राओं से विशेषता लेकर शब्दों के ग्रहण करने लगता है।

जैसे योगी यौगिक वाक्यों को तथा वेद-ध्वनि को मस्तिष्क में अध्ययन करता है, उसको अनहद रूपों में इस ध्वनि को तथा स्वरों को अपने में लाने का प्रयास करते हैं, तब हमारे करोड़ों जन्मों के संस्कारों तथा किए हुए कृत्यों का उस 'अनहद' ध्वनि को साक्षात्कार हो जाता है। वहां आत्मा का चित्रण होता है। हम आत्मा के प्रकाश

में चित्र के दिग्दर्शन कर लेते हैं। इसी प्रकार इसी के समान तन्मात्राओं द्वारा भौतिक यन्त्र बनाए जाते हैं। तब तन्मात्राओं के द्वारा वे शब्द हमें प्राप्त होने लगते हैं। (सोलहवाँ पुष्प ४-८-७१ ई.)

महर्षि भारद्वाज, दालभ्य, प्रवाण तथा तिलक ने एक यन्त्र का निर्माण किया था जिसको ''शब्दकेतु-मामकेतु-यन्त्र'' कहा जाता था। इसमें यह विशेषता थी कि यन्त्र में इस प्रकार प´चमहाभूतों से उन कणों को एकत्रित किया। कणों का समन्वय करते हुए उन शब्दों में यह विशेषता थी कि उनका चित्र आ जाता था। अब से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व या पाँच सौ वर्ष पूर्व मानव का शब्द किस प्रकार का था अथवा कैसे उनके विचार-विनिमय होते थे? महर्षि भारद्वाज ने अपने सौ वर्ष पूर्व जो उनके वंश के पूर्वज समाप्त हो गए थे और वे जब दार्शनिक समाज में विचार-विनिमय करते थे, उनके चित्र तथा और भी नाना ऋषियों के शब्द उस यन्त्र में प्रकाशित हो जाते थे। उस यन्त्र में मुनियों के चित्र भी आते थे।

इसका सिद्धान्त यह है कि अन्तरिक्ष शब्द या वाणी का क्षेत्र है। कुछ शब्द तो ऐसे होते हैं जिनकी प्रतीति को वायु छिन्न-भिन्न कर देती है। वे स्वाभाविक प्रकृति के क्षेत्र में नष्ट हो जाते हैं।

परन्तु शब्द के भौतिक गुण की प्रतिष्ठा अन्तरिक्ष में ही मानी गई है। प्रत्येक शब्द के साथ मानव का चित्र आ जाता है क्योंकि सूक्ष्म मण्डल में, इस अन्तरिक्ष में शब्द का कोई तो आकार स्वीकार करते हैं। तभी तो वह अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भाषा अंकुर रूपों में अन्तरिक्ष में प्रायः रहती है। जो

विशेष आत्मा इस संसार में आने वाला होता है, वह उस भाषा को प्रायः अपना लेती है। वही अन्तरिक्ष से आनी आरम्भ हो जाती है, विशेषकर जिस भाषा का लोक में प्रचलन होता है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक काल में रहते हैं। (पच्चीसवाँ पुष्प १४-८-७२ ई.)

रावण के पुत्र नरान्तक ने महर्षि भारद्वाज से पूछा, ''शब्दावली'' क्या है तथा मानव की शब्दावनी में कितनी तरंगें होती हैं ?

उत्तर.शब्दावलियों का उद्गम स्थान मानव का मुख है। मानव द्वारा एक शब्द के उच्चारण करने पर करोड़ों परमाणु अग्नि के और वायु के चले जाते हैं। विज्ञानवेत्ता जब परमाणुवाद में जाकर इस प्रकार निकल परमाणुओं को एकत्रित करने लगते हैं, तो उनसे सिद्ध होता है कि जो मानव चार हजार वर्ष या एक लाख वर्ष पूर्व समाप्त हो चुका है, उसका शब्द विराजमान रहता है। इन शब्दों के साथ जो परमाणु रहते हैं, उनको एकत्रित करके एक लाख वर्ष पूर्व मरे हुए व्यक्ति को चित्रावली यन्त्रों द्वारा लेना सम्भव हो जाता है।

शब्द की तरंग द्वारा चित्रः.उदाहरणार्थ.महर्षि भारद्वाज ने महात्मा सोमकेतु जो लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व समाप्त हो चुके थे, उनके रक्त के एक बिन्दु से जो उन्हें कहीं से प्राप्त हो गया था की चित्रावली यन्त्रों में लाकर सम्भव कर दी थी। इस चित्र को श्री ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी ने अपने पूर्व युग के शृंगी ऋषि के जन्म में देखा था। (पन्द्रहवाँ पुष्प २८-१०-७० ई.)

रावण के पुत्र मेघनाद ने एक यन्त्र बनाया था, जिससे वे लाखों वर्षों पूर्व के ऋषि-मुनियों के शब्दों को अन्तरिक्ष तथा द्यु-लोक से

लाकर अपने पिता को तथा ऋषियों को श्रवण कराते थे। (चौदहवाँ पुष्प १३-८-७० ई.)

महाराजा भीम के पुत्र घटोत्कच ने इस शब्दावली से ऐसे यन्त्र को बनाया था कि एक शब्द से अर्थात् श्रोत्र के एक शब्द की तरंग से मानव का चित्र उसके साथ-साथ आ जाता था। इसे उसने शब्द के परमाणुओं से जाना था। (चौदहवाँ पुष्प १३-८-७० ई.)

देवताओं की वाणी सुनने का यन्त्र

महाराजा अर्जुन ने महाराजा शिव के द्वारा देवयान और देवताओं की वाणी पान करने के लिए एक वैज्ञानिक यन्त्र को खोजा था। महाराजा अर्जुन ने महाराजा शिव से कहा था कि हे शिव ! मैं देवयान के देवताओं की वाणी का अनुकरण करना चाहता हूँ उनको यन्त्रों में लाना चाहता हूँ। मुझे ऐसे यन्त्रों के निर्माण करने की प्रक्रिया निर्णय कराएँ। महाराजा शिव ने उस यन्त्र का सब विवरण कह सुनाया।

ऐसा कहा जाता है कि उसी समय अर्जुन ने यन्त्र बनाया। जब उसका प्रहार किया जाता था तो वह यन्त्र अन्तरिक्ष में रमण करता था। ऐसा कहा जाता है कि उस यन्त्र से अर्जुन ने देवताओं की वाणी को श्रवण किया। (चौथा पुष्प २८-७-६३ ई.)

चित्रावली सम्बन्धी यन्त्र

महाभारत में भगवान श्रीकृष्ण जी महाराज ने श्री संजय को एक यन्त्र दिया था जिसके द्वारा संजय ने महाराजा धृतराष्ट्र को संग्राम की वार्ता प्रकट कराई थी। (उन्नीसवाँ पुष्प १९-३-७२ ई.)

उस चित्रावली के द्वारा, कुरुक्षेत्र में जो प्रातः संग्राम होता था, उसका चित्रण इस यन्त्र में आता रहता था। संजय उसको दृष्टिपात करके अपनी वाणी से उच्चारण करता रहता था। (चौदहवाँ पुष्प १७-८-७२ ई.)

हस्तिनापुर में कुरुक्षेत्र की वार्ता को संजय महाराजा धृतराष्ट्र को प्रकट करता था। इसका कारण यही था कि शब्दों के साथ-साथ उनका चित्र भी जाता था। (चौदहवाँ पुष्प १३-८-७० ई.)

संजय ने ''चित्रावली विधानन'' यन्त्र द्वारा धृतराष्ट्र को महाभारत का वर्णन कराया था। उस यन्त्र का जब तारतम्य कुरुक्षेत्र से मिलान कर दिया तो उस तारतम्य के द्वारा उन चित्रों का तथा वाणी का वर्णन महाराजा धृतराष्ट्र को कर दिया। (चौथा पुष्प १९-७-६४ ई.)

महाराजा अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन ने ''क्राकीक'' नाम का ऐसा यन्त्र बनाया था जिससे मानव के रक्त के एक बिन्दु से ही उसका पूरा चित्र आ जाता था। उसने ''क्रोगा-अनेक'' नाम का यन्त्र बनाया था जिसमें किसी भी लोक-लोकान्तर से पृथ्वी के लिए या पृथ्वी से किसी अन्य ग्रह के लिए जो यन्त्र चलता था उसका चित्र उसमें आ जाता था। (सोलहवाँ पुष्प ३-८-७१ ई.)

रावण का विधाता कुम्भकर्ण छः मास तक विज्ञानशाला में शिक्षा प्राप्त करते हुए (शोध करते हुए) हिमालय की कन्दराओं में रहते थे।

एक बार पापड़ी मुनि के पौत्र शृंगभानु ऋषि उसके पास पहुँचे। उस समय वे एक चित्रावली का निर्माण कर रहे थे जिसमें नाना

प्रकार के परमाणुओं के नाना 'अप्रत' एक सुकुमानी नेत्रों को विराजमान करता हुआ, अपने ही नेत्रों के समीप नाना प्रकार के परमाणुओं का चित्रण करने वाला हो।

उन्होंने कहा था कि यदि एक-एक परमाणु के साथ-साथ एक-एक यन्त्र का निर्माण हो जाए तो आपकी वाणी प्रत्येक यन्त्र में विराजमान हो जाएगी। कुम्भकर्ण ने कहा कि ऐसा नहीं। मैंने तो गुरुओं से यह जाना है तथा अनुसन्धान भी किया है कि यदि हम एक-एक परमाणु पर यन्त्र की स्थिति कर देते हैं तो वाणी जिस यन्त्र से सम्बन्धित होगी उसी यन्त्र में उसका प्रवाह होता चला जाएगा। ऋषियों का ऐसा कथन है कि मानव के मस्तिष्क में जितनी नस-नाड़ियाँ हैं, उनसे नाना लोक-लोकान्तरों से, नाना प्रकार की तरंगों के परमाणु मानव के मस्तिष्क में आते हैं तथा उसी प्रकार के यन्त्रों का निर्माण करके वही परमाणु जब वायुमण्डल में तरिंगत कर दिए जाते हैं तो वे विद्युत के आश्रित होकर जब उस यन्त्र में परिणत हो जाते हैं तो वही वाक्य यन्त्रों से प्रारम्भ होने लगते हैं। (सोलहवाँ पुष्प ३-८-७१ ई.)

महाराजा कुम्भकर्ण का एक यन्त्र था जिसको ''चित्राग्नियन्त्र'' कहा करते थे वह 'चित्राग्नियन्त्र' इस प्रकार का था कि इस पृथ्वी पर जितने उससे सम्बन्धित केन्द्र थे, उन सबके चित्र साफ-साफ उसमें आते रहते थे। महाराजा कुम्भकर्ण ने इसको सौ वर्षो तक अनुसन्धान करने के पश्चात् जाना था जितने भूमण्डल पर राष्ट्र थे उसके केन्द्रों का चित्रण उसमें आ जाता था। संसार के सब वैज्ञानिक उसे दृष्टिपात करने पहुँचे। (बाईसवाँ पुष्प २-८-७० ई.)

एक बार महाराजा अश्वपति के पुत्र 'लोकीकेत केतु' तथा महर्षि भंजु ने श्री ब्र. कृष्णदत्त जी महाराज को उनके पूर्व शृंगी ऋषि के जन्म में एक यन्त्र दिया था जिसमें मानव का चित्र उसके चले जाने के पश्चात् उसी स्थान से दो प्रहर तक (अर्थात् छः घण्टे बाद तक) भी लिया जा सकता था इसका अभिप्राय यह है कि मानव जिस आसन पर रहता था, उस पर उसकी सूक्ष्म धाराएँ तथा सूक्ष्म तरंगें अग्नि के ऊपर विश्राम करती रहती हैं तथा अग्नि की तरंगों में ओत-प्रोत रहती हैं। (उन्नीसवाँ पुष्प १९-३-७२ ई.)

महाराजा अश्वपति के महामन्त्री 'सुन्धानी' ने एक यन्त्र निर्माण किया था। वह इतना विशाल यन्त्र था कि जैसे यज्ञशाला में आहुति दी जाती उसमें जो मन्त्रार्थ उच्चारण होता, वह ज्यों का त्यों अन्तरिक्ष में मानव की वाणी के साथ रमण करती है। साथ में 'स्वाहा' बोलकर देने वाले होता भी विराजमान हैं। जो पति-पत्नी का ज्ञान वेदमन्त्र के साथ उनका आकार भी अन्तरिक्ष में गमन करता हुआ दिखाई देता था। उस यन्त्र में यज्ञशाला की प्रत्येक क्रिया दृष्टिपात होती थी। (अठाईसवाँ पुष्प पृष्ठ-१३)

महर्षि भारद्वाज ने और भी अनेक आदि ऋषियों ने ऐसा सोचा है कि जैसे चित्र में एक स्थली का चित्र आ जाता है, ऐसे ही वायुमण्डल में जो शब्दों के साथ में मानव के शरीर के जो चित्रण हैं, परमाणु हैं उनको भी मानव एकत्रित करके यन्त्र के द्वारा उनका चित्रण कर सकता है। महर्षि भारद्वाज, त्रिंगरा मुनि और उनके पौत्र श्रेणी मुनि महाराज, इनके मध्य का काल लगभग लाखों वर्षों की

दूरी का समय बनता है।

उन्होंने शब्दावली के यन्त्रों का निर्माण किया तथा जो लाखों वर्षों पूर्व के शब्द थे, उन्होंने केवल ''स्वाति-यन्त्र'' द्वारा अपने में ग्रहण कर लिए थे। चित्रण जो यन्त्र के पटल पर विचित्र होते थे, उनका वे दिग्दर्शन करने लगे।

आधुनिक विज्ञान यदि इसी गति से चलता रहा तो लगभग पचास वर्ष के पश्चात् इन गतियों को प्राप्त कर सकता है। (चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

रावण के पुत्र नरान्तक ने एक ''चित्रावली-यन्त्र'' का निर्माण किया था। उसमें शब्द सहयोग से चित्रावली यन्त्र में मानव का चित्र आ जाता था। वेद अनुसार इसका सिद्धान्त यह है कि मानव शब्द के साथ एक चित्रावृत (चित्र-मण्डल) बनता है, उसका स्थान बनाता है। अपने चित्रण को मुख से निकले परमाणु के रूप में वायुमण्डल में छोड़ देता है तथा प्रसारण कर देता है। उसी शब्द के साथ भौतिकवाद में उस वाणी तथा शब्द के सम्बन्धी जितने भी यन्त्र हांगे, उनमें उसका चित्र आता रहता है तथा चित्र नृत्य आदि सभी कुछ कार्य करता रहता है। (अठारहवाँ पुष्प १३-४-७२ ई.)

महर्षि भारद्वाज ने एक ''चित्रावली-यन्त्र'' बनाया था। वह ''चित्रवाली-यन्त्र'' सर्व राष्ट्रों में परिणत रहा। उन ''चित्रावली-यन्त्रों'' पर एक स्थल बनाया जाता था। उस स्थल पर चित्रण होता और वह लगभग सौ-सौ योजन दूरी, इससे भी अधिक सहस्रों-सहस्रों योजन दूर उसकी चित्रावली यन्त्रों में प्रायः रमण करने लगती थी।

(चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

महर्षि भारद्वाज, ने एक यन्त्र बनाया था। उसे विज्ञान में चरित्रकंतु कहते थे। उस यन्त्र में यह विशेषता थी कि, एक हजार वर्ष पूर्व जिसका निधन हो गया हो, यदि उसके रक्त का एक बिन्दु प्राप्त हो जाता था, तो उस यन्त्र में यदि उस रक्त के बिन्दु को लाया जाता तो उसका यन्त्र में वास्तविक चित्र दृष्टिपात आने लगता था (चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

महर्षि भारद्वाज श्वेतकेतु और दालभ्य जी ने ऐसा यन्त्र बनाया था कि एक मानव के उस स्थान से चले जाने के पश्चात् भी लगभग पाँच घड़ी (दो घण्टे) पश्चात् तक उस मानव का चित्र लिया जा सकता था। (चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

आज के मानवीय विज्ञान का दुरुपयोग हो रहा है, सदुपयोग नहीं। पुरातन काल में विज्ञान का दुरुपयोग नहीं होता था। सदुपयोग इस प्रकार किया जाता था कि एक चित्रावली बनाई उसमें माताओं के, ऋषि-मुनियों के चरित्र, ब्रह्मचर्य का महत्व, सात्विक राष्ट्रीयता की विचारधारा और वैदिकता के मन्त्रार्थ उस यन्त्र से प्रसारित किए जाते थे। तब सर्व-राष्ट्र स्वर्ग के तुल्य दृष्टिपात होता था। (चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

महर्षि भारद्वाज ने रावण के विधाता (भाई) कुम्भकर्ण, जिनको निश्चित ही आख्यात (प्रसिद्ध) वैज्ञानिक कहा जाता था, को अपना साथी बनाया और उन्हीं की विज्ञानशाला में अनुसन्धान करते थे। वे सदैव चित्रों का चिन्तन करते रहते कि ये जो चित्र आते हैं, कहाँ से

आते हैं ? उन्होंने एक-एक शब्द में चित्र माना और ऐसा कहा कि हमारा जो अन्तः करण है, जिसे हम चित्त कहते हैं, वह प्रकृति का भी चित्त है। यह जो शरीर में प्रकृति का ही चित्त है क्योंकि पंच-महाभूतों का संघात (मेल) हुआ, एकीकरण हुआ एकीकरण हो करके शरीर का निर्माण हो गया। उसके पश्चात् इन्हीं पंच-महाभौतिक सूक्ष्म आधारों को, परमाणुओं को, महापरमाणुओं की, अणुओं की धाराओं का चित्त नाम का स्थान बन गया।

उन्होंने इस प्रकार विचार किया कि मैं कौन हूँ? मैंने अपने गुरुदेव से तो अध्ययन किया था, वह मेरे चित्त में विराजमान है। इसी प्रकार वायु मण्डल में तथा पंच महाभौतिक तत्त्वों में जो धाराएँ विराजमान हैं इनको जानना है। उन्होंने इन धाराओं के ऊपर चिन्तन करना आरम्भ किया।

जब वे विचार करने लगे, तब विचार-विनियम के पश्चात् इस चित्त को लेकर के चार यन्त्रों का निरीक्षण किया।

चित्तान्वेषण-अवराज-यन्त्र

सर्व प्रथम उन्होंने इस चित्त का निरीक्षण किया। जैसे एक महापुरुष एक स्थली पर है, उसके अन्तःकरण का वातावरण और विचारधारा वायु-मण्डल में भ्रमण करती रहती है। जिस स्थान पर ऋषि तपस्या करते हैं, वहाँ तप के परमाणु उस स्थान पर विराजमान रहते हैं। तब ऋषियों ने इसके आंगन में यन्त्र का निरीक्षण किया। जिस यन्त्र का उन्होंने निर्माण किया, उसमें यह विशेषता थी कि एक मानव एक स्थान पर विराजमान है। यदि वह चला जाए तो ढाई

घड़ी के पश्चात् अर्थात् एक घण्टे पश्चात् उसी यन्त्र से उस मानव का चित्र आ जाता है। उसी चित्र को लेकर उन्होने प्रकृति के परमाणुओं से जाना क्योंकि उसमें अग्नि और वायु के परमाणुओं का अधिक मिश्रण होता है। जल परमाणु सूक्ष्म होते हैं। पार्थिव परमाणु उसके लिए आरज्यसी में होते अर्थात् अत्यल्प मात्रा में होते हैं। जैसे सूर्य किरणों में पार्थिव अणु अत्यल्प मात्रा में, वायुमण्डल में उड़ते रहते हैं। अन्तरिक्ष के परमाणुओं की अधिकता होती है। इसका मिलान करके एक यन्त्र बन जाता है। इस यन्त्र में यह विशेषता होती है कि जैसे योगीजन योग से चित्त को जान लेते हैं, इसी प्रकार का उन्होंने इस यन्त्र का निर्माण किया।

द्वितीय यन्त्र : इस प्रकार का था जैसे एक मानव का अन्तःकरण है, उसकी यदि सौ वर्ष की अवस्था है, तो बाल्यकाल के संस्कार सौ वर्ष के पश्चात् भी मानव के जीवन में आ जाते हैं। वृद्धपन में वह बाल्यकाल की कल्पना करता है। प्रायः वे चित्र स्मरण आ जाते हैं कि मैं ऐसे आंगन में रमण करता रहता था। ऐसी-ऐसी बातें होती रहती थीं। अन्तःकरण में वे संस्कार जागरूक हो गए।

इसी प्रकार उन्होंने यह जाना कि यह जो अन्तरिक्ष है, यहाँ प्रत्येक रक्त के बिन्दु में चित्रावली होती है उसके दिग्दर्शन होते रहते हैं। उसको भी जानने का उन्होंने प्रयास किया।

महर्षि भारद्वाज, स्वाती ब्रह्मचारी, अस्वेतांगनी प्रतिभा और माता शह्मणी, प्रेम केतु ये वैज्ञानिक उनकी विज्ञानशाला में इनके ऊपर अन्वेषण करते। इसको जानने के लिए महर्षि भारद्वाज मध्य में

विराजमान होते और वेद-मन्त्रों के अध्ययन के आधार पर उनका विचार-विनिमय चलता रहता था। इस प्रकार का यन्त्र बनाया गया कि जिस मानव का सौ वर्ष पूर्व निधन हो गया हो उसके रक्त के एक बिन्दु से उस यन्त्र में मानव का साक्षात् चित्र आ जाता था। तो ऋषि ने निर्णय किया कि एक रक्त के बिन्दु में भी प्रायः इतने परमाणु होते हैं।

तृतीय-यन्त्रः.इस प्रकार का यन्त्रित किया और सिद्ध किया कि मानव जो भी शब्द उच्चारण करता है, वह शुद्ध हो या अशुद्ध हो, वे शब्द अन्तरिक्ष में विराजमान हो जाते हैं, उन्होंने सिद्ध किया कि अशुद्ध वातावरण किस प्रकार हो जाता है।

जैसे एक गृह में एक मानव दूसरे से प्रसन्न होता है तो गृह में स्वर्ग की कल्पना की जाती है परन्तु जब एक मानव दूसरे से क्लेशयुक्त रहता है, गृह में कलह रहती है, नेत्रों से जल की वर्षा होती रहती है तो वह गृह गृह न रहकर नार्किक गृह बन जाता है क्योंकि जो क्रोध के परमाणु वातावरण में ओत-प्रोत हो जाते हैं, उसे देखकर मानव कहता है कि यह गृह तो मुझे शोक-युक्त प्रतीत होता है।

इसी प्रकार ऋषि ने सिद्ध ने सिद्ध किया कि एक मानव मिथ्या उच्चारण करता है, उसके परमाणु अन्तरिक्ष में रमण करते हैं। जब वह व्यक्ति शान्त होता है तो उसका अन्तःकरण धिक्कारने लगता है क्योंकि अन्तःकरण में भी वह चित्त विराजमान है। ऋषि ने कहा है कि वह जो अशुद्ध वातावरण है, अशुद्ध भावना वाले परमाणु हैं वे वायुमण्डल में भरण हो जाते हैं। उस वायुमण्डल में जो शुद्ध शब्द

होते हैं वे द्युलोक को प्राप्त हो जाते हैं। तो उन्होंने सिद्ध किया कि प्रत्येक शब्द के साथ उस मानव का चित्र भी आ जाता है।

उन्होंने जो यन्त्र निर्मित किया उसको ''चित्रावली अनुवासन-वायु स्थित भवन यन्त्र'' कहते हैं।

उस यन्त्र में यह विशेषता थी कि वह यन्त्र वायुमण्डल में त्याग दिया गया और नीचे पृथ्वी पर एक यन्त्र विराजमान है तो उसमें वह छाया आती रहती थी। उसमें वे धाराएँ दृष्टिपात आतीं, तो ऋषि ने यह सिद्ध किया।

एक-एक शब्द के साथ मानव का चित्र भी जाता है। जितना कि एक शब्द के साथ में परमाणु जाता है, जितने परमाणुओं से माता के गर्भ-स्थल में बालक का निर्माण हो जाता है, उतने ही परमाणुओं का एक शब्द में विकास हो जाता है, वायु मण्डल में, तरंगों में तरंगित हो जाता है।

अशुद्ध शब्द हों तो अशुद्धता में परिणत हो जाते हैं, शुद्ध शब्द हों तो द्युलोक को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि उस शब्द में विद्युत् अधिक होती है। दोनों की सीमाएँ यदि अंकित की जाएँ तो शुद्ध वातावरण में विद्युत् का प्रभाव अधिक होता है और अशुद्ध में सूक्ष्म होता है।

इस सिद्धान्त के आधार पर उस यन्त्र में यह विशेषता थी कि दोनों प्रकार के शब्दों का विभाजन होता था। उन चित्रों द्वारा अशुद्ध परमाणु वायुमण्डल में दृष्टिपात आते थे। विद्युत् के आँगन में उनका रंग-रूप भी भिन्न रूप में दृष्टिपात आता था।

''शुद्ध का त्रेताम् ब्रह्मो त्राताम् ब्रह्मो असवाति'' वेद में आया है

कि शुद्ध वातावरण में, उस शब्द में श्वेत और पीताम्बरी वर्ण होता है और जो अशुद्ध होता है, उसमें हरित आसन पर क्लिष्ट वर्ण होता है। उस कलांग्रित वर्ण होने के नाते उस अशुद्धवाद में तमोगुण प्रधान होता है।

इसी प्रकार, दोनों प्रकार के शब्द इस यन्त्र में विभाजित होते दृष्टिपात होते थे। जैसे-एक न्यायाधीश जब न्याय करता है तो मिथ्या को और सत्य को वह अन्तः करण में जान लेता है और लेखनीबद्ध कर लेता है।

इसी प्रकार जैसे वाणी के ऊपर अनुसन्धान करने वाला योगी यह जान लेता है कि वाणी में अशुद्धवाद है या शुद्धवाद है। आयुर्वेद का पंडित भी उस अशुद्धवाद और शुद्धवाद को जान लेता है।

इसमें कुछ परमाणु अग्नि के होते हैं और उसके आधे जल के होते हैं और तिगुने परमाणु वायु के होते हैं। इससे अधिक परमाणु अन्तरिक्ष के होते हैं और इन सबसे बहुत सूक्ष्म परमाणु पृथ्वी के होते हैं। इन पंच महाभौतिकों का एक-दूसरे से मिलान करते हुए वह इस पद्धति का महायंत्र बन जाता है जिससे शब्दों का विभाजन किया जाता है। (चौबीसवाँ पुष्प ६-८-७३ ई.)

विद्युत का प्रकाश

लाक्षागृह पर लगभग चार हजार वर्ष के पश्चात् पुनः विद्युत् प्रकाश का निर्माण हुआ है, इससे पूर्व भी था। उस समय विज्ञान के ऊपर काफी अनुसन्धान होता रहता था। (इक्कीसवाँ पुष्प २८-२-७० ई.)

चिकित्सा-क्षेत्र

महर्षि नरकृति महाराज को जब महर्षि सोमकेतु, भुञ्ज आदि ऋषियों ने उनके मस्तिष्क पर अश्व का मस्तिष्क स्थिर कर दिया था और उन्होंने इनके मस्तिष्क को औषधियों में नियुक्त कर दिया था। इसी प्रकार महात्मा दधीचि के मस्तिष्क को अश्विनी कुमारों ने जो महात्मा भुञ्जु (द्वितीय नाम सूर्य) के पुत्र कहलाते थे, छः माह तक औषधियों में नियुक्त कर दिया था।

ऋषि कहते हैं कि हृदय की गति को छ-छः माह तक प्रायः औषधियों में नियुक्त करके, छः माह के पश्चात् उस शरीर में गति प्रदान कर सकते हैं। ऐसे-ऐसे अनेक वैद्यराज हुए जो मार्ग में (वन में) औषधियाँ थीं, उनको स्वप्न में प्रकट करती थीं कि मैं इस रोग को दूर कर सकती हूँ। स्वप्न में औषधियाँ इस प्रकार उच्चारण करती हैं कि जो मानव उनके ऊपर अनुसन्धान करता है तो अनुसन्धान करने वाले के समीप औषधियाँ आने लगती हें अर्थात् उनके गुणों का प्रकाश होने लगता है।

हमारे यहाँ नाना प्रकार की औषधियों के लेपनमात्र से ही मानव के शरीर का रोग दूर होने पर शरीर स्थिर हो जाता था।

जब ऋषिजन अपने शिष्य को ऊँचा बनाते थे तो ऐसी औषधियों का आसन बना देते थे कि पृथ्वी की विद्युत् उस औषधि में परिणत होती थी जिससे ब्रह्मचारी यौगिक अभ्यास में अधिक परिणत हो जाता था। (चौबीसवाँ पुष्प १७-८-७२ ई.)

लोक-लोकान्तरों में यानों द्वारा भ्रमण

आज की वैज्ञानिक उन्नति प्रशंसनीय है किन्तु यह कहना उचित नहीं कि पहले इसको नहीं जाना था (पाँचवाँ पुष्प १९-८-६२ ई.)

उदाहरण

१-महाभारत काल में महाराजा भीम सेन और घटोत्कच ने 'चन्द्र-विप्रति-यन्त्र' का निर्माण किया था जो चन्द्रमा के ऊपरले भाग में रमण कर रहा है। उन्होंने इक्कीस प्रकार के यन्त्रों को अन्तरिक्ष में अप्रेत (प्रक्षेप) किया था। (इक्कीसवाँ पुष्प २०-३-७२ ई.)

२-महाराजा भीमसेन के पुत्र घटोत्कच ने अपनी विज्ञानशाला से मंगल, बुध और चन्द्रमा के लिए यान भेजे थे। बभ्रुवाहन तथा घटोत्कच के द्वारा छोड़े गए यन्त्र आज भी उस स्थल पर घूम रहे हैं, जहाँ चन्द्रमा के ऊपरले भाग में मंगल और बुद्ध की आकर्षण-शक्तियों का मिलान होता है। बभ्रुवाहन द्वारा छोड़े गए यन्त्र का नाम 'आस्विति' तथा घटोत्कच के यन्त्र का नाम 'सोमा-कृतिक' है।

जब मानव चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति के कक्ष में अलग होकर ऊपर सूर्यमण्डल के ऊपरले भाग में पहुँचेगा तो उन्हें वे दिखाई देंगे। महाभारत के युद्ध के समय इनको छोड़ा गया था। (चौबीसवाँ पुष्प ३-८-७१ ई.)

महानन्द जी कहते हैं कि अभी-अभी पूज्यपाद गुरुदेव ने उच्चारण किया था कि आधुनिक जगत् के पृथ्वी मण्डल के वैज्ञानिकों का यान जब चन्द्रमा के कक्ष में गति कर रहा था और जब मानव कक्ष में जाने वाला था तो वह जो घटोत्कच का यान था, दोनों का समन्वय हो गया तो उस यान को नीचे लाना पड़ा और घटोत्कच का यान

चन्द्रमा के कक्ष में गति करता रहा। इस प्रकार का विज्ञान परम्परा का माना जाता है।

देवर्षि नारद मुनि महाराज का नामकरण इस संसार में कौन नहीं जानता। उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव उनकी विज्ञानशाला में यानों का निर्माण करता रहता था। वह अपने यान में विद्यमान हो करके ध्रुव की यात्रा करता था जबकि आज का वैज्ञानिक चन्द्रमा और मंगल की यात्रा कर पाया है। सहस्रों चन्द्रमा धुरव की परिक्रमा करते हैं। इतना बड़ा ध्रुव-मण्डल है, उसमें महात्मा ध्रुव अपने यान से यातायात किया करता था, ऐसा वैज्ञानिक आज कहाँ से तुम्हें प्राप्त कराऊँ। केवल इतना उच्चारण करूँगा कि कितना ऊर्ध्व वाला विज्ञान रहा है।

भारद्वाज की विज्ञानशाला में भगवान राम विद्यमान हैं, लक्ष्मण विद्यमान हैं और ब्रह्मचारी सुकेता, देवर्षि नारद मुनि महाराज विद्यमान हैं। चारों ने भारद्वाज की अध्यक्षता में एक गोष्ठी की और विचारा कि अन्तरिक्ष में ऊर्ध्वगति वाले यान का निर्माण कर सकते हैं। तो ब्रह्मचारी सुकेता एक यान में विद्यमान हो गए। ब्रह्मचारी कजली वेश और ब्रह्मचारी रोहिणीकेतु तीनों यान में विद्यमान हो करके पृथ्वी से उड़ान उड़ी और लगभग ढ़ाई घड़ी में चन्द्रमा में चला गया और ढ़ाई घड़ी चन्द्रमा में जाने के पश्चात् वही यान ढ़ाई घड़ी में बृहस्पति मण्डल में पहुँच गया और ढ़ाई घड़ी के पश्चात् वह मंगल में चला गया और मंगल की उड़ान उड़कर अँडज में चला गया। परिणाम यह कि वह यान बहत्तर लोकों का भ्रमण करके भारद्वाज की विज्ञानशाला में आ गया। यह विज्ञान हमारे ऋषि-मुनियों के

मस्तिष्क में ही नहीं परन्तु क्रिया में रहता था। यह राष्ट्र की सम्पदा बन करके रहता था क्योंकि विज्ञान राष्ट्र की एक सम्पदा है। राष्ट्र विज्ञान के ऊपर स्थिर रहता है। इस प्रकार का विज्ञान परम्परा से मानवीय मस्तिष्कों में रहा है, ऋषि-मुनियों की आभा में रहा है। (तैतीसवाँ पुष्प-प्रथम प्रवचन)

३-सतयुग में महाराजा गरुड़ बहुत बड़े वैज्ञानिक थे, उनकी बहुत वड़ी उड़ान थी। वे लोक-लोकान्तरों में उड़ान करते रहते थे। सूर्यलोक ध्रुवलोक, चन्द्र मंगल, बुध शुक्र और शनि आदि लोकों में जाते रहते थे। (चौबीसवाँ पुष्प १३-८-७१ ई.)

४-रावण के शासन काल में चन्द्रमा और पृथ्वी के आकर्षण-शक्ति के मिलान बिन्दु पर स्थानों के निर्माण किए गए थे। (सोलहवाँ पुष्प ४-८-७१ ई.)

५-महर्षि दालभ्य मुनि ने बारह लाख वर्ष पूर्व एक यन्त्र का निर्माण किया था। उस यन्त्र में अग्नि के परमाणुओं से वायु के परमाणओं को एकत्रित करते हुए उनका मिलान करके उनमें गुरुत्व का स्थिरता में रमण करते हुए एक यान बनाया था जो आज भी सूर्य की परिक्रमा कर रहा है।

इसकी आयु एक करोड़ छियासी लाख पचास हजार वर्ष तथा बावन दिन (१,८६,५०,००० वर्ष तथा ५२ दिन) निश्चित की गई है। (उन्नीसवाँ पुष्प २८-१०-७२ ई.)

६-एक समय महारजा कुम्भकर्ण ने महर्षि भारद्वाज की आज्ञा के अनुसार यन्त्र में सवार होकर जब उड़ान उड़नी आरम्भ की तो वह

यन्त्र इतना शक्तिशाली था कि दो दिवस और दो रात्रि में इस पृथ्वी-मण्डल से वह मंगल-मण्डल में पहुँच गया। (तेईसवाँ पुष्प ११-३-७२ ई.)

७-महर्षि कुक्कुट मुनि महाराज ने रावण के पुत्र नरान्तक से पूछा कि आप चन्द्रमा की यात्रा कितने समय में कर लेते हैं ? नरान्तक ने कहा कि एक रात्रि और एक दिवस में मेरा यान चन्द्रमा में चला जाता है और इतने ही समय में पृथ्वी पर आ जाता है, इसको 'चन्द्रयान' या कृतकयान' कहते हैं।

मेरे यहाँ ऐसे भी यान हैं जो मेरे बिना चन्द्रमा पर पहुँच जाते हैं, उन्हें मनुष्य की आवश्यकता नहीं है 'कृतकयान' को जब वायुमण्डल में प्रसारण कर देता हूँ तो यह पृथ्वी की परिधि से दूर हो जाता है और चन्द्रमा की यात्रा के पश्चात् पुनः पृथ्वी पर आ जाता है।

मेरे यहाँ ऐसा भी यन्त्र है जो पृथ्वी की परिक्रमा करता है तो एक परिक्रमा करते ही उसका चित्रण आ जाता है। इसके पश्चात जब उसका चन्द्रमा से मिलान होता है तो उसका चित्र भी पृथ्वी पर स्वतः आ जाता है। (बीसवाँ पुष्प २४-९-७० ई.)

८-महर्षि भारद्वाज ने अपने जीवन में और उनके शिष्यगणों ने छत्तीस लोकों में अपने यन्त्रों के द्वारा यातायात को बनाया था।

वे छत्तीस लोक इस प्रकार के हैं जो सूर्य के अन्तर्गत रहने वाले हैं। जैसे १-मंगल, २-शनि, ३-बुध, ४-रोहिणी, ५-आभूषणम्, आदि।

वे अनुसन्धान करते थे, परमाणुओं का मिलान करते रहते थे। परमाणु, महापरमाणु, त्रसरेणु, चतशेणु पंचाणु, षडाणु सप्ताणु, अष्टाणु

इसी प्रकार छत्तीस प्रकार के जो परमाणु हैं उनको वे जानते रहते थे। (तेईसवाँ पुष्प ११-३-७२ ई.)

एक समय महर्षि भारद्वाज ने एक यन्त्र का निर्माण किया। उसको यान 'स्वाकेति-चक्रान' यन्त्र कहा जाता था। वह मंगल की परिक्रमा करता रहता था। मंगल की परिक्रमा के लिए महर्षि भारद्वाज ने तथा राजा रावण के विधाता कुम्भकर्ण ने और नाना वैज्ञानिकों ने उसमें ऐसे परमाणुओं को एकत्रित किया जो वायु की धाराओं में रमण करते रहते हैं, अग्नि और अन्तरिक्ष की धाराओं में रमण करते रहते हैं। जो विद्युत् के रूपों में प्रकाशित होते रहते हैं। उन परमाणुओं को एकत्रित करके, यान बनाकर ऋषि ने कहा कि यह जो यान है, इसकी जो आयु है वह दस हजार वर्ष की है। हमने दस हजार वर्षों के लिए वायुमण्डल में त्याग दिया। (चौबीसवाँ पुष्प १७-८-७२ ई.)

१०-महर्षि भारद्वाज ने ऐसे यन्त्रों को वायुमण्डल में प्रसारित कर दिया था जो लगभग मंगल के आँगन में मंगल की परिक्रमा करता रहा। जैसे आस्वाति-मण्डल है, वह मंगल के पूर्व ऊर्ध्व के भागों में रमण करता है। उसकी भी परिक्रमा करने वाला हो, ऐसा यान महर्षि भारद्वाज ने इतनी लम्बी आयु का वायुमण्डल में प्रसारित कर दिया था। (चौबीसवाँ पुष्प १७-८-७२ ई.)

एक समय महाराजा शिव और पार्वती अपने कैलाश आसन पर विद्यमान थे, दोनों का जो विचार था वह एक सूत्र में दोनों के इस योग्य था क्योंकि वे सदैव ज्ञान और विज्ञान दोनों के ऊपर अनुसन्धान करते रहते थे। एक समय माता पार्वती अपनी उत्पन्न

दिव्य ज्योति से, यन्त्रों की सहायता से अन्तरिक्ष को दृष्टिपात करने लगीं। प्रातःकाल का समय था, प्रातःकाल में जब वह अपने लोक-लोकान्तरों की माला अपने मन रूपी सूत्र में पिरो रही थीं तो उन्हें अन्तरिक्ष में एक यन्त्र दृष्टिपात आने लगा। तब वह अपने देव से बोलीं, हे प्रभु ! यह यन्त्र मुझे दृष्टिपात आ रहा है, यह यन्त्र क्या है ? तो महाराजा शिव ने उस यन्त्र को दृष्टिपात किया और उन्होंने कहा, देवी! यह एक यन्त्र है परन्तु यह चन्द्रमा के और भूमण्डल दोनों के आवान्तर अग्रवृतकेतु गतियों में गति कर रहा है। उन्होंने कहा, तो महाराज! यन्त्र कैसे दुष्टिपात करना चाहिए? तो माता पार्वती और महाराजा शिव दोनों अपने यन्त्र में विराजमान हो करके अन्तरिक्ष की यात्रा के लिए गति करने लगे, वे गति करते रहे। जहाँ पृथ्वी के आकर्षण की परिधि का समापन होता है और चन्द्रमा के आकर्षण की परिधि का प्रारम्भ दोनों की एक अवान्तर गति में जब वे पहुँचे तो एक यन्त्र के समीप अपने यन्त्र को स्थिर करते हुए पहुँचे। वहाँ महर्षि माकण्डेय का यन्त्र विद्यमान था। वहाँ माता पार्वती और शिव दोनों को दृष्टिपात करके महर्षि ने उन दोनों के शरीर से स्पर्श किया और स्पर्श करके उनसे आशीर्वाद लिया।

उन्होंने कहा कि तुम्हें कितना समय हो गया है? इस प्रकार तुम्हारा यन्त्र, यह जो यान है यह कब से यहाँ विद्यमान है? उन्होंने कहा कि हमारा जो यह यान है इसको बारह वर्ष हो गए हैं और बारह वर्ष से यह यान यहीं विद्यमान है। हम कुछ अनुसन्धान कर रहे हैं। महर्षि मार्कण्डेय ऋषि महाराज और उनके शिष्य श्वेतकेतु और

बुर्णा-वर्णा कवि भी ये तीन महर्षि वहाँ विद्यमान थे जो कुछ अनुसन्धान कर रहे थे। उनके जीवन में सदैव अग्नि व्याप्त रहती थी। क्योंकि अग्नि ही तो मानव के मस्तिष्कों को उठा देती है। अब वह कुछ अग्नि के द्वारा मानव के ज्ञानरूपी जो तन्तु होते हैं वे प्रकाश में आ जाते हैं, गतियाँ करने लगते हैं अथवा नृत्य करने लगते हैं। अब वह जो व्रतमयी जीवन है, वही तो ज्ञान और विज्ञान में मानव को ले जाता है। (सैंतीसवाँ १८-४-९७ ई.)

११-एक समय महाराज अश्वपति के यहाँ उनके महामन्त्री ने एक वाक्य कहा कि महाराज! हम सूर्यमगडल में जाना चाहते हैं, तो किस प्रकार अनुसन्धान करें, उस समय प्रश्नोत्तर आरम्भ होने लगे। यह कहा गया कि जो सूर्य की रशिमयाँ हैं, उन रशियों को हम घ्राण और नेत्रों के द्वारा अनुभव करेंगे। वास्तव में तो वे नेत्रों द्वारा अनुभव होती हैं, हम जब अपने मानव जीवन को चित्रण और चित्र स्वीकार कर लेते हैं, तो चित्र में जब यह आभास होने लगता है, वह प्रकाश कितना तेजोमय है? उस प्रकाश की जो रशिमयाँ हैं उसमें हम नाना प्रकार के पुट लगाते चले जाते हैं परन्तु वह अग्नितत्त्व प्रधान निर्माण होता है। उसमें अग्नि की नाना तरंगों को परिणत कर दिया जाता है। जब यह यान अन्तरिक्ष में जाता है, भ्रमण करता हुआ सूर्यमगडल की उन रशिमयों के मार्ग के लिए प्रेरित होने लगता है। उसमें अपने जीवन को प्रारम्भिक बनाता हुआ पारलौकिकता में ले जाता है। (चौबीसवाँ पुष्प १८-७-७२ ई.)

भारद्वाज आश्रम के ब्रह्मचारी त्रेता ने कहा कि मैं सूर्यमगडल में

जाना चाहता हूँ। सूर्यमण्डल में जाने के लिए छः भौतिक यानों का निर्माण करते हैं। उन्होंने यान का निर्माण किया।

सबसे प्रथम एक भाग उन्होंने पृथ्वी के परमाणुओं का लिया। उससे दुगना भाग जल के परमाणुओं का और चौगुणा भाग अग्नि का लिया। तीन प्रकार के परमाणुओं को लेकर परमाणुओं का विभाजन किया तो उन्होंने एक जाति की तरंगें उत्पन्न कीं। उनका मिलान करके तरंगें उत्पन्न कीं और द्रव्य एकत्रित किया, स्थूल पदार्थों का द्रव्य बनाया, इसी धातु से उन्होंने यानों का निर्माण प्रारम्भ किया।

जब निर्माण किया तो अब उसमें चौगुणी गति के वायु के परमाणु ले करके पुट लगाई और अन्तरिक्ष के परमाणुओं को ले करके उस यान में विराजमान हो गए। विराजमान हो करके वह यान प्रारम्भ होने लगा। वह वायु में त्याग दिया गया।

जब वायु में वह यान गति करने लगा तो एक स्थूल यान पृथ्वी पर है और एक यान विज्ञानशाला में है। वह गति कर रहा है, उसकी छाया निचले यन्त्र में आ रही है। जब वह चन्द्रमा के ऊपरले कक्ष में पहुँचा तो उसमें छाया आ रही है। वह मंगल की ऊर्ध्वगति में श्वेतकेतु नक्षत्र के ऊपरले कक्ष में पहुँचा तो श्वेतकेतु नक्षत्र के ऊपरले भाग में 'द्यु-आस्वातन' नक्षत्र है। उससे ऊर्ध्वगति में पहुँचा तो सप्तर्षि मण्डल है। उससे भी ऊर्ध्वगति में पहुँचा तो उससे आगे सूर्यमण्डल की छाया आ जाती है। सूर्यमण्डल के कक्ष से भी दूर हो जाता है, वह ध्रुव-यानों में सफल होता है।

जो वैज्ञानिक सूर्यमण्डल में जाना चाहता है उसे अग्नि के

परमाणुओं को अधिक लेना होगा क्योंकि जिस लोक में जो तत्त्व प्रधान है, उसी तत्त्व के परमाणु अधिक ले करके उसके यान का निर्माण करना होता है। इस सम्बन्ध में महर्षि भारद्वाज ने ऐसा कहा है कि हम जब यज्ञशाला में विराजमान होते हैं तो हमारे पास यन्त्र होते हैं और वे यन्त्र वायुमण्डल में से परमाणु को लेते हैं, उन परमाणुओं को एकत्रित करते हैं, उन परमाणुओं से हम यानों का निर्माण करते हैं।

यह तो सिद्ध है कि पंच महाभौतिक परमाणु सर्वत्र लोकों में भ्रमण करते हैं। जेसे सूर्यमण्डल में जाओ तो वहाँ अग्नि तत्त्व प्रधान है वहाँ पार्थिव भी है, जल भी है, वायु भी है। परन्तु जैसे पृथ्वी में पार्थिव तत्त्व प्रधान है, उसी प्रकार सूर्य में अग्नि प्रधान है। जिस भी लोक में गति करना चाहते हो, उसी प्रकार के परमाणुओं की तुम्हें जानकारी करनी होगी।

प्रश्न यह है कि हम कैसे जानें कि कौन से लोक में कौनसा तत्त्व प्रधान है ? जैसे सूर्य है, उसमें ताप अधिक है। चन्द्रमा में शीतलता है तो उसमें वायु और जल की प्रधानता है। प्रधानता तो जल की मानी जाती है, परन्तु वायु की अन्य तत्त्वों की अपेक्षा पुट अधिक होती है

मंगल है, उसमें शान्त मुद्रा को दृष्टिपात करके उसके लोक में जब यान जाता है तो उसके मार्ग में धूल आती है। उसके मार्ग में पृथ्वी के परमाणु, पृथ्वी के अवशेष आने आरम्भ हो जाते हैं। उससे यह सिद्ध हो जाता है कि वहाँ पार्थिवता अधिक है। इस प्रकार लोकों

की गतियों में वैज्ञानिक जाने का प्रयास करते है। (पच्चीसवाँ पुष्प १-८-७३ ई.)

१३-महाराजा अश्वपति के महामन्त्री ने एक समय कहा कि मैं चित्र के साथ में अपने इस आकार वाले शरीर को अन्तरिक्ष में गमन करना चाहता हूँ, तब यन्त्रों का निर्माण किया गया। विद्यालयों में ब्रह्मचारियों के मध्य जो यज्ञ होता था उसके साथ में यन्त्र का निर्माण किया जाता था। ऐसा यन्त्र निर्माण किया गया जो १-ज्येष्ठा-नक्षत्र, २-स्वाति नक्षत्र, ३-ध्रुव-मण्डल, ४-रेनकेतु मण्डल, ५-शनि-मण्डल, इन पाँचों मण्डलों में एक यन्त्र से रमण कर सकते थे। (अट्ठाईसवाँ पुष्प पृष्ठ-१५)

१४-भारद्वाज परम्परा में 'स्वाकृति भारद्वाज' ने ध्रुव-यन्त्रों का निर्माण किया था। ऋषियों ने करोड़ों वर्षों की अवस्था वाले यन्त्रों का निर्माण करके वायुमण्डल में छोड़ दिया था। (अट्ठारहवाँ पुष्प १३-४-७२ ई.)

१५-ध्रुव ने ''ध्रव-केतु-यन्त्र'' का निर्माण किया था, जो ध्रुवमण्डल में करोड़ों वर्षों तक भ्रमण करता रहा। (उन्नीसवाँ पुष्प २०-३-७२ ई.)

देवर्षि नारद ने ध्रुव को उपदेश

''सबसे प्रथम यह विचारो कि मेरे मन की जो प्रवृत्तियाँ हैं, वे कहाँ जाती हैं, उनका स्वरूप क्या है ? इनको अपने मस्तिष्क में विचारते हुए, भौतिकवाद से पृथ्वी वसुन्धरा की गोद में चले जाओ। जब तुम मन की प्रवृत्तियों के स्वरूप को प्रकृति के स्वरूप में परिणत कर दोगे और जो बाह्य चंचल आभा बन गई है, संकीर्णवाद

आ गया है उसे प्रकृति के व्यापक गर्भ में परिणत कर दो। यह व्यापक गर्भ ही परमाणुवाद है। मन को परमाणुवाद में परिणत कर दो।''

''मन में पंच तन्मात्राएँ होती हैं। पंच तन्मात्राएँ पाँच ही प्रकार के परमाणु होते हैं। उन पाँचों प्रकार का जो विभाजन किया जाता है तो सर्व चौबीस प्रकार के परमाणु होते हैं। एक-एक परमाणु में से निन्यानवे हजार परमाणुओं का निकास होता है। उन परमाणुओं में से इसी प्रकार अरबों-खरबों परमाणु बन जाते हैं।''

''हे ध्रुव ! भौतिकवाद में जाने के लिए इस मन को प्रकृति के गर्भ में परिणत करना होगा। इससे तुम्हारी बुद्धि मेधावी बन जाएगी। मेधावी बुद्धि उसे कहते हैं जहाँ सत्यता होती है। सत्यता के आधार पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो हम उसमें कल्पना तो करते हैं किन्तु उस कल्पना में अभावमात्र होता है। अभाव का अभिप्राय यह कि जैसे एक मानव मुझे दृष्टिपात आ रहा है अर्थात् वह मानव आज है। परन्तु कुछ काल के पश्चात् वह उस रूप में नहीं रहेगा, इसको अभाव कहा जाता है। इसी प्रकार जितना भौतिकवाद है, यह अभाव मात्र माना गया है क्योंकि परमाणुओं से जिन वस्तुओं का निर्माण होता है, सुगठितता होती है, उसमें अभावमात्र होता है। वह अभावमात्र मानव को इतना उज्ज्वल नहीं बनाता, व्यापकता नहीं लाता क्योंकि उसमें अभावमात्र होता है। संकीर्णता होती है। जहाँ संकीर्णता होती है वही मृत्यु होती है। यह मृत्यु मानव के विनाश का कारण बना करती है।'' (पन्द्रहवाँ पुष्प २०-६-६३ ई.)

''यदि तुम ध्रुव मण्डल में जाना चाहते हो तो वायु और अग्नि दोनों के परमाणुओं को एकत्रित करने का प्रयास करो।'' देवर्षि ने यह आभा प्रकट कराई :.

''प्रकृति में पाँच प्रकार के गुण होते हैं.१-ध्रुव (नीचे गति) २-ऊर्ध्व (ऊँची गति), ३-व्यापकता, ४-प्रसारण, ५-आकुञ्चन। अग्नि के परमाणुओं में व्यापकता होती है। व्यापकता और प्रसारण, प्रकृति के इस दोनों गुणों को जानना होगा। उन्हें जानकर आकुञ्चन की पुट लगाते चले जाओ। इस प्रकार तुम यानों के द्वारा ध्रुवमण्डल की यात्रा कर सकते हो।''

देवर्षि नारद जी ने कहा :.

केवल प्रकृति विज्ञान अहंकार को जन्म देता है।

''यह विद्या प्रसारण करने योग्य नहीं क्योंकि इससे मानव में अभिमान आ जाएगा। हे ध्रुव ! तुम प्रकृति के क्षेत्र में अपना आना सौभाग्य समझ रहे हो किन्तु मुझे यह शोभा नहीं देता।''

ध्रुव ने भयंकर वन में ही नाना धातुओं को एकत्रित करना आरम्भ किया। नारद कहीं से स्वर्ण लाते, कहीं से आकुञ्चन शक्ति अकृत् लाते। इस वसुन्धरा के गर्भ से नाना यन्त्रों के द्वारा धातुओं के लिए प्रयास करते। नारद इतने बड़े वैज्ञानिक थे कि वे घ्राण-शक्ति के ज्ञान से इस पृथ्वी के परमाणुओं को लेकर उसकी सुगन्धि से यह जान लेते थे कि इस भूमि में, इस स्थान पर कौन सा तत्त्व अधिक है, किस प्रकार का खनिज कहाँ प्राप्त होगा?

'ध्रुव-प्रति' नाम का एक वज्र होता है, इसमें यह विशेषता होती

है कि यदि अग्नि में तपाकर उसका कण-कण कर दिया जाए तो अग्नि में उसकी पुष्टि होने होने वाली नहीं क्योंकि वह अग्नि में परमाणु होने वाला वज्र ही कहलाया गया है। उसमें स्वाधित प्रधान तथा सुरिलिति नाम की एक औषधि होती है, उनका मिलान किया जाता है, मिलान करने से उसका एक-एक कण विभाजित हो जाता है। परमाणु-परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाता है। जब कण-कण हो जाता है तो उसमें आकुञ्चन नाम का पुट प्रभावित होता है तो उसका और भी विभाजन हो जाता है, परमाणु रूप हो जाता है। इसी प्रकार यन्त्र के द्वारा उन परमाणुओं को दृष्टिपात किया जाता है।

वे जो यन्त्र होते हैं उसके द्वारा उन परमाणुओं में आकुञ्चन, प्रसारण जिसमें प्रसारण शक्ति होती है अर्थात् वायु में प्रसारण शक्ति होती है, वायु के परमाणुओं को लेकर जब उसकी पुट लगाते हैं तो उन परमाणुओं का पुनः से स्थूल रूप बन जाता है, स्थूल रूप बन करके, उसी का व्यापक रूप बन करके उसमें एक महत्ता की प्रतिष्ठा हो जाती है। इस प्रकार नाना प्रकार की धातुओं को लाकर नारद ने 'ध्रुवेष्टि-यन्त्र का निर्माण किया। (१) इस यन्त्र से महात्मा ध्रुव ध्रुवमण्डल की यात्रा करने चले गए। (पन्द्रहवाँ पुष्प २०-६-६३ ई.)

(२) महाराजा अर्जुन मंगल की यात्रा करके वहाँ से वैज्ञानिक बनकर आए थे। (३) महाराजा भीमसेन का पुत्र घटोत्कच चन्द्रमा और शुक्र की यात्रा किया करता था। (४) भगवान श्रीकृष्ण जी महाराज और घृति लोकों की यात्रा करते थे। (सत्रहवाँ पुष्प ९-६-७१ ई.)

अन्य लोकों में विस्फोट

जिस लोक का वैज्ञानिक जितना भी अन्वेषण करता है, जितना भी वह परीक्षण करता है, उतना ही वहाँ का विज्ञान विकसित होता है।

सूर्य में विस्फोट

सूर्य-मण्डल पर विस्फोट होनें से अशुद्ध प्रतिक्रिया उसमें आ गई हैं, उससे मानव को भयभीत नहीं होना चाहिए क्योंकि उनका प्रभाव अशुद्ध नहीं होता। वह यहाँ तक प्रायः नहीं आता। वहाँ का तो राष्ट्र है, मानव समाज है, उस पर किसी प्रकार का प्रभाव हो सकता है क्योंकि वे जो किरणें हैं, रश्मियाँ हैं, वे अग्नि के द्वारा प्रचण्ड हुई आती हैं। वायु की धाराओं में रमण करती हुई अग्नि की रश्मियाँ सूर्य को प्रकाशित करती रहती हैं, उनमें अग्नि की प्रधानता होती है।

कुछ ऐसे लोक हैं जिनमें वायु और जल दोनों की प्रधानता होती है। वहाँ उन किरणों के दूषितपन का सन्देह रहता है। परन्तु जहाँ पार्थिव तत्त्व होता है। उन लोकों में उसका कोई विशेष प्रभाव कदापि नहीं हुआ करता। (चौबीसवाँ पुष्प १७-८-७२ ई.)

सूर्यमण्डल में इस प्रकार के गदेले (ज्वालामुखी का विस्फोट) आ गए हैं, जो इस समाज में और राष्ट्र में पृथ्वी मण्डल को दूषित बना सकते हैं। आज के वैज्ञानिकों ने इस पर अच्छी प्रकार अनुसन्धान नहीं किया। उसकी दूषित छाया बुध और शनि पर जा चुकी है। इस पृथ्वी-मण्डल पर प्रभाव हो सकता है परन्तु सूक्ष्म होगा। (चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

बृहस्पति पर विस्फोट

एक समय बृहस्पति-मण्डल के प्राणियों ने अपने मण्डल पर परीक्षण किया। वह जो परीक्षण था वह इस प्रकार का था कि बृहस्पति में उस विस्फोट से ऐसे तूफान आ गए कि उसकी जो छाया थी वह सूर्यमण्डल पर पड़ी। उस छाया से सूर्यमण्डल की आभा दूषित हो गई। ऐसा ऋषियों ने प्रकट किया। उनके साहित्य से ऐसा प्राप्त होता रहा है कि सूर्यमण्डल का जो प्राणी था उस समय एक चौथाई रह गया। तीन भाग समाप्त हो गया। इस प्रकार की छाया उस काल में आई।

वही छाया शनि-मण्डल में आई तो शनि-मण्डल का प्राणी भी इतना समाप्त हो गया। अनन्तर उसकी छाया बुध पर आई। बुध से त्रिकोण हो करके जब उसकी रश्मियाँ पृथ्वी पर आईं तो पृथ्वी-मण्डल का प्राणी भी मरने लगा।

तब विचार कर इसका प्रयास किया कि इस दूषित वायुमण्डल को किस प्रकार हम शोधन कर सकते हैं ? हमारे ऋषि-मुनि पुरातन काल में उसका शोधन जानते थे। वह शोधन प्रायः और भी लोक-लोकान्तरों में है। ऋषियों ने घृत के द्वारा याग करके द्युलोक को भर दिया।

याग करने के पश्चात् उन्होंने 'वृष्टि-यज्ञ' किया, परमाणु-यज्ञ किया, तत्पश्चात् उसी प्रकार के मन्त्र, जो ऋग्वेद में प्रायः प्राप्त होते रहते हैं, उन मन्त्रों का पठन-पठन करने से ही वह दूषित वातावरण समाप्त हो गया। (चौबीसवाँ पुष्प १७-८-७२ ई.)

आधुनिक-विज्ञान पश्चिम देशों में भारत से ही गया

वेदों के कणों (अक्षरों) में तथा शब्दों में ही संसार का ज्ञान-विज्ञान ओत-प्रोत रहता है। यह विज्ञान इस भारद्वाज की भूमि से ही दूसरे राष्ट्रों में गया है। आज से लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व एक मानव दूसरे राष्ट्र से यहाँ आए थे। उसको हिमालय की कन्दराओं से एक पुस्तक प्राप्त हुई थी। जिसमें मीमाँसा दर्शन का आधा भाग महाराजा भीमसेन के और घटोत्कच के विज्ञान का कुछ भाग था।

इसमें सूर्य-विज्ञान और परमाणुवाद का वर्णन था। वह मानव उस पोथी को ले गया। उससे वहाँ विज्ञान का विकास हुआ। इससे पूर्व उन देशों में पृथ्वी को कोई किसी रूप में स्वीकार कर रहा था, कोई किसी रूप में, किन्तु उस व्यक्ति ने (पश्चिम के देशों में) सर्वप्रथम घोषणा की थी कि पृथ्वी गोलाकार है। इस वैज्ञानिक को ईसा के अनुयायियों ने नष्ट कर दिया।

इसी प्रकार (संकटमय संघर्षों में) विज्ञान पनपता रहा। अन्त में ईसा के अनुयायियों के सामने यह विज्ञान इस प्रकार आ गया कि उन्हें इसे स्वीकार करना ही पड़ा। (सोलहवाँ पुष्प १६-१०-७१ ई.)

७ सप्तम अध्याय-लोक-लोकान्तरों का परिचय

परमपिता परमात्मा ने प्रकृति में विशाल ब्रह्माण्ड को बनाया। इसमें १-पृथ्वी-मण्डल, २-बुध-मण्डल, ३-मंगल-मण्डल,४-अनेक-चणाणि आदि लोक, ५-बृहस्पति-लोक, ६-अचंग-लोक, ७-मचंग-लोक, ८-भू-लोक, ९-भुवः लोक और स्वः आदि लोक हैं।।। (प्रथम पुष्प दिनांक १-४-६२ ई.)

महर्षि भृगु के आश्रम में माता गार्गी ने महर्षि रेवक मुनि से कहा था कि प्रभु की सृष्टि अनन्त है। वह इस प्रकार नहीं जानी जाएगी कि हम उड़ान करके चन्द्रमा पर चले जाएँ ँ १-मंगल, २-सूर्य, ३-बृहस्पति, ४-अरुणा-मण्डल, ५-सप्तर्षि-मण्डल, ६-भाणा-मण्डल, ७-बृहते-मण्डल, ८-अश्विनी-मण्डल, ९-दिवचित-मण्डल, १०-देवकान ऋषि-मण्डल, ११-अमरेति-मण्डल, १२-माधुर्य-मण्डल, १३-धवेतु मण्डल, १४-हिरण्य-मण्डल और नाना मण्डलों में उड़ान कर सकते हैं किन्तु उल्लिखित स्थान पर जाकर मानव थकित हो जाता है।

एक गम्भीर प्रश्न यह है कि क्या भौतिकवाद से इस विज्ञान को प्राप्त करना सम्भव है?

इसका उत्तर यह है कि भौतिकवाद में सबसे सूक्ष्म वायु माना जाता है। किन्तु मानव शरीर में इससे सूक्ष्म-शक्ति परमात्मा ने उत्पन्न की है, वह मन है। इससे प्रभु के विज्ञान को शीघ्रता से प्राप्त कर सकते हैं। (आठवाँ पुष्प अप्रैल-१९६५ ई.)

एक समय देवर्षि नारद मुनि मध्यरात्रि में महर्षि अत्रि मुनि

महाराज के द्वार पर विराजमान हुए। उस समय अत्रि मुनि महाराज और माता अनुसूया में संवाद चल रहा था। माता अनुसूया का प्रश्न और अत्रि मुनि का उत्तर चल रहा था।

प्रश्न : महाराज ! यह ध्रुव-मण्डल क्या है ?

उत्तर.ध्रुव-मण्डल एक लोक है, सप्तर्षि-मण्डल उसकी परिक्रमा करते हैं। एक रात्रि में उसकी परिक्रमा हो जाती है। एक दिन, एक रात्रि में कोई भी मण्डल दो परिक्रमा करते हैं, वे सप्तर्षि-मण्डल कहलाते हैं।

याज्ञिक होता कितने हों

प्रश्न : महाराज ! सप्तर्षि मण्डल क्या है ?

उत्तर.यज्ञशाला में जैसे सप्त होते हैं, यज्ञ का परम्परा से यह विधान है कि यज्ञ में चौबीस होता होने चाहिए, अथवा सत्रह, अथवा नौ, अथवा सात होने चाहिए। यह तो सप्तर्षि मण्डल है इसके साथ में अरुन्धति-मण्डल, वशिष्ठ-मण्डल कहलाते हैं। वशिष्ठ-मण्डल के ऊर्ध्व भाग में ज्येष्ठाय (ज्येष्ठा) और पुष्य नक्षत्र कहलाए गए हैं। ग्यारह होताओं का अभिप्राय यह है कि ये ग्यारह मण्डल हैं जो अपने-अपने स्थान पर परिक्रमा करते हैं। ये ध्रुव-मण्डल की परिक्रमा कर लेते हैं। ध्रुव-मण्डल लगभग तीस दिवस में पुष्य-नक्षत्र और ज्येष्ठाय नक्षत्र के मध्य में एक परिक्रमा करता है।

सप्तर्षि, ग्यारह जो होता है वे ध्रुव-मण्डल की एक दिवस और एक रात्रि में दो परिक्रमा कर लेते हैं। इनका परिणाम यह है कि जब इनकी आकर्षण-शक्ति का सूर्य से मिलान होता है तो बृहस्पति

के ऊर्ध्व भाग में आरुणी मण्डल है। सूर्य-मण्डल इन बृहस्पति और आरुणी-मण्डल के मध्य में से हो करके लगभग पन्द्रह माह में रमण करता है। यह पन्द्रह माह में इनकी परिक्रमा होती है।

परिक्रमा का अभिप्राय यह है कि ये लोक-लोकान्तर एक-दूसरे की आकर्षण-शक्ति से ही स्थिर हैं और अपने-अपने आँगन में रमण करते रहते हैं। (पच्चीसवाँ पुष्प पृष्ठ-४९)

इस सृष्टि में नाना प्रकार के मण्डल कहे जाते हैं किन्तु सर्व-ब्रह्माण्ड को केवल तीन ही मण्डलों में विभक्त किया जाता है। १-ध्रुव-मण्डल, २-बृहस्पति मण्डल और हमारा ३-सूर्य-मण्डल। सूर्य मण्डल में लाखों की संख्या में लोक-लोकान्तर रमण करते हैं। ध्रुव-मण्डल में करोड़ों लोकों का समूह सम्बन्धित रहता है। (सातवाँ पुष्प २७-६-७३ ई.)

१-सूर्यमण्डल, २-ध्रुव, ३-बृहस्पति, ४-आरुणी, ५-ज्येष्ठा, ६-रोहणी, ७-सप्तर्षि, ८-अरुन्धति, ९-आभूषणकेतु-मण्डल, १०-भौमकेतु-मण्डल, ११-विश्वानिकेतु-मण्डल, १२-अनुगातकेतु-मण्डल, १३-आभूणाति-मण्डल, १४-वशिष्ठ-मण्डल, १५-करोतुक-मण्डल आदि मुख्य हैं।

इनसे अतिरिक्त १६-भूः, १७-भुवः, १८स्वः, १९महः, २०-जनः, २१-तपः, २२-सत्यम्, २३-अगस्त, २४-अचंग, २५-मचंग आदि हैं। (तीसरा पुष्प १२-३-६२ ई.)

तीन प्रकार के सौरमण्डल माने गए हैं। १-एक सौरमण्डल का अधिपति सूर्य कहलाया गया है। २-दूसरे का बृहस्पति तथा ३-तीसरे

का ध्रुव कहलाया गया है।

उनमें ऐसे-ऐसे असंख्य मण्डल रहते हैं। एक-एक सौरमण्डल में अरबों-खरबों लोक-लोकान्तर होते हैं। प्रत्येक सौरमण्डल के आधार पर एक आकाश-गंगा होती है, जिस आकाश-गंगा के विषय में हमारे भौतिक वैज्ञानिकों ने यहीं तक जाना है कि आकाश-गंगा में एक ◌ील और अरबों-खरबों के लगभग लोक-लोकान्तर कहलाए गए हैं। उनकी गणना नहीं की जा सकती। (बाईसवाँ पुष्प २८-३-७४ ई.)

हमारे ऋषि-मुनियों ने अपने योगाभ्यास से समाधि में विराजमान हो करके करोड़ों आकाश-गंगाएँ निर्णीत की हैं जिनमें एक-एक आकाशगंगा में बहत्तर करोड़ से अधिक सूर्य ही सूर्य हैं। (चौबीसवाँ पुष्प पृष्ठ-६१ व ४१)

उत्तम ने अपने विधाता (भ्राता) आचार्य ध्रुव से पूछा कि इस आकाश-गंगा का स्वरूप कैसा है ?

ध्रुव ने उत्तर दिया कि आकाश-गंगा में एक अरब, दो करोड़, नौ लाख, दो सौ बीस मण्डल (१,०२,०९,००,२२०) माने जाते हैं। इस सृष्टि में इस प्रकार की आकाश-गंगाएं अनन्त हैं। परन्तु मानव तो भौतिकता से इस पर अनुसन्धान करता है। (आठवाँ पुष्प अप्रैल-१९६५ ई.)

पंच महाभूत तथा उनकी प्रधानता

संसार में पाँच तत्त्व हैं। प्रभु के राष्ट्र में जितने लोक-लोकान्तर हैं, जितने भी मण्डल हैं उनमें कोई न कोई तत्त्व प्रधान होता है जैसे-पृथ्वी-मण्डल पर पार्थिव-तत्त्व प्रधान होता है, ऐसे ही चन्द्रमा में

वायु और जल प्रधान हैं, ध्रुव में वायु प्रधान है तथा बृहस्पति में जल प्रधान है। पाँचों तत्त्वों की प्रधानता के द्वारा ही सर्व-विश्व की रचना हुई है जिसमें असंख्य लोक-लोकान्तर हैं। (बाईसवाँ पुष्प २८-३-७४ ई.)

हमारे यहाँ सूर्य अग्नि-लोक कहा जाता है, बृहस्पति वायु-लोक कहलाता है, ध्रुव वायु और जल मिश्रण का लोक है, पृथ्वी रज तथा पार्थिव प्रधान है, चन्द्रमा शीतलता प्रधान है, आरुणी-मण्डल वायु प्रधान है, सप्तर्षि-मण्डल में अग्नि और शीतलता दोनों मिलकर प्रधान हैं। (पाँचवाँ पुष्प २१-१०-६४ ई.)

हमारे यहाँ पार्थिव तत्त्वों में पार्थिवता प्रधान होती है। इसमें तमोगुण और रजोगुण की मात्रा अधिक होती है। चन्द्र-मण्डल में भी तमोगुण, रजोगुण की मात्रा अधिक होती है।

मंगल-मण्डल में सतोगुण की प्रधानता होती है। सतोगुण पार्थिवता में भी होता है। जिस मण्डल में जो तत्त्व प्रधान होता है, उसकी योनियाँ, वैसी ही पुस्तकें वहाँ प्राप्त होती हैं। प्रत्येक लोक-लोकान्तर में पार्थिवता, अग्नि आदि पंच महाभूत होते हैं किन्तु एक किसी तत्त्व की प्रधानता होती है। जिसकी प्रधानता होती है, वहाँ उसी प्रकार की (वाक्य) वाणी, उसी प्रकार के पात्र बन करके, उसी प्रकार की उनकी रूपरेखा हो जाती है। उन्हीं तत्त्वों के कारणों से वे उन्हीं में कटिबद्ध रहते हैं, उन्हीं की सीमा में रहते हैं। परमात्मा के नियम से सभी की प्रक्रिया चलती है। (नौंवाँ पुष्प २६-७-६७ ई.)

लोक-लोकान्तरों के निवासी

विभिन्न लोक-लोकान्तरों में सबमें जीवन है। मंगल में पार्थिवतत्त्व प्रधान है तथा सहानुभूति लोकों में भी पृथ्वी-तत्त्व ही प्रधान माना जाता है। (तेरहवाँ पुष्प २२-८-६९ ई.)

वेद-ध्वनि सर्वलोकों में है

प्रश्न : क्या यह वेद-ध्वनि लोक-लोकान्तरों में भी है ?

उत्तर.रेवक मुनि के निर्णय के अनुसार सूर्यमण्डल में अग्नि शरीर वाले प्राणी रहते हैं और वहां वेद रूपी प्रकाश भी है। वास्तव में लोक-लोकान्तरों में जहाँ जो तत्त्व होता है वहाँ उसी तत्त्व की प्रधानता के शरीर होते हैं। जहाँ शरीर होते हैं वहाँ ज्ञान और प्रयत्न भी होते हैं। जहाँ ज्ञान होता है वहाँ वेद होता है। जहाँ प्रयत्न होता है वहाँ कर्त्तव्य की एक महान् क्रन्ति होती है।

जिन तत्त्वों को हम पार्थिव चक्षुओं से नहीं देख सकते उनसे निर्मित शरीर भी नहीं देखे जा सकते। इसको तभी देखा जा सकता है जब हमारे सूक्ष्म से सूक्ष्म चक्षु बन जाए, यौगिक चक्षु बन जाने पर हम इसका अनुभव कर सकते हैं कि ये शरीर किस प्रकार के हैं ?

वेद परमात्मा की देन है। ब्रह्म परमपिता परमात्मा है जो सब लोकों का स्वामी है। जिस लोक में, जिस तत्त्व की प्रधानता के शरीर होते हैं उन्हीं से वहां के ऋषियों के शरीरों का निर्माण होता है जिनके द्वारा वेदों का प्रकाश तथा प्रसारण उसी रूप में हो जाता है। (आठवाँ पुष्प अप्रैल- १९६५ ई.)

यज्ञों का विधान

जिस प्रकार पृथ्वी मण्डल पर यज्ञ होते हैं उसी प्रकार यज्ञज्सूर्य-मण्डल, चन्द्र-मण्डल, बुध, मंगल आदि लोक-लोकान्तरों में भी बुद्धिमानों की वेद की आभा के द्वारा होते रहते हैं क्योंकि वेद नाम प्रकाश का है। जिसज्प्रकार का प्राणी होता है उसी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान वेदों में निहित रहता है।

जैसे सूर्यमण्डल में अग्नि प्रधान होने के कारण उसी प्रकार की समिधा, आग्नेय प्राणी आग्नेय-यज्ञ (का) विचार आता है। वह जातवेद नाम की अग्नि होती है जिसमें वह समिधा भस्म होती है।

जातवेद नाम अग्नि वह होती है जिसका निर्माण 'जा' और 'त' मिलाकर होता है, अर्थात् जा़त।

वहाँ पर यज्ञशाला भी आग्नेय हे, उसमें भस्म होने वाली समिधा रूपी विचार भी आग्नेय है और उसी प्रकार का प्राणी लेखनीबद्ध करके स्वाहा कहता है।

जातवेद नाम की अग्नि वह होती है जो विचारी जाती है तथा जिसे विचारों से प्रदीप्त किया जाता है।

जब विद्वानों का ब्रह्म-यज्ञ होता है, तो वहाँ मृत्यु के ऊपर विचार-विनिमय होता है तथा कहीं द्यु-लोक के सम्बन्ध में विचार-विनिमय होता है।

मंगल मण्डल में पार्थिव तत्त्व प्रधान होने से इसी प्रकार की समिधा तथा सामग्री होती है। वहाँ पर इसी प्रकार की भौतिक अग्नि में यज्ञ किया जाता है। (सत्रहवाँ पुष्प २५-२-७२ ई.)

सूर्यमण्डल में एक वृक्ष होता है जो 'आग्नेय वृक्ष' है; इसे

'श्वेताम्बरी-आभाकृती वृक्ष' कहते हैं। पुण्य आत्माएँ उसकी समिधा से यज्ञ करते हैं। उसकी समिधाओं को विचार के साथ जातवेद नाम की अग्नि में स्वाहा दिया जाता है।

चन्द्र-मण्डल में 'आस्वादि' तथा 'श्वेतकेतु' नाम के वृक्ष होते हैं, जिनके द्वारा चन्द्र-मण्डल के प्राणी यज्ञ करते हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ पर सभी 'स्वाभि', चन्द्र-किनान', 'आधुनिप्राण-गृह' आदि नाना प्रकार के वृक्ष हैं उनके द्वारा यज्ञ किया जाता है। एक वृक्ष ऐसा है तो सूर्यमण्डल के अतिरिक्त सभी लोकों में प्राप्त होता है, इसको हमारे यहाँ 'चन्द्र-विहीन-केतु' नाम का वृक्ष कहते हैं। इस लोक में 'चन्दन' कहते हैं।

चन्दन की जो समिधा होती है वह बहुत सुगन्धदायक होती है। सूर्य-लोक के अतिरिक्त, इसकी प्रत्येक लोक में विद्यमानता की पुष्टि (प्राचीन) वैज्ञानिकों तथा अध्यात्मवेत्ताओं ने की है। (सत्रहवाँ पुष्प २५-२-७२ ई.)

अखण्ड-ज्योति सूर्यादि मण्डलों में भी जागरूक रहती है। सूर्य कदापि अस्त नहीं होता क्योंकि वह ज्योति सदैव जागरूक रहती है। पृथ्वी अपने चक्र में घूमती रहती है तथा दिवस रात्रि बनते रहते हैं। सूर्य की अखण्ड ज्योति है उसका कभी विनाश नहीं होता। (अठारहवाँ पुष्प पृष्ठ-८३)

विज्ञान की प्रगति

आज जो प्रकृति के विज्ञान का प्रवाह है वह केवल पृथ्वी-मण्डल में ही नहीं, प्रत्येक लोक-लोकान्तर में, जहाँ प्राणी रहते हैं, हो रहा

है। क्योंकि यह विज्ञान का युग है। (सोलहवाँ पुष्प ४-८-७१ ई.)

चन्द्र-मण्डल का विज्ञान पृथ्वी के विज्ञान से लगभग दो सौ वर्ष आगे है मंगल-मण्डल का विज्ञान लगभग पचास वर्ष आगे है। (पन्द्रहवाँ पुष्प २३-५-७१ ई.)

सूर्य-मण्डल का जो विज्ञान है वह पृथ्वी-मण्डल के विज्ञान से एक सहस्र वर्ष आगे है। बृहस्पति का विज्ञान सूर्य-मण्डल के विज्ञान से एक सौ वर्ष आगे है। ध्रुव-मण्डल का विज्ञान बृहस्पति के विज्ञान से एक सहस्र वर्ष आगे है। (चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

पृथ्वी

महाराजा रावण के पुत्र अक्षय कुमार के अनुसार इस पृथ्वी-मण्डल के अमरेति भागों में मंगल है, दक्षिण भाग में बुध है, पूर्व में चन्द्रमा है और दक्षिण में शुक्र है। इसी प्रकार ऊपर के अनुपात में सूर्य-मण्डल के जितने और मण्डल हैं परिगणना मानी जाती है। (आठवाँ पुष्प अप्रैल- १९६५ ई.)

पृथ्वी अपने चक्र में घूमती है, दिवस-रात्रि बनते रहते हैं। (अठारहवाँ पुष्प पृष्ठ-८३)

पृथ्वी रज-प्रधान, पार्थिव-प्रधान है। (पाँचवाँ पुष्प २१-१०-६४ ई.)

सूर्य-लोक या विष्णु-लोक

परमात्मा की सृष्टि में अनन्त सूर्य है, यह वेद का प्रमाण है। (दूसरा पुष्प २७-९-६४ ई.)

इस सृष्टि को बने इतना समय हो गया है किन्तु आज तक अनन्त सूर्यों का प्रकाश इस पृथ्वी तक नहीं पहुँच सका है। (तीसरा

पुष्प १६-७-६३ ई.)

विष्णु लोक उसको कहते हैं जहाँ विष्णु का राज्य है। उसे सूर्य-मण्डल भी कहते हैं। वहाँ अग्नि के परमाणुओं से निर्मित शरीरों में आग्नेय-आत्मा रहते हैं जो दार्शनिकता से विचार करते हैं। वहाँ क्लिष्ट आत्मा नहीं रहते। वहाँ नाना प्रकार की श्रेष्ठ योजनाएँ बना करती हैं। वहाँ पवित्र तथा तपस्वी आत्माओं का आवास है। (प्रथम पुष्प ६-४-६२ ई.)

रश्मियाँ

हमारे यहाँ दो प्रकार के विचार हैं। १-एक तो यह है कि वे जो सूर्य की रश्मियाँ हैं, वे ज्येष्ठा-नक्षत्र से होती हुई पृथ्वी-मण्डल पर आतीं हैं।

२-कुछ वैज्ञानिक यह कहते हैं कि ज्येष्ठा-नक्षत्र की रश्मियाँ तो बहुत ही बलवती हैं परन्तु केवल बृहस्पति के आंगन में होकर पृथ्वी-मण्डल पर आती हैं। वहाँ का वैज्ञानिक अन्वेषण कर रहा है। वैज्ञानिक यन्त्रें का निर्माण करके उनका अन्वेष्ण, उनकी कृति क्रियात्मक में लाना चाहता है कि कितना शक्तिशाली यह यन्त्र है ? (चौबीसवाँ पुष्प १८-८-७२ ई.)

चन्द्रलोक के प्राणी

मामनिक ऋषि को होलिका ने कहा था, ''मैं चन्द्र-मण्डल की यात्र सदैव करती रहती हूँ।'' उसने बताया कि चन्द्रमा पर मानव रहते हैं तथा अन्य प्राणी भी रहते हैं किन्तु वहाँ का प्राणी वायु की प्रधानता वाला है। वायु की वास्तविक परिभाषा यह है कि न ऊष्ण

है, न शीतल है। इसका जो स्वरूप है वह गति करना है। जहाँ भी गति भ्रमण करती है वही प्राणी में वायु की प्रधानता मानी जाती है।

यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न हो सकता है कि जहाँ पार्थिव तत्त्व के प्राणी होते हैं वहाँ भी गति होती है। परन्तु जहाँ गति तीव्र होती है वहीं वायु की प्रधानता होती है। जहाँ तीव्रता नहीं होती वहाँ मध्यमवाद और ऊष्णवाद होता है, वहाँ पृथ्वी के परमाणु अधिक होते हैं।

पृथ्वी के परमाणु का यह स्वभाव होता है कि वे अग्नि के परमाणुओं को अपने में आकर्षण-शक्ति के द्वारा ग्रहण कर लेते हैं। फिर उसी की प्रतिभा को वायु ग्रहण करती रहती है। ऊष्ण और शीतल बनती रहती है। उसी से अन्न की प्रतिभा का जन्म होता है। अन्न और वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि परमाणुवाद को ग्रहण करने वाली वायु न हो तो हम प्रभु को स्वीकार ही क्यों करें ?

चन्द्र-मण्डल में वायु प्रधान होने के कारण जलाशय भी प्रबल होते हैं। अन्तरिक्ष में भी जलाशय भरा हुआ है। पृथ्वी-मण्डल पर ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणें जल के परमाणुओं का सूक्ष्म रूप बनाकर अन्तरिक में ओत-प्रोत कर देती हैं। जब सूर्य की किरणें टेढ़ी होकर रश्मि हो जाती हैं तो समुद्रों के जल का उत्थान आरम्भ हो जाता है। जल के परमाणुओं और पृथ्वी के परमाणुओं में अग्नि के परमाणुओं का मिलान होकर वृष्टि हुआ करती है।

चन्द्रमा के वायुमण्डल तथा (वहाँ की) वाणी को यहाँ का प्राणी स्वीकार (ग्रहण) नहीं कर पाता क्योंकि वहाँ 'कृतिमा-माधुक' नाम की वाणी प्रचलित है। 'सुहांगगिनी-अव्युत्तम' जिसको हम प्राकृतिक कहते

हैं तथा जो वेदों की प्रतिभा में रमण करने वाली है, उसी के आधार पर वे अपनी वाणी का प्रसार करते हैं क्योंकि ऋग् और साम दोनों का मिलान सर्वत्र रहता है।

ऋग् और साम उसी को कहा जाता है जहाँ एक-दूसरे का मिलान होता हो। जैसे पृथ्वी को ऋग् तथा वायु को साम कहा जाता है। दोनों का मिलान होने से साम-गान होता है।

मानव के तालू और जीभ के मिलान होने से ही मुख से शब्द निकलता है। जिस प्रकार पृथ्वी-मंडल पर पृथ्वी और वायु को क्रमशः ऋग् और साम माना गया है, इसी प्रकार चन्द्र मण्डल में वायु को ऋग् तथा जल को साम की उपाधि प्रदान की जाती है। उस समय वहाँ गान गाया जाता है। गान कहते हैं जहाँ दोनों का मिलान होता हो, वहाँ शब्द की रचना होती है, वही मिलान होता है, वहीं नाना प्रकार की उत्पत्ति का कारण बना करता है।

जब तक मानव चन्द्र-मंडल के परमाणुवाद के विज्ञान को नहीं जानेगा, जब तक इस पृथ्वी-मण्डल के प्राणी के लिए वहाँ जीवित रहना असम्भव है। (चौदहवाँ पुष्प २२-३-७० ई.)

चन्द्रमा पर मंगलमय राष्ट्रों का निर्माण है किन्तु यहाँ के मानव के शरीर में वायु और जल की प्रधानता है। चन्द्रमा पर (इस पृथ्वी-मण्डल के) मानव का जीवन इसलिए सुरक्षित नहीं रहता क्योंकि चन्द्रमा के वायुमण्डल में पृथ्वी के परमाणु अधिक रमण नहीं करते। (पन्द्रहवाँ पुष्प २७-८-७१ ई.)

चन्द्रमा में एक वैज्ञानिक है, उसने समुद्र के ऐसे खनिज को

जान लिया है जिसे एक दिवस पान करने से चार दिवस तक क्षुधा प्राप्त नहीं होती। (उन्नीसवाँ पुष्प, २८-१०-७२ ई.)

पृथ्वी के वैज्ञानिकों का चन्द्रलोक में पहुँचना

(पृथ्वी-मण्डल के) मानव की चन्द्रमा पर पहुँचने की बात कोई नवीन नहीं है। वैज्ञानिकों का वहाँ गमन होता रहा है। वे वहाँ रमण करते हुये शयन-प्रक्रियाएं भी धारण कर लेते हैं। वहाँ पर यन्त्र स्थापित करके वैधशाला भी निर्माण कर लेते हैं, वैधशाला वहाँ पर रहने वाले प्राणी के उपयुक्त बनाने पर ही लाभकारी हो सकती है। चन्द्रमा पर जाकर यदि पार्थिव-प्राणियों को दृष्टिपात करके उनमें गमन करने लगें तो उसी समय वहाँ पर बनाई वैधशाला उनके लिये उपयोगी हो सकती है। (सोलहवाँ पुष्प, ४-८-७१ ई.)

आज के मानव की उड़ान महान् है। वह चन्द्रमा पर शयन करने लगा है, किन्तु यह कोई आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि यह परम्परा सदा से रही है। आज का वैज्ञानिक चन्द्रमा पर पहुँचकर उस धातु की खोज कर रहा है, जिसको लाकर और भी यन्त्रें का निर्माण किया जाये। वह मंगल की यात्र करना चाहता है तथा शुक्र पर भी यन्त्रें को भेज रहा है।

मानव चन्द्रमा के पर्वतों पर विश्राम कर रहा है। उसका यन्त्र (चन्द्रमा की) कक्षा में भ्रमण कर रहा है। इधर चन्द्रमा के ऊपरले भाग में महाराजा भीमसेन और घटोत्कच के यन्त्र रमण कर रहे हैं। उनका "ऋषि-कान्त-केतु यन्त्र" सूर्य मण्डल के कक्ष से ऊँचा भ्रमण कर रहा है।

आज का वैज्ञानिक चन्द्रमा पर मानव समाज को बसाना चाहता है। वह यन्त्रें के द्वारा ऐसा कर भी सकता है। चन्द्रमा में पर्वत हैं तथा प्राणी भी इस प्रकार के हैं, जो (पर्थिव) यन्त्रें से दृष्टिपात नहीं किये जा सकते।

यह तो सार्वभौम सिद्धाँत है कि जहाँ पर्वत और जल होता है वहाँ प्राणी अवश्य होता है किन्तु ये वैज्ञानिक उनको देख पायेंगे या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

मानव जब चन्द्रमा पर आगे जायेगा तो उसे जलाशय भी मिलेंगे तथा अन्य भी सौन्दर्य उन्हें प्राप्त होगा।

जो तीन वैज्ञानिकों की मृत्यु हो गई है वह भी प्रायः ऐसे विज्ञान में हो ही जाती है क्योंकि जब मानव अपने जीवन की धारा को त्यागकर, दूसरे लोक में जाता है तो उसका जीवन तो सुरक्षित रहता ही नहीं। वह तो श्रद्धा के आश्रित होकर अपने जीवन की प्रक्रिया को त्याग कर अन्य कक्षा में जाता है और प्रकृति के सौन्दर्य को दृष्टिपात करता है। (सोलहवाँ पुष्प, ४-८-७१ ई.)

पृथ्वी का वैज्ञानिक अभी तक चन्द्रमा के उत्तरी भाग में 'क्रोथ-कुत-लेख' नाम की रेखा के कुछ पार पहुँचा है। आगे चलकर उसे जीवन प्राप्त होगा। वहाँ जलाशय भी हैं और गृह भी हैं। परन्तु चन्द्र-मण्डल में पृथ्वी के समान जीवन स्वीकार नहीं किया जाता। पृथ्वी में पार्थिव तथा वायु-तत्त्वों की प्रधानता है परन्तु चन्द्र-मण्डल में जलतत्त्व और वायुतत्त्व प्रधानता में पाये जाते हैं। वहाँ के निवासियों को वेद तथा धर्मशास्त्रें में पिशाच-योनि कहते हैं। उनका शरीर मानव के शरीर

के समान नहीं है। अतः पृथ्वी मण्डल के मानव को उनका दृष्टिपात आना सम्भव प्रायः नहीं है।

परन्तु पृथ्वी-मंडल के (योग-सिद्ध) मानव को उनका दृष्टिपात आना सम्भव है। चन्द्रमा पर जीवन स्वीकार करने पर ही उसे लोक या गृह कह सकते हैं क्योंकि गृह की मीमांसा ही यह है कि जहाँ प्राणी भ्रमण कर सकता हो, गृह बना सकता है।

मानव को चन्द्रमा में जीवन उसी समय प्राप्त हो सकता है जब वह उसी प्रकार की वाणी बोलेगा जैसी वहाँ है। चन्द्र-वासियों का धर्म मानव धर्म है। जैसे हम ने पृथ्वी पर मानवता को प्रतीति किया करते है, उसी प्रकार वहाँ भी प्रतीति किया करते हैं।

पृथ्वी का प्राणी चन्द्र-मण्डल पर छः माह से अधिक नहीं चल सकेगा क्योंकि वहाँ पर वायु की प्रधानता होने के कारण वह उसे शुष्क कर देगी। जल की प्रधानता होने के नाते अधिक 'तत्त्व का अग्रात' और 'तत्त्ववादी अप्रह' समाप्त हो जाते हैं।

पृथ्वी का मानव चन्द्र-मण्डल में तभी रह सकेगा जब वह पृथ्वी की कृतीति अर्थातृ तरंगों को एकत्रित करके वहाँ ले जायेंगे, मानव वहाँ भ्रमण तो कर सकेगा किन्तु यह असम्भव है कि वह वहाँ कृषि करे, गृह बनाकर रहे और कार्यालय हों।

चन्द्र-मण्डल के निवासियों का आहार वह अन्न है जो वायु और जल की प्रधानता से उत्पन्न होता है, वही उसके अनुकूल है। चन्द्रमा पर भ्रमण करने में अभी समय लगेगा क्योंकि नाना प्रकार की बाधायें, नाना प्रकार की गृह स्थितियां, नाना प्रकार के पर्वतों के

ऊँचे-ऊँचे अकृति इतने समीप आयेंगे, उन पर पार पाना मानव के लिये कठिन कार्य अवश्य होगा किन्तु वह सफल अवश्य हो जायेगा।

निष्कर्ष यह है कि चन्द्रमा पर प्राणी रहते हैं, उनके कार्यालय हैं, उनका राष्ट्र भी है, प्रजा भी है। वहाँ नाना प्रकार की भोग-विलास की सामग्री उनके अनुकूल होती है जो सब प्राणीमात्र के लिये होती है, व्यापार भी होता रहता है। आज का वैज्ञानिक अभी तक वहाँ नहीं पहुँच पाया है। अतः वह उत्तर भी नहीं दे सकता।

इसमें वेद का प्रमाण है कि.''चन्द्रो बृतम् प्रभा अस्तेः, प्राणी अग्रुत रुद्रा अस्ते सुप्रजाम् मनुवांछाम् प्राणी भ्रमणः अस्ति सुप्रजः।'' (तेरहवाँ पुष्प, २२-८-६९ ई)

पृथ्वी के प्राणी को कुछ समय पश्चात् प्रतीत होगा कि चन्द्रमा पर जीवन है। जीवन की धारायें वैसे ही प्राप्त नहीं होतीं जब तक कि प्राणी का शरीर, विचारधारा, आहार-व्यवहार अच्छी प्रकार उसके अनुकूल नहीं होते।

उन्हें तभी यह प्राप्त होगा जब सर्वमंडल में भ्रमण कर लेंगे जिस स्थान पर मानव चन्द्रमा पर उतरा है उसे वेदों में 'स्वनित' नाम की रेखा कहते हैं जो चन्द्रमा की 'आकूती' स्वीकार की गई है।

जहाँ पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों की आर्कषण-शक्ति का मिलान होता है उसको सोम्भ्रक नाम का प्रतीक स्थान कहते हैं। चन्द्रमा और चन्द्रमा के ऊपरले सोमभूक-निधिक' नाम के मंडल की आकर्षण-शक्ति का मिलान है। उसको माननतलित' नाम की रेखा कहते हैं। इन रेखाओं का ज्ञान, प्राण और विश्वभान-मन (समष्टि-मन) से होता

है। उसकी प्रतिभा तथा सर्व-वार्त्ताओं को जानने के लिये समय की आवश्यकता होती है। समय की प्रतिभा आती रहेगी तथा मानव उसकी जानकारी करता रहेगा।

भूतकाल के अनुभव हैं कि जब मानव का चन्द्रमा को अच्छी प्रकार जानने का समय आता है तो विश्व संग्राम हो जाता है। जैसे १-सत्ययुग में हिरण्य कश्यय, २-त्रेतायुग में रावण, ३-द्वापर युग में महाभारत। इससे पूर्व भी ऐसा ही होता रहा है। जब भी भौतिक वैज्ञानिक चन्द्रमा, स्वर्ण-मण्डलों में.मंगल, बुध आदि जिनमें पृथ्वी का भौतिक वैज्ञानिक पहुँच पाता है, पहुँचने का प्रयास किया गया, तभी विश्व-संग्राम हो जाता है।

मानव की जो अन्तरात्मा है, मस्तिष्क और हृदय है उसकी उत्कट इच्छा होती है कि तू इस वस्तु को जानने का प्रयास कर। एक मानव विज्ञान की वार्ता को नहीं जानता किन्तु उसके श्रोत्र उसके सुनने को इच्छुक होते हैं, मानव का यह जन्म सिद्ध अधिकार है कि वह जाने, किन्तु जानता कोई-कोई ही है। किसी-किसी का मस्तिष्क होता है जो बहुत सूक्ष्मता से प्रारब्धों के आधार पर बना होता है और कुछ वह प्रकृतिवाद में आकर प्रयत्न करता है, प्रयत्न करते हुए उसमें सफल भी हो जाता है। जानकारी करने में द्रव्य लग जाता है क्योंकि वह जहाँ का था वहीं लग गया। मन बुद्धि-चित्त-अहंकार का जन्म इसी जानकारी के लिये होता है, इसी आधार पर जन्म होता है। (तेरहवाँ पुष्प, २२-८-६९ ई.)

मानव चन्द्रमा के प्राणियों को यन्त्रें से भी तथा बिना यन्त्रें के भी

देख सकेगा क्योंकि जब वह वहाँ की पृथ्वी को देख सकता है तो प्राणियों को भी देख सकेगा, किन्तु उनके वातावरण तथा उनकी वाणी को नहीं जान पायेगा क्यांकि वह भिन्न है।

किन्तु यहाँ का जो सुन्दर वाद है, वह बहुत ही सुन्दर है। वह इतना सुन्दर है कि मानव, आपत्तियो में रमण कर सकता है। पृथ्वी का मानव पृथ्वी के कुछ तत्त्वों को लेकर चन्द्रमा पर छः मास तक जीवित रह सकता है, इससे अधिक नहीं। किन्तु सूक्ष्म शरीर के साथ यह आत्मा कितने भी समय तक रह सकता है। वह सूर्य पर भी रह सकता है।

चन्द्रमा का वैज्ञानिक

चन्द्र-मण्डल का एक वैज्ञानिक है जिसका नाम ''स्वानिन'' है। उसका यन्त्र ''शानाकृति-लोक'' में जाता रहता है जिससे चन्द्रमा की प्रतिभा मिलान करती है। उस यन्त्र की धातु इतनी शक्तिशाली तथा 'अक्रिन' है कि वह पृथ्वी-मण्डल पर आ सकती है। (तेरहवाँ पुष्प, २३-८-६९ ई.)

मंगल-लोक के प्राणी

सुकेतु ऋषि ने सवति ऋषि से पूछा, ''क्या आप मंगल की यात्र यान द्वारा कर लेते हैं ?''

सुकेतु ने कहा कि उसने इस विज्ञान को प्रवाहण ऋषि से जाना है, उसने मंगल-लोक की यात्र करके यह जाना है कि वहाँ पार्थिव तत्त्व प्रधान है। अतः वहाँ पार्थिव-प्राणी रहते हैं। वहाँ का विज्ञान तथा प्रतिभा पृथ्वी-मण्डल से कई गुणा मानी गई है। (बीसवाँ

पुष्प, २८-३-७३ ई.)

एक बार रावण ने अपने पुत्र नरान्तक से पूछा था कि तुम मंगल ग्रह की यात्र में सफल हो गये हो, वह कितनी लम्बी है ? नरान्तक ने बताया था कि वह चन्द्रमा में एक दिन और एक रात में पहुँच जाते हैं तथा मंगल में दो दिन दो रात में।

रावण ने प्रश्न किया, मंगल में किस प्रकार का उद्गार होता रहता है?

उत्तर.मैने महर्षि भारद्वाज से विज्ञान जाना था। उसको वहाँ छोड़ आया था। जब दूसरी बार वहाँ पहुँचा तो जाना कि वहाँ पृथ्वी-मण्डल जैसे ही प्राणी रहते हैं, इसी प्रकार विचरण करते हैं तथा आहार-विहार करते हैं। (सोलहवाँ पुष्प, ३-८-७१ ई.)

मंगल-मंडल में पार्थिव-तत्त्व अधिक होने के कारण वहाँ के प्राणियों की धारायें वायुमण्डल, भोजनादि पृथ्वी के समान ही हैं। वहाँ सुविधायें भी सुन्दर हैं तथा विज्ञान भी परिपक्व है। भौतिक विज्ञान वहाँ पृथ्वी से अधिक प्रबल है।

मंगल-लोक में ''सोमनानिक'' नाम का वैज्ञानिक है, उसने एक ''सानभूति'' नाम का यन्त्र बनाया है, इसको ''सोमभावली'' यन्त्र भी कहते हैं। यह यन्त्र पृथ्वी-मंडल में समुद्रों की यात्र करता रहता है।

इस यन्त्र में जितनी शक्ति है, पृथ्वी-मण्डल का वैज्ञानिक उसे अभी सौ वर्ष तक भी नहीं जान पायेगा।

एक 'सौनिक' नाम का वैज्ञानिक है जिसने एक यन्त्र बनाया है। उसमें मंगल-ग्रह का प्राणी पृथ्वी की यात्र करके वापस चला जाता

है। अब तक वहाँ का प्राणी एक सौ बीस बार पृथ्वी पर यात्र करके चला गया है। (तेरहवाँ पुष्प, २३-८-६९ ई.)

मंगल-ग्रह का 'सोमकेतु' नाम का वैज्ञानिक एक सौ बीस बार पृथ्वी पर यात्र करके चला गया है। यहाँ के वैज्ञानिकों ने उसे उड़न-तश्तरियों के नाम से वर्णन किया है।

कुछ अवशेष 'सोमणिनी-रेभव-केतु' तथा 'स्वचनी' यन्त्र के समुद्र में रह गये थे, वे वैज्ञानिकों को प्राप्त हुए हैं। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २३-८-७१ ई.)

मंगल का वैज्ञानिक पृथ्वी-मंगल पर आया, यहाँ यन्त्रें को दृष्टिपात किया गया, उन यन्त्रें में उनका गुप्तचर विभाग भी यहाँ आया। कुछ समुद्र की तरंगों में वे गुप्तचर प्रायः अपने आंगन में रमण कर रहे हैं। वे यहाँ के प्राणियों से कुछ मध्यम हैं। कुछ समय में अनुसन्धान करके चले जायेंगे। (चौबीसवाँ पुष्प, १८-८-७२ ई.)

मंगल से आने वाला जो प्राणी है, जो यान-यन्त्र आये हैं, उन यानों का वर्णन करने से मानव का निधन हो गया है। केवल वर्णन करने से निधन हो गया, इस पर मीमांसा करने से ऐसा प्रतीत नहीं होता। यहज्वाक्य मिथ्या प्रतीत होता है क्योंकि विज्ञान के युग में ऐसा विश्लेषण नहीं आता।

एक वाक्य आता है, जो इस विज्ञान का विश्लेषण करता है। ऐसा गुप्त विभाग प्रायः मंगल से पुरातन काल में भी आता रहा है। (चौबीसवाँ पुष्प, १८-८-७२ ई.)

आज का विज्ञान कहता है कि प्रत्यक्षवाद होना चाहिये। आज

का विज्ञान यह कहता है कि मंगल में प्राणियों का अभाव हो गया है। परन्तु देखो इस मंगल में बहुत पुरातन काल में मैंने कहा था कि वहाँ प्राणी हैं और वे प्राणी इस पृथ्वी मण्डल पर आते हैं और आ करके, यहाँ से चित्र ले करके वह अपने मंगल-मण्डल को प्राप्त हो जाते हैं। आज का प्राणी, आज का इस पृथ्वी-मण्डल का जो प्राणी है उन वैज्ञानिकों को दृष्टिपात भी नहीं कर सका। कहीं-कहीं समुद्रों में एक वैज्ञानिक, 'श्रुतुक' नाम का वैज्ञानिक समुद्रों की तरंगों में वह भस्म हो गया, मृतक बन गया। परन्तु देखो उसका यान समुद्रों की तरंगों मे आभायित हो गया उसका यन्त्र अवृत हो गया। परन्तु देखो मैं उस सम्बन्ध में विशेष चर्चा देने नहीं आया हूँ, केवल उच्चारण करना यह कि वहाँ का प्राणी इस पृथ्वी पर आता है। यहाँ का प्राणी अभी गया नहीं परन्तु अभी तो उसका यान जा रहा है। यान से यह अनुमान अनुमानित हो रहा है परन्तु अनुमान में कुछ संशय रहती है। जब प्राणी वहाँ प्रवेश करेगा, प्राणी वहाँ पहुँचेगा तो उन्हें देखो, राष्ट्रीयता प्राप्त होगी और ऐसी राष्ट्रीयता नहीं जैसी आधुनिक वर्तमान काल की राष्ट्रीयता इस पृथ्वी-मंडल पर है। एक-दूसरा राष्ट्र एक-दूसरे राष्ट्र को नष्ट करने के लिये तत्पर विराजमान है। एक राजा अपनी प्रजा को अपने में ग्रहण करने के लिये तत्पर है। इसी प्रकार एक राजा है वह अपनी प्रजा को नहीं चाहता, प्रजा के वैभव को संग्रह करके अपने में आनन्दित होना चाहता है परन्तु ऐसा राष्ट्र नहीं। वह राष्ट्र ऐसा है जहाँ वैज्ञानिक-यन्त्रें की आभा है जहाँ राष्ट्र विज्ञान की तरंगों में प्रजा को सुखद देने वाला है। किसी

प्रकार विज्ञान का कुछ दुरुपयोग नहीं हुआ है। आधुनिक काल में इस पृथ्वी-मंगल पर देखो विज्ञान का दुरुपयोग होने लगा है। अरे, विज्ञान का दुरुपयोग कैसे होने लगा है? जहाँ जिस राजा के राष्ट्र में जिस समाज में, जिस राजा को वह आभा लग जाती है कि मेरे द्वारा द्रव्य होना चाहिये। द्रव्य की आह आ जाती है, वह राष्ट्र किसी भी काल में उत्तम नहीं बनेगा। क्योंकि द्रव्यवादि जो राष्ट्र होता है वह राष्ट्र नहीं होता। कर्त्तव्य-वादि राष्ट्र होता है, कर्त्तव्यवाद जिसके द्वारा होता है वह राष्ट्र को ऊँचा बनाता है। (पैंतीसवाँ पुष्प, ४-९-७६ ई.)

मंगल में समुद्रों से ऐसे खाद्य-पदार्थों की खोज की जा रही है, जिनके पान करने मात्र से ही तीन दिवस तक क्षुधा उनको प्रेरित नहीं करती। उनके समुद्रों में ऐसे पदार्थ होते हैं। पृथ्वी-मण्डल में भी वैज्ञानिक इस प्रकार के प्रयत्न कर रहे हैं। हो सकता है कि आने वाले दस वर्षों में सफल हो जायें। (चौबीसवाँ पुष्प, १८-८-७२ ई.)

आज के विज्ञान की जो उन्नति है वह और भी बढ़ेगी। वह बृहस्पति-मण्डल तक भी जा सकता है। मंगल की यात्र भी सुलभ हो सकती है तथा वहाँ से नाना धातु प्राप्त हो सकती है। वहाँ पर पार्थिव प्राणी रहते हैं।

शुक्र तथा अन्य लोकों में भी पार्थिव-प्राणी रहते हैं। मंगल-मंडल का प्राणी पृथ्वी-मंडल पर समुद्रों की यात्र कर जाता है। उनके पास ऐसे-ऐसे यन्त्र हैं कि एक रात्री-दिवस में चन्द्रमा की कक्षा में होता हुआ पृथ्वी के समुद्रों की यात्र करके दूसरी रात्री में वापस हो जाता है। (सोलहवाँ पुष्प, ४-८-७१ ई.)

बृहस्पति या गन्धर्व-लोक के प्राणी

बृहस्पति लोक को गन्धर्व लोक कहते हैं। वहाँ के निवासी 'गन्धर्व' होते हैं। वहाँ पर भगवन्ती योनि के प्राणी रहते हैं। भगवन्ती योनि को ही गन्धर्व योनि कहते हैं। (प्रथम पुष्प, ६-४-६२ ई.)

ध्रुव-लोक के प्राणी

देवर्षि नारद ने ध्रुव को ध्रुव-मण्डल का परिचय देते हुये कहा कि ध्रुव-मण्डल में अग्नि और जल दोनों प्रधानता में कहलाये गये हैं, इसलिये यह ध्रुव तुम्हें स्थिर प्रतीत होता है। जिस लोक में अग्नि और जल दोनों की प्रधानता होती है, वह लोक तुम्हें स्थिर प्रतीत होने लगता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २०-६-६३ ई.)

ध्रुव-मण्डल इतना विशाल है कि उसमें एक लाख दस हजार सूर्य समाहित हो जाते हैं (उन्नीसवाँ पुष्प, २८-१०-७२ ई.)

बालक ध्रुव जब ध्रुव-मण्डल पहुँचे (और वहाँ से वापस आये) तो महर्षि नारद ने पूछा कि ध्रुव-मण्डल में तुमने क्या पाया।

उन्होंने कहा, ''प्रभु! मुझे तो वहाँ जीवन प्रतीत होता है। वहाँ तो योनियाँ रहती हैं। परन्तु इस प्रकार प्रत्येक लोक-लोकान्तर में, जैसा वहाँ का वायुमण्डल है, वहाँ भी चारों प्रकार की सृष्टि इसी प्रकार की हैं। परन्तु जैसा तत्व प्रधान होता है उसी तत्त्व का वहाँ खनिज खाद्य है। उसी प्रकार का वहाँ प्राणीमात्र है। इसी प्रकार वहाँ उसी प्रकार का विज्ञान है, विज्ञान की मात्र भी उसी प्रकार है। अनुसन्धान, अन्वेषण सर्वत्र होते रहते हैं परन्तु वहाँ के वैज्ञानिक यन्त्रें में उस विज्ञान को दृष्टिपात करके रश्मियों को दूषित होना दृष्टिपात

करते हैं।''(चौबीसवाँ पुष्प, १८-८-७२ ई.)

ज्येष्ठाय (ज्येष्ठा) नक्षत्र के प्राणी

हमारी पृथ्वी की तीस लाख इकाइयाँ सूर्य-मंडल में समाहित हो जाती हैं। एक सहस्त्र सूर्य बृहस्पति में समाहित हो जाती हैं। एक सहस्त्र बृहस्पति अरुणी मण्डल में समाहित हो जाती हैं। एक सहस्त्र अरुणी मण्डल ध्रुव में, सहस्त्र ध्रुव अरून्धति मंडल में, एक सहस्त्र अरुन्धति मंडल ज्येष्ठा नक्षत्र में समाहित हो जाते हैं। इसमें वायु तत्त्व प्रधान होता है।

संक्षेप में आंकलन : (१) ३०००९९९ पृथ्वी एक सूर्य।

(२) १००० सूर्य ३०००००० एक बृहस्पति।

तीन अरब पृथ्वियों के तुल्य। (३) तीस खरब पृथ्वियां अरुणी मंडल में समाहित हो जाती हैं।

यह सब योग से जाना जाता है तथा तर्कवाद से भी सिद्ध हो जाता है। ज्येष्ठा नक्षत्र में जो प्राणी तथा मानव हैं वे वायु तत्त्व में विचरण करने वाले हैं। गन्धर्व और ग्रित योनियाँ वायु-मण्डल में विचरण करती हैं। (नौवाँ पुष्प, २६-७-६७ ई.)

लोकों के वैज्ञानिकों की योजनायें

सूर्य-मण्डल के वैज्ञानिक (१) कुलकेतु, मंगल के वैज्ञानिक (२) श्वेत केतु तथा बृहस्पति के वैज्ञानिक (३) रोहीणी-केतु, इन तीनों का यह विचार है कि हम चन्द्रमा और सूर्य के मध्य ऐसा स्थान बनाना चाहते हैं, जिसमें ब्रह्मांड के वैज्ञानिक विराजमान हो करके उस पर कुछ विचार-विनिमय कर सकें। संसार का वैज्ञानिक उसमें आता

चला जाये। यह सफल हो भी सकता है, नहीं भी। (चौबीसवाँ पुष्प, २८-८-७२ ई.)

पृथ्वी मंडल का वैज्ञानिक यह विचार रहा है कि जहाँ पृथ्वी और चन्द्रमा की आकर्षण दोनों समान हैं, वहाँ कुछ पर एक स्थल बनाना चाहिये। जिससे यहाँ का यान जाये और वहाँ समय विश्राम करके आगे यान रमण करने वाला बनें। परन्तु ब्रह्माण्ड का वैज्ञानिक यह विचारता है कि चन्द्रमा का ऊपरला जो कक्ष है और बृहस्पति के बराबर त्रिकोण वाला जो स्थल है, जहाँ मंगल की प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है और सूर्य की प्रतिक्रिया बहुत निकट आ जाती है, वहाँ एक स्थल बनाना चाहिये। जहाँ संसार का, ब्रह्मांड का वैज्ञानिक विराजमान हो करके विचार-विनिमय करने वाला बने। (चौबीसवाँ पुष्प, १८-८-७२ ई.)

जानकारी का आधार

जो सूर्य की रश्मियाँ हैं, वायु मंडल है, वायु में मंडल जो तरंगों से, हम अपनी यौगिकता से इसका प्रायः अनुभव करते रहते हैं।

यौगिक जीवन वैज्ञानिक-जीवन से हजार वर्ष क्या, लाखों वर्ष आगे रहता है तथा सदैव रहता चला आया है। एक मानव जो शब्दों को ग्रहण करता है, वायुमंडल में से योगी उन शब्दों को चर लेता है जो सूक्ष्म शरीर को जानता है क्योंकि वह जो विज्ञान है, यह सर्व-विज्ञान, सूक्ष्म जो मात्र है, प्रकृति उसके अन्तर्गत भ्रमण करती है। योगो को जो विचार है, सूक्ष्म-शरीर से ऊर्ध्वगति में जो कारण शरीर

अर्थात् जो लिंग शरीर है, जब इन तीनों शरीरों का तारतम्य एक हो जाता है, उस समय सूर्य की रश्मियों से क्या, वायु की तरंगों से क्या, इन पांच-महाभौतिक अणुओं से भी जो सूक्ष्म कण हैं, परमाणु हैं, वे योगी के निकट आ जाते हैं और योगी उनसे आगे-आगे रहता है। वास्तव में योगी इस भौतिक-विज्ञान से बहुत आगे रहता है।

लोकों की यात्रा का सिद्धान्त

प्रश्न : एक बार नरान्तक ने महर्षि भारद्वाज से पूछा था कि हे गुरुदेव ! आप हमारे पूज्य हैं। मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका जो विज्ञान है, आभा है, वह चन्द्रमा, मंगल, शुक्र तक ही सिमित है अथवा अन्य लोक-लोकान्तरों की भी यात्र उसके द्वारा कर सकते हैं?

उत्तर तुम प्रत्येक लोक की यात्र कर सकते हो। किन्तु यह विचार है कि तुम्हें अपने वातावरण को उस प्रकार बनाना होगा जैसा उस लोक का है। यदि वातावरण विपरीत होगा तो मानव की मृत्यु हो जाती है।

इसका कारण यह है कि दूसरे लोकों का वातावरण, वायु-मंडल, प्राणवायु तथा परमाणुवाद इतना दूषित हो जाता है। यह पार्थिव शरीर, जो लिंगमय शरीर है, उनको अपने में समाहित नहीं कर पाता क्योंकि वे परमाणु इतने शक्तिशाली तथा महान् हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि इतने इन परमाणुओं में मिश्रित हो करके, इन दोनों परमाणुओं का मिलान हो करके इन दोनों की शक्ति एक ही तुल्य एक आत्मिक विचारणा करती चली जाये। (सोलहवाँ

पुष्प, ३-८-७१ ई.)

८ अष्टम अध्याय-सर्व-सूख एवं ज्ञान-विज्ञान का मूल-यज्ञ

यज्ञ वह पदार्थ है जो मनुष्य का परमात्मा से मिलान करता है। हमें परमात्मा से मिलान करने के लिये संसार की त्रुटियों को न देखकर यज्ञ-कार्य करने चाहिए। भौतिक यज्ञ से आध्यात्मिक यज्ञ में संलग्न होते हुए सृष्टि के रचयित्ता ब्रह्म से मिलान करना चाहिये। (सातवाँ पुष्प, ७-११-६३ ई.)

यज्ञ कहते है सुचरित्र को। जब मानव चरित्रवान बनताहुआ, अनुशासन में रहता हुआ अपने जीवन को हिंसा से रहित होकर कर्म करता है उसका नाम यज्ञ है। (चौबीसवाँ पुष्प, २७-१०-७३ ई.)

यज्ञ एक महापुरुष है। १-महाराजा दिग्ध ने महर्षि याज्ञवल्क्य की सभा में, २-महर्षि जमदग्नि से कोडंग ऋषि के आश्रम में यज्ञ की प्रशंसा की। ३-माता गार्गी ने भी प्रशंसा की। ४-महर्षि भारद्वाज ने तो कहा, ''यज्ञ ही मानव का जीवन है, यज्ञ ही मानव की प्रतिभा है और मानव जीवन का सार है।''

यज्ञ के सम्बन्ध में ऋषियों के प्रश्नोत्तर होने लगे। ५-महर्षि जमदग्नि ने महर्षि अर्धभागा अस्तिति ऋषि से प्रश्न किया

प्रश्न : महाराजा ! देवता कितने हैं ?

उत्तर : ३३०६।

पुन : प्रश्न : देवता कितने है ?

उत्तर : ३५।

पुन : प्रश्न : देवता कितने हैं ?

उत्तर : छः।

पुनः प्रश्न : देवता कितने हैं ?

उत्तर : तीन।

पुन : प्रश्न : देवता कितने हैं ?

उत्तर : एक।

यज्ञ ही संसार में एक देवता है हम जो भी कर्म करते हैं, विचार-विनिमय करते हैं, वह सब यज्ञ ही है। (तेरहवाँ पुष्प, १-११-६९ ई.)

यज्ञ ही मानव का जीवन है। यह ब्रह्मांड तथा लोक-लोकान्तर, इन्द्र-लोकों में निहित रहते हैं। इन्द्र-लोक प्रजापति में निहित रहता है। प्रजापति की प्रतिष्ठा फल में होती है। यज्ञ को दूसरे शब्दों में प्रजापति भी कहा जाता है। मानव जो निःस्वार्थ भाव से ऊँचे और सुन्दर कार्य करता है उसी को यज्ञ कहते हैं। याज्ञिक पुरुष वह है जिसमें सात्विक भावना के साथ त्याग की प्रवृत्ति हो। त्याग की प्रवृत्ति ही जीवन है।

उसी में मानव की प्रतिभा विराजमान रहती है। इसी से मानव की प्रतिभा और प्रतिष्ठा महान् बनती है तथा मानव की विचारधारा महान् और पवित्रता में परिणत हो जाती है। (तेरहवाँ पुष्प, १-११-६९ ई.)

यज्ञ करते समय मानव को चाहिये वह क्रोध और द्वेष की रूढ़ियों को त्याग दे, मनसा-पाप को भी त्याग दे। मनसा-पाप मानव

के जीवन का विनाश कर देता है। उसे अपनी वाणी तथा मस्तिष्क को सन्तुलन में रखना चाहिये। मनसा-पापी प्राणी के हृदय में घृणा उत्पन्न हो करके उसकी मानवता का हनन हो जाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, १३-२-७१ ई.)

हमें यज्ञ आदि कर्मों को करते हुए योगी बनना चाहिये। (सोलहवाँ पुष्प, १७-१०-७१ ई.)

यज्ञ पाखण्ड नहीं

आज के समाज में सभी वेद की वैज्ञानिक-पद्धतियों को पाखण्ड समझ लिया है। पाखंड तो तभी होता है जब कर्म नहीं किया जाता। यज्ञ आदि पाखंड नहीं। (पन्द्रहवाँ पुष्प, १३-२-७१ ई.)

महर्षि दधीचि ने यज्ञ के लिये अपनी अस्थियों को भी अर्पित कर दिया था। वह उनका कितना सुन्दर त्याग था। प्राचीन काल में यज्ञ कितने आभायुक्त होते थे, जिनमें यज्ञमान, पुरोहित, उदगाता, अध्वर्यु, होता सभी ब्रह्मचारी होते थे क्योंकि यज्ञशाला में चरित्र परमाणुवाद तथा मृत्यु से जीवन की घोषणा की जाती है। अतः वह दिन दूर नहीं जब संसार इसकी वेदी के नीचे जायेगा। (सोलहवाँ पुष्प, १७-१०-७१ ई.)

'यज्ञ' का खंडन करना मानव का पाखंड है। यज्ञ का मंडन करना मानव का कर्त्तव्य है। यह धर्म है, विचार है, महत्ता है, इसको अपनाने का प्रयास करो। (उन्नीसवाँ पुष्प, २-२-७२ ई.)

यज्ञों को पाखंड समझने का कारण यह है कि बुद्धिमान ब्राह्मणों में पवित्रता न होने के कारण समाज उसे अपवित्र समझता

है। वह द्रव्य की पूजा ही करता है। इसलिये यह कम्पनता (अस्थिरता) आती है। (बीसवाँ पुष्प, पृष्ट-८०)

जो यज्ञ को पाखण्ड कहता है, उनको पदार्थ विद्या का ज्ञान नहीं है, वह परमाणु विद्या को नहीं जानता। जो परमाणु विद्याशाली होते हैं, पर उनका गम्भीर अध्ययन नहीं होता। यदि उनका गम्भीर विचार हो तो इसको पाखण्ड कौन कह सकता है ? प्रत्येक मानव पाखण्ड तो उच्चारण कर देता है परन्तु पाखण्ड की मीमांसा नहीं जानता। पाखण्ड उसे कहा जाता है जो अपने मानव जीवन को अन्धकार में ले जाता है। (छब्बीसवाँ पुष्प, २४-५-७६ ई.)

अग्नि पूजा को कुछ विचारधारा वाले पाखण्ड कहते हैं परन्तु वे पूजा का अर्थ नहीं जान पाते। किसी पदार्थ के सदुपयोग को ही पूजा कहते हैं। अग्नि की पूजा करते समय हम उसमें सुगन्धित पदार्थों को अर्पित करते हैं उससे वातावरण शुद्ध होता है। सूक्ष्म धारायें द्युलोक को प्राप्त होती हैं। पाखण्ड तो वह है जो सम्प्रदाय सुगन्धि के विपरीत कार्य करता है। जब अज्ञान इतना व्यापक रूप धारण कर लेता है कि मानव उसको जान नहीं पाता और उसमें नाना प्रकार की विडम्बना हो जाती है तथा वह राष्ट्र को उन्नति नहीं करने देती। (उन्नीसवाँ पुष्प, २६-२-७२ ई.)

सृष्टि रूपी यज्ञ

परमात्मा ने इन ब्रह्माण्ड को यज्ञ वेदी के रूप में रचा। इस यज्ञवेदी को क्रियाशील बनाने में नाना प्रकार के होता.१-अग्नि, २-जल, ३-वायु, ४-पृथ्वी,५-अन्तरिक्ष परमाणुओं की आहुति देते रहते हैं।

उन आहुतियों से प्राणीमात्र का जीवन प्रदीप्त होता है। (ग्यारहवाँ पुष्प, २०-१०-६८ ई.)

यह ब्रह्माण्ड एक यज्ञ क्षेत्र है जिस पर विराजमान होकर प्रत्येक मानव अपने कार्य को विलक्षण बनाता चला जा रहा है। हम परमात्मा से प्रार्थना करें कि हे देव! इस यज्ञ कर्म को महान् बना। इस सुन्दर यज्ञ में आपकी अनुपम कृपा से ही हमारा जीवन पनपता है और उसी दया से हमारे जीवन का सञ्चालन होता है, पवित्र बनाने वाले, हे देव! हमारे नमस्कार को स्वीकार करो जिससे उज्ज्वल यज्ञ-कार्यों में हमारे जीवन की संलग्नता और ऊँची, और विलक्षण बनती चली जाये। हे प्रभो! जब यज्ञ में अपने जीवन को ले जाते हैं और यज्ञमय जीवन बना लेते हैं तो हमारे जीवन की जो पवित्र प्रवृत्तियाँ हैं, उनकी ऊँची तरंगें सुगन्धि के साथ-साथ अन्तरिक्ष में रमण करती हैं। (आठवाँ पुष्प, १९-७-६६ ई.)

जिस प्रकार परमात्मा ने ब्रह्मा बनकर इस सृष्टि रूपी यज्ञवेदी को बनाकर इसमें कर्म-काण्ड रूपी उन नियमों को बनाया है जो कभी परिवर्तित नहीं होंगे, उसी प्रकार हमें भौतिक-यज्ञ को उत्पन्न करके उससे ज्ञान और विज्ञान को प्राप्त करना चाहिये। यज्ञ इतनी सुन्दर आन्तरिक भावनाओं से करना चाहिये, जिससे यज्ञ-कर्त्ता का परमात्मा से मिलान हो जाये। यज्ञ को त्याग-भावना से करना चाहिये। (सातवाँ पुष्प, ७-११-६३ ई.)

यज्ञ-कर्म

अज्ञानता में ही मानव की मृत्यु होती है। मृत्यु को लांघने को

जो कर्म है वही यज्ञ है। उससे मानव की प्रतिष्ठा में अन्तर्द्वन्द्व नहीं होता। इसलिये प्रत्येक स्थान में यज्ञ कर्म की प्रतिभा हमारे मस्तिष्कों में रहनी चाहिये।

यज्ञ को पावन भावनाओं से करना चाहिये। द्रव्य से यज्ञ अधिक नहीं होता। उसमें भावना और श्रद्धा की प्रतिष्ठा ही प्रमुख होती है। याज्ञवल्क्य के अनुसार प्रजापति यज्ञ में ओत-प्रोत है।

अर्थात् हृदय की प्रतिष्ठा ही मानव को याज्ञिक बनाती है। मानव का हृदय जितना शुद्ध, पवित्र और महान् होगा उतनी ही उसकी प्रतिष्ठा होती जायेगी। इस प्रतिष्ठा सहित जब वह अग्रणी बनता है तो उसकी महत्ता में कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं होता। हृदय दक्षिणा में ओत-प्रोत है और दक्षिणा यज्ञ में ओत-प्रोत है। हृदय में श्रद्धा तथा दक्षिणा है। जब यह प्रदान कर दी जाती है तो मानवता की सुन्दर व्यवस्था बन जाती है तथा मानवत्व का राष्ट्रीयकरण और यज्ञ-कर्म हो जाता है।

मानव की प्रत्येक इन्द्रिय यज्ञ-कर्म करती है। मानव शरीर एक यज्ञवेदी है। इसमें कहीं विचारों के तथा कहीं कर्मों के और कहीं नाना अन्य प्रकार के यज्ञ होते हैं। विचारों के यज्ञ की सुगन्धि श्रेष्ठ होती है। संसार के सभी प्राणीमात्र यज्ञ-कर्म करते हैं क्योंकि एक-दूसरे से सबके जीवन सुगठित रहते हैं मछली जल को स्वच्छ बनाकर यज्ञ कर रही है, सर्प वायु से विष को निगलकर अमृतमयी वायु को छोड़ता है, उसका यह यज्ञ है राष्ट्रीय विचार तथा नेतृत्व करना भी यज्ञ है। (तेरहवाँ पुष्प, ६-११-६९ ई.)

जितने हम सुन्दर कार्य करते हैं वे सब यज्ञ कहलाते हैं।

परमात्मा का रचाया यह जितना ब्रह्माण्ड है वह यज्ञ क्षेत्र है जिसमें विराजमान होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म को विलक्षण बनाता चला जाता है। जैसे वाक् के उच्चारण होते ही उसका विस्तार हो जाता है इसी प्रकार यज्ञ-शाला में ब्रह्मा, उद्गाता जब मनोहर वेद-मन्त्रें का पठन-पाठन करते हैं तो बड़ी सुगन्ध सहित शब्दार्थ देवताओं को पवित्र बना देता है।

यज्ञ अनेक प्रकार के हैं

यथा :.१-एक मानव परमात्मा का चिन्तन कर रहा है, वह भी सुन्दर यज्ञ कर रहा है।

२-एक मानव परोपकार में संलग्न है, वह भी सुन्दर यज्ञ है।

३-अतिथि का यथाशक्ति सत्कार करना, उसे भोजनादि कराना भी एक प्रकार का यज्ञ है।

४-हम राष्ट्र के हित के लिये कार्य करते हैं, प्रजा को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं, वह भी यज्ञ है।

५-एक यज्ञ यह भी है जिसमें ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता होता और यजमान का चुनाव होकर यज्ञ-कर्म किया जाता है। उसकी प्रक्रिया सुन्दर होती है, वह मानव को आयु और सुख देता है। सुख-शान्ति के अंकुर उत्पन्न होत हैं देवताओं का पूजन होता है। पति-पत्नी यजमान बनकर तपस्या करके अपने को शक्तिशाली बनाते हैं। ब्राह्मणों का पूजन करते हुए और आचार्योंर्र् का आदर करते हुए अपने को विशाल बना लेते हैं।

६-एक माता नियमानुकूल अपने गर्भ में लेकर जीव को जीवन

प्राप्ति तक अपने पुत्र की रचना करती है यह भी एक सुन्दर यज्ञ है।

७-एक राजा अपने राष्ट्र को ऊँचा बनाने की पवित्र धारणा को लेकर चलता है और प्रजा को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है, यह भी यज्ञ-कर्म है।

राजा अपने विचारों से, बुद्धि से विधान का यज्ञ करता है किन्तु विधान पवित्र और महान् होना चाहिये, उसमें 'अहिंसा परमोधर्मः' होना चाहिये। जिस राष्ट्र में हिंसा की भावना होती है। वह अधिक समय तक नहीं रहता। (तेरहवाँ पुष्प, ९-१-६९ ई.)

८-एक यज्ञ वह होता है जिससे इस लोक तथा परलोक में सुख प्राप्त होता है। उसमें यजमान की पत्नी यजमान से कहती है कि हे यज्ञपते! मैं तेरे समीप हूँ, तू ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ, त्याग-तपस्या के द्वारा पृथ्वी पर आसन लगाता हुआ यज्ञ-कर्म को पवित्र बना। तेरी प्रवृतियों से ही यह हमारा यज्ञ कर्म-श्रेष्ठ बन सकता है। यज्ञ वह होता है जिसमें किसी भी प्रकार की कामना उत्पन्न नहीं होती, कामना उत्पन्न होने पर वह कर्म निष्फल कहलाता है। (सातवाँ पुष्प, १९-७-६६ ई.)

मानव का यज्ञमय जीवन

विकल्प मानव जीवन को नष्ट कर देते हैं। इसलिये परमात्मा से प्रार्थना करें कि हमारे संकल्प तथा इन्द्रियाँ और अ-प्रत्यंग यज्ञमय हों। इसमें वह हमारी सहायता करें। हमारा जीवन, इन्द्रियाँ तथा द्रव्य सभी कुछ यज्ञमय हो। संसार में जो कुछ भी नेत्र देखें वह यज्ञ हो। वह यज्ञ चाहे परोपकार का हो, राष्ट्र कल्याण रूपी हो, भौतिक हो

या आध्यात्मिक हो। हमारा जीवन हिमालय के समान नाना समस्याओं को सहन करने वाला हो। (आठवाँ पुष्प, १३-११-६३ ई.)

जैसे यज्ञ में अग्नि प्रदीप्त होती है, इसी प्रकार हमारे हृदय में भी अग्नि प्रदीप्त हो रही है। जब मानव बाह्य-इन्द्रियों के विषयों को इस अग्नि में स्वाहा कर देता है, उस समय वह ऋषि याज्ञिक होता है, महान् होता है। संसार में जो भी ऋषि बना है, ब्रह्मचारी बना है, तपस्वी बना है, वह इन्द्रियों के इन द्वारों को अपने हृदय में ही दृष्टिपात करता है, विश्वकर्मा ने जब शरीर रूपी यज्ञशाला का निर्माण किया तो इसमें छिद्रों का भी निर्माण किया, जिससे नाना प्रकार की दुर्गन्धि इससे दूर होती रहे। मानव शरीर में जो द्वार हैं, इनसे हम प्रकृति को शुद्ध बनाते रहते हैं।

जब इन नौ द्वारों को एकाग्र करके यज्ञ करते हैं तो जहाँ दुर्गन्ध करते हैं, वहाँ सुगन्धि भी करते हैं। वह सुगन्धि दुर्गन्ध के परमाणुओं को निगल जाती है, वह वातावरण को शोधन करके पवित्र बना देती है।

मानव मन से जो दुर्गन्धि करता है, मन में चंचल भाव आ जाते हैं, वह हृदय रूपी यज्ञ-वेदी की अग्नि से ही शोधन किया जाता है। आज मानव के हृदय में नाना रूपों वाला कपट होता है। मन में कुछ और, बाहर कुछ और होता है, ऐसे प्राणी का जीवन व्यर्थ होता है। (तेईसवाँ पुष्प १३-११-७१ ई.)

मेखला

जब यज्ञशाला का निर्माण होता है तो उसकी चारों दिशाओं में

मेखला का निर्माण होता है। इसी प्रकार हमारे जीवन में भी मेखला बनती है।

१-एक तो समाज की मेखला है जिससे हमारा जीवन कटिबद्ध है।

२-द्वितीय मेखला माता-पिता तथा आचार्य हैं।

३-तृतीय मेखला प्रारब्धिक संस्कार हैं।

४-चतुर्थ मेखला परमात्मा के आँगन की चेतना है जो हमें परिक्रमा के लिए प्रेरणा करती है।

सबसे प्रथम तो हम यह विचारें कि जो पूर्व दिशा है वह हमें संकेत देती है कि जेसे हम मेखला में जल का सिंचन (प्रोक्षण) करते हैं तो यह हमें प्रेरणा देती है।

१- हम माता-पिता और आचार्यों से कितने कटिबद्ध हैं उनके प्रति कैसी परिक्रमा करनी है।

२-इसी प्रकार जब पश्चिम दिशा आती है तो जिस समाज में, जिस वातावरण में रहते हैं उस वातावरण को परिवर्तन करना है, जैसे.जल शीतल होता है, पृथ्वी के दोषों को समुद्र शोषण कर लेता है, इसी प्रकार हम समाज को परिवर्तित करते चले जाएँ।

३-इसके पश्चात् हमारे जो प्रारब्धिक संस्कार हैं जिनसे हमारा जीवन कटिबद्ध है और जिसकी प्राण में गति चलती है उसके आधार पर अपने जीवन के कर्मों के भोगों को प्रायः क्रियात्मक करते चले जाएं। आगे के लिए ऊँचा कर्म करने ही हमारी गति होनी चाहिए। जल सिंचन (प्रोक्षण) के साथ प्रतिज्ञा करते हैं, 'हे आपो घृतम् ब्रह्मे

उत्तर ध्यानम्' हम सदैव अपने ओज और तेज को प्रबल बनाना चाहते हैं।

४-इसके पश्चात् प्रभु की परिक्रमा है कि हे देव ! हम यज्ञ की अग्नि के समीप जल को ले करके प्रतिज्ञा करते हैं, परिक्रमा करते हैं कि हे प्रभो ! प्रत्येक दिशा में आपकी चेतना कार्य कर रही है जिसमें हम सर्वत्र चेतनित रहते हैं। हमारा जीवन ऊर्ध्व ही रमण करता रहे।

भौतिक-स्वरूप

भौतिक-स्वरूप एक और भी माना जाता है। जब सृष्टि का आरम्भ हुआ तो मेरे प्यारे प्रभु ने सबसे प्रथम मेखला का निर्माण किया, वह मेखला समुद्र है जिसके आँगन में पृथ्वी रमण कर रही है। समुद्र उसके विष को शोषण करता है, इसीलिए समुद्र को सोम कहते हैं। जिस प्रकार वह शोषण करता है, इसी प्रकार हम आध्यात्मिक बल को प्रबल करते हुए, अज्ञान को नष्ट करते हुए काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ को शान्त करते हुए इस संसार से पार होते चले जाएँ। (तेईसवाँ पुष्प ३-५-७३ ई.)

भौतिक-यज्ञ

आज ऐसे यन्त्रें का निर्माण किया गया है, जिनके एक प्रहार से राष्ट्र नष्ट हो सकते हैं किन्तु उस यन्त्र को भी बनाना चाहिए, जिनसे राष्ट्रों को जीवन मिले। वह यन्त्र है.'यज्ञ'। (नौवाँ पुष्प २८-७-६७ ई.)

प्रत्येक मानव, प्रत्येक देवकन्या को यज्ञ करके सुगन्धि करनी चाहिए, यह नहीं होना चाहिए कि वह दुर्गन्ध ही करता रहे। मानव प्रतिक्षण नेत्रें से, घ्राण से, रसना से, मुख से, श्रोत्र से, इन्द्रियों से,

उपस्थ और ग्रीवा से प्रकृति, इस प्रकृतिवाद को अशुद्ध करता रहता है।

यदि यज्ञ से सुगन्धि नहीं की जाएगी तो वायुमण्डल तथा वातावरण अशुद्धियों से अपवित्र होकर समाज पतित हो जाएगा। (चौदहवाँ पुष्प १६-१०-७१ ई.)

जितने भी यज्ञ होंगे उतना ही वातावरण सुन्दर होगा। अन्यथा यदि यज्ञ-कर्म नहीं होंगे, सुगन्धि नहीं होगी तो यह जो दुर्गन्ध है कहीं मानव के विचारों की दुर्गन्धि, कहीं वाहनों को दुर्गन्धि, कहीं नाना प्रकार के उद्योगों की दुर्गन्धियाँ हैं, कहीं अणुओं की दुर्गन्धि है, यदि इसमें सुगन्धि का प्रवेश नहीं किया जाएगा तो वह समय बहुत निकट आ रहा है जब यह संसार दुर्गन्धि की वेदी पर चला जाएगा। दुर्गन्धि में अग्नि प्रदीप्त होती चली जाएगी। यह संसार अपने को द्वेष की अग्नि में नष्ट करता चला जा रहा है। वह समय बहुत निकट आ रहा है जब यह मानव अग्नि की वेदी पर आ करके यह अपने को अपने विचारों से भस्म कर लेगा। वायुमण्डल के परमाणुओं से आज के विज्ञान को दृष्टिपात करके आज का वैज्ञानिक भी अभिमान में प्रदीप्त हो रहा है, क्योंकि अभिमान में है। आगे तो (प्राचीन काल में) इनसे भी ऊँचे वैज्ञानिक हो गए हैं और होते रहेंगे, परन्तु तुम अभिमानी क्यों बनते हो ? अभिमान में तुम्हारा विनाश है। इसलिए यदि तुम्हें इस विनाश से बचना है और सुरक्षा के मार्ग को स्थिर करना है तो यज्ञ-कर्म किए जाओ। (बाईसवाँ पुष्प-प्रथम प्रवचन)

आज के समाज में एक मानव दूसरे का भक्षण कर रहा है। वह

एक-दूसरे के रक्त का प्यासा है। एक धर्म को न जान करके अधर्म के मार्ग पर चलता हुआ उसी को धर्म समझ रहा है। इस अग्नि को शान्त करने के लिए मानव के पास कोई चारा नहीं। यदि कोई है भी तो उसे अपनाने को तैयार नहीं। यदि राष्ट्र का तथा संसार का प्रत्येक मानव यज्ञ करना आरम्भ कर दे तो उसके परमाणु अशुद्ध परमाणुओं को निगलकर शुद्ध वातावरण बना सकते हैं। आज का वैज्ञानिक भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि इन अशुद्ध परमाणुओं को शान्त करने का केवल एक ही उपाय है कि गो-रस तथा गो-घृत को अग्नि में प्रदीप्त करने से जो परमाणु उत्पन्न होंगे, वे उन्हें निगल सकते हैं। इसके अतिरिक्त कोई ऐसी शक्ति नहीं जो इन्हें निगल सके। किन्तु आज का राष्ट्रीय विचारधारा वाला पुरुष गो-रस को, अग्नि में प्रदीप्त करने को पाखण्ड कहता है। जब उसके मस्तिष्क में पाखण्ड की अग्नि प्रदीप्त हो रही है, वह (अग्नि) उसको स्वयं निगलती चली जाएगी। अतः यदि मानव को सात्विकता तथा मानवता को अपनाना हो तो उसको यज्ञ करना श्रेष्ठ है। इससे अग्नि का शोधन तथा देवत्व का शोधन होता है। (सोलहवाँ पुष्प ४-८-७१ ई.)

भौतिक-यज्ञ से लाभ

महर्षि याज्ञवल्क्य ने यज्ञ को संसार की नाभि की उपमा दी है। जब ब्रह्मा के विचारों, नाना प्रकार के पदार्थों और वेद-मन्त्रें के विचारों का एक समावेश हो जाता है तो वह एक प्रकार से ब्रह्माण्ड की नाभि मानी जाती है। (ग्यारहवाँ पुष्प २०-१०-६२ ई.)

जहाँ मानव यज्ञ-कार्य करता है, वेद के मन्त्रें से ज्ञान-वर्षा करता

है सुगन्धि देता है तो यह सुगन्धि वायुमण्डल में जाकर वातावरण को सुन्दर बना देती है। जब वायुमण्डल सुन्दर बन जाता है तो राष्ट्र श्रेष्ठ बन जाता है। राजा और राजलक्ष्मी इस प्रकार यज्ञ करने में संलग्न हो जाते हैं तो प्रजा स्वयं करने लगती है। जब प्रजा यज्ञ करती है तो वायुमण्डल सुगन्धि से भर जाता है। उस काल में समय पर वर्षा होती है। सब कार्य समय पर होकर राष्ट्र में स्वर्ग आ जाता है। (नौवाँ पुष्प २८-७-६७ ई.)

मानव की प्रतिभा समाप्त होने पर करोड़ों वर्षों के संस्कार आकर दैत्य रूप धारण कर लेते हैं। इनको नष्ट करने का सर्वश्रेष्ठ साधन यज्ञ है। यज्ञ ही मानव को देवता के तुल्य बना देता है। जो मानव यज्ञ को निष्काम भाव से करता है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। (उन्नीसवाँ पुष्प ६-३-७३ ई.)

राजा के राष्ट्र का निर्माण केवल यज्ञ के द्वारा होता है। यज्ञ करना उसका कर्त्तव्य है जिससे प्रजा में सुख-शान्ति, आनन्द तथा पवित्रता आ जाए। राजा जिस कार्य को करता है, प्रजा भी उसे ही करती है। इस प्रकार वह राजा का अनुकरण करके पवित्र बन जाती है। संसार में यही होता है कि जिसको हम ऊँचा स्वीकार कर लेत हैं, उसके अनुसार चलने की चेष्टा हमारे मस्तिष्क में आ जाती है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १३-२-७१ ई.)

राजा ऋणों से तभी उऋण होता है जब वह राष्ट्र में छः माह के यज्ञ करने वाला हो। वह अश्व-मेध-यज्ञ करे, अजय-मेध-यज्ञ करे। अजय कहते हैं प्रजा को। अतः जब राजा और प्रजा मिलकर यज्ञ

करेंगे तो राजा के राष्ट्र में, यज्ञों का अनुष्ठान हो जाएगा। प्रजा उसका अनुकरण करेगी। प्रजा में वह सुगन्धि होगी। विचारों में भी दुर्गन्धि न रहकर सुगन्धि ही सुगन्धि होगी। (सोलहवाँ पुष्प १७-१-७१ ई.)

यज्ञादि कर्मों से समाज में एकता तथा अखण्डता की दृष्टि आ जाती है।

भौतिक-यज्ञ की वैज्ञानिक प्रक्रिया

यज्ञ एक प्रकार का विज्ञान है। हमारे यहाँ जितना भी विज्ञान है उसका निकास यज्ञ के आधार पर ही होता है। साकल्य में प्रत्येक प्रकार के पदार्थ होते हैं जैसे.सुगन्धियुक्त, पौष्टिकतायुक्त, नाना प्रकार की समिधाएँ आदि।

इसी यज्ञ से वृष्टि, पुत्रेष्टि, विजय आदि प्राप्त की जाती है, आदि-आदि वेद ने यज्ञ करने का आदेश इसीलिए दिया है। वेद तो स्वयं यज्ञ स्वरूप है। उसमें ज्ञान है, विवेक है, विचार है। जब ज्ञान और विवेक का विचार किया जाता है तो उन विचारो ेसे गृह पवित्र होते हैं, राष्ट्र पवित्र होते हैं, वायुमण्डल पवित्र होते हैं। इसीलिए वेद नाम भी यज्ञ-स्वरूप को ही कहा गया है। (सोलहवाँ पुष्प १६-१०-७१ ई.)

विज्ञान को ही यज्ञ कहते हैं। हमारे यहाँ यज्ञों की प्रक्रिया बहुत ही महत्ता में परिणत रही है। परन्तु यज्ञों में सर्वप्रथम जो यज्ञ है, वह है जिसमें हमारी भावना अशुद्ध न हो किसी भी प्रकार से हमारा मन अशुद्ध न हो। हम शुद्ध संकल्प वाले बनें। (पच्चीसवाँ पुष्ठ प्ष्ठ-४९)

भौतिक-यज्ञ से भौतिक-विज्ञान की उत्पत्ति होती है। महर्षि

भारद्वाज अपने शिष्यों सहित यज्ञशाला में यज्ञ की रचना करते समय यह दृष्टि में रखते थे सुगन्धिदायक औषधियों को पान करना, विचारों से औषधियों तथा सामग्री को पवित्र बनाना, उसके पश्चात उसकी आहुतियाँ देना, आहुति 'स्वाहा' कह कर अग्नि में अर्पित करना। अग्नि वह है जो इस संसार में प्रदीप्त हो रही है। उस अग्नि के समीप प्रार्थनाबद्ध होकर जो कार्य किया जाता है 'यज्ञ-आस्वाति कहलाता है। (सोलहवाँ पुष्प १६-१०-७१ ई.)

यज्ञ इतनी सूक्ष्म वस्तु है कि उसमें स्वाहा उच्चारण करने से आहुतियों की जो सुगन्धि जाती है उसको देवता प्राप्त करते हैं। उसे सूर्य की किरणों, वायु, अग्नि, जल निगल जाते हैं तथा ये (आहुतियाँ) अन्तरिक्ष में परिणत हो जाती हैं।

जब क्रोध के साथ यज्ञ में आहुति देते हैं तो देवता उसे स्वीकार नहीं करते। शरीर में कार्य करने वाले देवता वायु, जल, अग्नि आदि उस मानव के सुकृत को हनन करते चले जाते हैं।

सुकृत ही तो मानव का जीवन है उसके न रहने पर मृत्यु हो जाती है। मृत्यु उसी को कहा जाता है जब क्रोध की मात्र के प्रभाव से देवता को भी ठुकरा दिया जाता है।

यज्ञ में देव-पूजा होती है। जब मानव के हृदय तथा परमात्मा के हृदय दोनों का समन्वय हो जाता है तो यज्ञ सफल हो जाता है। दोनों के मध्य क्रोध हो जाने पर यज्ञ में असफलता आ जाती है। वह उस गहन अन्धकार में चला जाता है जहाँ उसे कोई प्रकाश नहीं मिलता। (बीसवाँ पुष्प पृष्ठ-८०)

यज्ञ करने से सूक्ष्म-सूक्ष्म परमाणु वायुमण्डल में जाते हैं तो वे और भी सुन्दर हो जाते हैं। सूर्य की किरणों में जाते हैं वहां उनका और भी शोधन होता है। सूर्य से वे परमाणु चन्द्रमा से जाकर छूते हैं जो बड़े तेजस्वी परमाणु थे वे एक दम शीतलता में पहुँच गए तो उन्हीं से चन्द्रमा की कान्ति द्वारा रत्न जैसी धातुएँ बन गईं। यज्ञ करने से बहुत लाभ हैं। पर्वतों में स्वर्ण की उत्पत्ति होती है, रत्नों की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी से नाना सुगन्धि उत्पन्न होती है, इसी से सुव्यवस्थित वर्षा होती है। (आठवाँ पुष्प १०-१२-६६ ई.)

यज्ञ की सुगन्धि पर अनुसन्धान

अनुसन्धान करने का नाम ही यज्ञ है। आयुर्वेद के अनुसार अग्नि को ८५ प्रकार का माना गया है। परन्तु वेद का ऋषि सहस्रों प्रकार की अग्नि स्वीकार करता है।

अग्नि की धाराओं के परमाणुओं का वायु से मिलान होता है। ये परमाणु वायु में रमण करते हुए अन्तरिक्ष में जाते हैं, अन्तरिक्ष से द्यु-लोक को प्राप्त होते हैं।

यह शब्द वायुमण्डल को बनाता है, वायुमण्डल को बनाना भी यज्ञ है। अतः मानव को अपने शब्दों की रक्षा करनी चाहिए। जितना तपा हुआ मनुष्य यज्ञ को करता और कराता है उतनी ही यज्ञ की तरंगें श्रेष्ठ होती हैं तथा देवता उतना ही उन्हें ग्रहण करते हैं और उनके बदले मधुरता देते हैं। (उन्नीसवाँ पुष्प ६-३-७३ ई.)

समिधाओं में अग्नि विराजमान है, इसीलिए वे भस्म होती हैं। यदि उनमें अग्नि न होती तो अग्नि में उनका स्वाहा नहीं हो सकता।

जब वे (समिधाएँ) अग्नि में प्रविष्ट हो करके सूक्ष्म अग्नि को साकार अग्नि में परिणत कर देते हैं तो वह अग्नि प्रदीप्त हो जाती है, वह अग्नि प्रकाश देने वाली बनती है।

वह अग्नि सूक्ष्म बन करके द्यु-मण्डल में, देवताओं की आभा में मन्थन की जाती है, जब अग्नि का मन्थन होता है तो कुछ अग्नि द्यु-लोक को प्राप्त हो जाती है, कुछ अग्नि-लोक में प्रदीप्त हो जाती है। वह जो द्युमंडल की अग्नि है, वही अग्नि नाना प्रकार की विद्युत बन करके अणुओं में भी प्रविष्ट होती रहती है, परमाणुओं में भी परिणत रहती है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म अणु में भी विराजमान रहती है। वही लोक की अग्नि दो रूपों में बनी लोक की अग्नि तथा वैश्वानर नाम की द्यु-लोक को प्राप्त होने वाली अग्नि। (छब्बीसवाँ पुष्प ३१-७-७३ ई.)

अग्नि सप्त-जिह्वा कहलाती है। इसकी एक-एक जिह्वा से एक-एक सहस्त्र जिह्वाओं का जन्म होता है। उस सहस्त्रवीं जिह्वा से, प्रत्येक से निन्यान्वें-निन्यानवें (९९-९९) जिह्वाएँ निकलती हैं। उन निन्यानवीं जिह्वा से पुन प्रत्येक से एक सहस्त्र जिह्वाओं का जन्म होता है। इसीलिए जब इस ज्योति की अग्नि के ऊपर शब्द विराजमान होकर भयंकर गति को प्राप्त हो जाता है तब शब्द द्यु-लोक में रमण करने लगता है।

इस प्रकार अग्नि की ६९ करोड़ ३० लाख धाराएँ द्युलोक में समाहित होती हैं। तब तो विचार द्यु-मण्डल में जाता है तो वह विद्युत् जागरूक होकर नाना रूपों में उनकी ज्योति जग जाती है।

इस द्यु-लोक की अग्नि का घृत है कि ये सूक्ष्म रूपों से जो यज्ञ किए जाते हैं अथवा जागरूक की जाती है तो इस विशेषता के बल पर ही उस घृत का सूक्ष्म रूप बन करके द्यु-लोक में प्रसारित हो गया। अतः द्यु-लोक की ज्योति को जागरूक करने के लिए वही घृत कार्य कर रहा है। घृत काऽसूक्ष्म रूप बन करके इस लोक से स्थूल अग्नि के द्वारा जाता है। वह सूक्ष्म रूप बनकर सूक्ष्मता को प्राप्त होता है। (अठारहवाँ पुष्प १७-३-७२ ई.)

यज्ञशाला में जो अग्नि प्रदीप्त होती है, उसका स्वभाव है, ऊर्ध्वगति होना। उसके ऊर्ध्वगति होने का कारण यह है कि जितनी विद्युत् की गति है, महत्ता है, सूक्ष्म अग्नि की जो चेतना है वह अन्तरिक्ष में ओत-प्रोत है, सूर्य की किरणों में ओत-प्रोत है, नाना तारा मराडलों में ओत-प्रोत है। इसलिए उसकी ऊर्ध्वगति हो जाती है। वायु भी ऊर्ध्वगति को ग्रहण करने लगती है।

वह जो ऊर्ध्वगति है उसी में व्यापकवाद होता है। उसमें ही एक महान प्रसारण-शक्ति है। वह जो प्रसारण-शक्ति होती है वह मानव के विचारों को वायुमराडल में ऐसे प्रसारित कर देती है जैसे यज्ञशाला की अग्नि सुगन्धि को लेकर वायु को दे देती है। वायु उस सुगन्धि को देवताओं को अर्पित करती चली जाती है। (बाईसवाँ पुष्प २८-३-७४ ई.)

अग्नि हमारी त्याग-भावनाओं को लेकर घृत-सामग्री आदि को अन्तरिक्ष में रमण कर देती है, उसे देवता ग्रहण करते हैं। देवता उसको ग्रहण करके हमारे लिए सुख वृष्टि करते हैं। जब हम

सांसारिक भौतिक यज्ञ करते हैं तो इस यज्ञ की वासनाएँ, दी गईं आहुतियाँ देवताओं तक जाएँगी। हमारी प्राण-सत्ता पवित्र होगी, प्राण-सत्ता पवित्र होने पर हमारे मल विक्षेप शान्त होगें। हमारी आत्मा निर्मल और उज्ज्वल वन करके परमात्मा के समीप जाएगी। वहाँ परमात्मा का ऊँचा स्थान 'ज्ञान' इसको प्राप्त हो जाएगा। (सातवाँ पुष्प ७-११-६३ ई.)

अग्नि तथा वायु का उद्गाता और अध्वर्यु रूप

अग्नि को यज्ञ का अध्वर्यु कहा जाता है। उद्गाता का अभिप्राय केवल अग्नि और वायु दोनों की पुट हुआ करती है। उस समय वायु उद्गाता तथा अध्वर्यु कहलाता है। अग्नि वायु की सहकारिता से तथा उसके मिलान से ही अध्वर्यु कहलाता है। वायु अग्नि के साथ मिश्रण होने से तथा उसमें प्राप्त होने से, व्यापक होने से उद्गाता कहलाता है। वायु ही तो सामगान गाती है। कहीं-कहीं अग्नि को उद्गाता तथा वायु को अध्वर्यु कहा जाता है क्योंकि वाणी का सम्बन्ध अग्नि से होता है।

कहीं वायु को उद्गाता माना गया है, कहीं अग्नि को। इस सम्बन्ध में वायु मुनि तथा उनकी विचारधारा करने वाले अन्य आचार्योंर्ं ने कहा है कि यदि हम इस संसार में उज्ज्वल स्वरूप को लेकर चलते हैं तो वायु और अग्नि दोनों की सहकारिता और मिलान होने पर वह एक उद्गाता की श्रेणी या उद्गाता की कृति प्रतिपादित होती है। परन्तु वेद के ऋषि ने आगे वायु को ही उद्गाता माना है। (पन्द्रहवाँ पुष्प २१-७-७१ ई.)

मानव की वाणी का सम्बन्ध अग्नि से है। इसलिए ऋषियों ने

कहीं-कहीं इसे उद्गाता कहा है तथा वायु को अध्वर्यु कहा है।

प्रश्न है कि अग्नि उद्गाता है या वायु ?

इसका सीधा उत्तर यह है कि वायु और अग्नि दोनों की सहकारिता और मिलान होने पर उद्गाता की श्रेणी या कृति प्रतिपादित होती है। आगे वायु को ही उद्गाता माना गया है।

इसकी विवेचना कुछ इस प्रकार है।

नाभि-केन्द्र में जब एक प्रकार का प्रवाह कृत होने लगता है तो उस समय शब्द का उद्गार उत्पन्न होता है। क्योंकि वाणी का जो स्वरूप है वह अग्नि माना गया है। व्यष्टि, समष्टि में पहुँचकर विचार करने से विदित होता है कि इस शरीर में जो वाणी है, वह लोक में अग्नि मानी जाती है। अग्नि से उच्चारण किए गए शब्दों को ही उद्गात कहा जाता है।

यहाँ पर दोनों बातों में भिन्नता आ जाती है। क्योंकि जब तक प्राण का सन्निधान अग्नि के साथ नहीं होगा, तब तक किसी शब्द की उत्पत्ति होना असम्भव हैं। जैसे मानव शरीर में एक ब्रह्मरन्ध्र स्थान है जिसमें नाना वाहक सूक्ष्म नाड़ियाँ होती हैं। इसमें एक सूर्यकेतु नाम की नाड़ी होती है जिसका सम्बन्ध सूर्य से है। इस नाड़ी की बनावट इस प्रकार है कि जिस समय इस नाड़ी का चक्र चलता है और वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है, प्राण का संयम करने से मन का सन्निधान करने से अर्थात् मन, प्राण दोनों का मिलान करने से अग्नि प्रदीप्त होती है। ब्रह्मरन्ध्र की अग्नि तथा द्यु-लोक का मिलान होने पर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। अर्थात् द्यु-लोक की अग्नि का सूक्ष्म रूप

घृत बनाकर ब्रह्मरन्ध्र रूपी वेदी में आहुति दी जाती है तो अग्नि प्रदीप्त होकर सूर्यकेतु नाम की नाड़ी में गति उत्पन्न हो जाती है।

इसी प्रकार एक नाड़ी ऐसी है जिसका सम्बन्ध आरुणी-मण्डल से है। एक और नाड़ी ऐसी है जिसका सम्बन्ध ध्रुव-मण्डल से है।

जब इस नाड़ी के द्वारा १-सूर्य, २-आरुणी तथा ३-ध्रुव, इन तीनों नाड़ियों का चक्र चलता है तो मानो ये यज्ञ-वेदी में तीन समिधाएँ हैं। जब याज्ञिक पुरुष की ये तीन समिधाएँ जागरूक हो जाती हैं तो १-सूर्य-मण्डल, २-आरुणी-मण्डल और ३-ध्रुव-मण्डल का रहन सहन तथा वहाँ का विचार वह योगी स्वयं करने लगता है।

१-अब प्रश्न है कि तीनों लोकों को जानने के लिए हम अग्नि की आहुति किस प्रकार दे सकेंगे ?

इसका उत्तर यह है कि हे याज्ञिक पुरुष! यदि तू यज्ञ का अधिकारी बनना चाहता है, यज्ञ के द्वारा दूसरे लोकों में रमण करना चाहता है, नाना प्रकार के भौतिक परमाणुओं को जानना चाहता है तो तुझे मन और प्राण दोनों को सम्बन्धित करके, इनका मन्थन करके दोनों के सूक्ष्म रूप जिसको महतत्त्व कहा जाता है तथा उसे प्रकृति का बहुत ही सूक्ष्म रूप कहा जाता है उसकी आहुति देनी होगी, इसी आहुति से मानव भारद्वाज, भृगु, व्यास, सुखदेव जैसा बन सकता है।

२-उपर्युक्त तीन समिधाओं के अतिरिक्त उनके साथ तीन समिधाएँ और होती हैं। १-पृथ्वी-मण्डल की, २-एक अन्तरिक्ष-मण्डल की तथा ३-एक द्यु-मण्डल की। इनको क्रमशः १-स्वान, २-अनुतनी और ३-

कृति कहते हैं। ब्रह्मरन्ध्र में इनकी जागरूकता होने पर वह याज्ञिक तीनों लोकों की वार्त्ता जानने वाला हो जाता है। यह आध्यात्मिक-वेत्ताओं का कथन है।

३-ब्रह्मरन्ध्र में चार नाड़ियाँ और होती हैं जिनको १-स्वाति, २-अमेलनी, ३-कातनी तथा ४-रेनकेतु कहते हैं। इनको जानकर तथा इनका मिलान करके अर्थात् आहुति बनाकर देने से एक अप्रेत को प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार इन दसों समिधाओं (१-सूर्य-मण्डल, २-आरुणी-मण्डल, ३-ध्रुव-मण्डल, ४-पृथ्वी-मण्डल, ५-अन्तरिक्ष-मण्डल, ६-द्यु-मण्डल, ७-स्वाति, ८-अमेलनी, ९-कतनी और १०-रेनकेतु) का मिलान होकर चार समिधाएँ उनके ऊपर छा जाती हैं इसके पश्चात् हृदय रूपी वेदी में इन समिधाओं की आहुति लगाकर जो अग्नि उत्पन्न होती है, इससे एक महान् गति उत्पन्न हो जाती है। उसमें जो महत्ता का जन्म होता है तो उसमें संसार के लोक-लोकान्तर समा जाते हैं। उस समय प्रकृति रूपी पार्वती ब्रह्मरूपी शिव की आभा का हृदय रूपी यज्ञ-वेदी में जब नृत्य होने लगता है तथा अग्नि प्रदीप्त होकर मन और प्राण की सूक्ष्म घृत रूपी आहुति उसमें लगती है तो उस समय योगी का हृदय सब लोक-लोकान्तरों को जानने वाला बन जाता है। वह पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए इस संसार में लोकप्रिय हो जाता है, द्यु-लोक में लोकप्रिय हो जाता है। द्यु-लोक में जो महान् विशेष आत्माएँ भ्रमण करती हैं, उनमें भी ऊँची स्वर्ग की आत्माओं को वह आत्मा प्राप्त हो जाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १३-७-

७१ ई.)

यज्ञ-पद्धति की व्यवस्था

जब यज्ञ करने वाले होते हैं, तो तपस्वी ब्राह्मण भी आ ही जाते हैं क्योंकि इस पृथ्वी से उनका बीज नष्ट नहीं हुआ है। किन्तु राष्ट्र में यज्ञ-कर्म करने वालों की सूक्ष्मता हो गई है। (नौवाँ पुष्प २८-७-६७ ई.)

एक ऐसा समाज मनुष्यों का होना चाहिए, जो यज्ञ पर अनुसन्धान करे तथा इसको रूढ़िवाद में न होने दे। अनुसन्धान करके वह संसार को यह संदेश दे सके कि जितने दूषित परमाणु उसने एकत्रित कर लिए हैं, उनका विनाश केवल यज्ञ की सुगन्धि के द्वारा ही किया जा सकता है।

वह समय निकट है, जब सर्व-विज्ञान इस यज्ञवेदी के नीचे आने वाला है। आज का संसार इस बात से चिंतित है कि इस परमाणुवाद को, जो किया जा रहा है, उसका क्या बनेगा ? इससे जो अग्नि उत्पन्न होगी वह सब कुछ नष्ट कर देगी। तब इसको निगलने के लिए किसी उपाय को निकालना चाहिए।

उस समय वैज्ञानिक कहता है कि गो-घृत में कोई तत्व ऐसा है जिसमें इस विषैले परमाणुवाद को निगलने की शक्ति है। किन्तु वह अभी तक विधि को नहीं खोज सका। इस विधि को प्राप्त करने के लिए, उसे इसी भारत-भूमि पर आकर उस समाज से यह जानना होगा, जिसने इस पर अनुसन्धान किया होगा। (सोलहवाँ पुष्प १६-१०-७१ ई.)

यज्ञ का विधान

भौतिक-यज्ञ को महर्षियों द्वारा प्रतिपादित विधि-विधान से रचना चाहिए। तभी उससे प्रजा को लाभ हो सकता है। यज्ञ करने से पूर्व सुन्दर तथा महान् योजना बनानी चाहिए।

ऊँची भावनाओं से उन देवताओं का पूजन करना चाहिए जिन्हें तुम आह्वान करके द्रव्य-पदार्थ अर्पण करना चाहते हो। जब तक हम किसी ऊँचे व्यक्ति के लिए या ऊँचे देवता के लिए सुन्दर कार्य नहीं करते, तब तक वह देवता हमें न कोई महत्त्व, न वाणी, न प्रकाश न प्राण ही प्रदान करेंगे। यज्ञ के लिए सर्वप्रथम उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा यजमान का चुनाव होना चाहिए। यज्ञमान को सपत्नीक होना चाहिए।

यज्ञ करने से पूर्व वेद-मन्त्रें को जानो। उनको जानकर वेदों के अनुकूल उनके लक्षण करो। जिस पद के तुम अधिकारी हो या तुम्हें चुना जाता है, वह चाहे तुम्हारे लिए हानिकारक है, परन्तु तुम्हारा कर्त्तव्य है कि उनका पूर्णरूपेण पालन करो।(दूसरा पुष्प ७-१-६२ ई.)

यज्ञशाला में कर्मकाण्ड की पद्धति का मानव जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। यज्ञशाला में चार प्रमुख व्यक्ति होते हैं १-ब्रह्मा, २-अध्वर्यु, ३-उद्गाता और ४-यजमान। ये चारों व्यक्ति महान् होते हैं।

इनको चुनने वाला व्यक्ति तपस्वी आनन्दवत् ब्राह्मण होता है। ऐसे व्यक्ति को चुना जाता है, तो मन वचन कर्म से यथार्थ हो तथा अपनी मानवता के संकल्प में पूर्ण हो। (इक्कीसवाँ पुष्प १७.)

यज्ञ के समीप प्रसन्न मन से जाना चाहिए

मुझे वह काल स्मरण आ गया। एक ऋषि का अनुसन्धान किया हुआ विचार मुझे स्मरण आ गया है। एक समय महर्षि भुञ्जू हुए हैं, जिनके पिता त्रेतकेतु ऋषि हुए हैं, त्रेतकेतु ऋषि ब्रह्मवेत्ता भी थे। जहाँ ब्रह्मवेता थे वहाँ विज्ञानवेत्ता भी थे। त्रेतकेतु एक समय अपने आसन पर विराजमान थे, एक वेद मन्त्र उनके स्मरण आ गया 'चित्रम् सन्फन् घृष्म यस्वताः यथा चन्द्रही मृत लोकाः' यह वेद का मन्त्र जब स्मरण आ गया तो इस पर अनुसन्धान करने लगे। भयंकर वन में शान्त मुद्रा में, नाना सामग्री एकत्रित है। विचारने लगे कि यह वेद मन्त्र क्या कहता है ? त्रेतकेतु ऋषि ने उड़ान उड़नी प्रारम्भ की और उड़ान उड़ते हुए उनके द्वारा भौतिक यन्त्र भी विराजमान थे। वे भौतिक विज्ञानवेत्ता भी थे। हिमालय की कन्दराओं में उनकी एक अनुसन्धानशाला थी। उस अनुसन्धानशाला में विचार विनिमय करने लगे चित्रें में उन चित्रवलियों को दृष्टिपात करने लगे तो वे याग करने लगे। परन्तु जब वेद का मन्त्र स्मरण आया तो वे विरह में रमण करने लगे। जब याग कर रहे थे तो समिधा उनके समीप थी। उस समिधा को लेकर के जब उन्होंने उस अग्नि का स्वाहा किया तो वह समिधा का साकल्य जब ऊर्ध्वगति को रमण करने लगा तो इसमें एक विवेकी ऋषि आए, ऋषि का नाम था सौवृतकेतु। सौवृतकेतु ऋषि महाराज यज्ञशाला में विराजमान हो गए। उनका अन्तरात्मा उस समय तो दुःखित था। मूल कारण क्या था कि वे तपस्या कर रहे थे, तप करते-करते सिंहराज के प्यारे पुत्र से उन्हें मोह हो गया और इतना अतिमोह हो गया कि वे उसे अपने कंठ में स्नेह युक्त रहते।

उस सिंहराज के पुत्र की मृत्यु हो गई। जब वह मृत्यु से दुःखित हो रहे थे। वे दुःखित हो करके शान्ति के क्षेत्र में जाना चाहते थे। ऋषि श्वेतकेतु जब याग कर रहे थे तो यज्ञशाला में विराजमान हो गए तो श्वेतकेतु ऋषि जहाँ याग कर रहे थे वहाँ अनुसन्धान भी कर रहे थे। अनुसन्धान करते हुए जब वैज्ञानिक चित्रें में वे जो स्वाहा उच्चारण करते थे, ऋषि भी मन्त्र उच्चारण कर रहे थे तो वायुमण्डल में जो परमाणु और शब्द के साथ में चित्र गति कर रहा था, उस चित्र में कुछ विरह के कण उनके यन्त्रें में दृष्टिपात होते थे। याग समाप्त कर दिया। श्वेतकेतु ऋषि, ऋषि से बोले कि हे ऋषि ! तुम ऋषि हो कर विरह में विराजमान हो। ऋषि कहता है कि महाराज ! यह आपने मेरे विषय में कैसे जान लिया। उन्होंने कहा कि जहाँ मैं याग कर रहा हूँ वहाँ अनुसन्धान भी कर रहा हूँ। वहाँ मैं अपने यन्त्रें में, चित्रवलियों में तुम्हारे शब्द के जो कण हैं, शब्द के साथ में जो चित्र अन्तरिक्ष में जा रहे हैं वह चित्र मेरे इस यन्त्र में गति कर रहे हैं तुम्हारा चित्र आ रहा है, यह तुम्हारा विरह का चित्र है, व्याकुलता का चित्र है, मैं इसके मूल को जानना चाहता हूँ।

ऋषि बोले कि प्रभु ! वास्तव में मुझे विरह है। मुझे ममता ने मेरे हृदय को विदीर्ण कर दिया है। उन्होंने कहा कि ऐसा क्यों ? मैं अपने मदरूपेन्द्र राजा के यहाँ पुत्र हूँ औरमदकेतु राजा के यहाँ अपने माता-पिता से आज्ञा पा करके मैंने तपस्या प्रारम्भ की। मैंने श्रुरत्तम् प्रातक केतु महाराज को अपना पूजनीय स्वीकार करके तप करने गया। पत करते-करते मेरा तप नितान्त (पराकाष्ठा) में चला गया। मेरे

तप की कोई सीमा न रही। परन्तु मुझे एक सिंहराज के पुत्र से मोह हो गया और कुछ काल पश्चात् उससे मुझे विरह हो गया क्योंकि वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। मैं उसके विरह में हूँ। मेरे अन्तरात्मा में शान्ति नहीं आ रही है।

जब ऋषि ऐसा उच्चारण करने लगे तो भुञ्जू के पिता त्रेतकेतु ऋषि कहते है तुम्हें मेरी यज्ञशाला में विराजमान होने का क्या अधिकार था? क्योंकि मेरी यज्ञशाला में तो प्रसन्नचित हो करके विराजमान होना था। यह देवताओं का पूजन है, जब मैं देवताओं का पूजन कर रहा था, देवताओं के चित्रें को चित्रण करता हुआ अपनी विज्ञानशाला में यन्त्रें को जान रहा था तो तुमने मेरे से आज्ञा क्यों नहीं ली कि मैं तुम्हारी यज्ञशाला में विराजमान हो सकूँ ? त्रेतकेतु ऋषि ने कहा, तू वेद का ऋषि है, वेद का मन्त्र स्मरण कर, वेद का मन्त्र क्या कहता है ''मन्चाम् ब्रह्म लोकाः देवन्तम् पूजानासी कृतो रुद्रः।'' वेद का ऋषि यह कहता है कि यज्ञशाला के समीप वह प्राणी आना चाहिए, जिसका चित्त प्रसन्न हो और जिसका चित्त प्रसन्न न हो, विरह में हो उस मानव को यज्ञशाला से दूर विरामान हो करके वेद का मन्त्र स्मरण और याग की सु-स्वाहों से उनके शब्दों को श्रवण करना। यह तो विमान है, यह ऋषि मुनियों का देव-पूजन करके देवता बनने का विमान है। उस यज्ञशाला के समीप वही मानव आता है, जो देवता बनना चाहता है और देवता वह होता है, जो मृत्यु को विजय कर लेता है।

यजमान कौन होता है जो यज्ञ के समीप वहाँ विरामान होने जा

रहा है, जो मृत्यु के समीप नहीं है, जो जीवन के समीप होता है, जो प्रकाश के समीप होता है, अन्धकार उसके निकट नहीं है। जब ऋषि ने ऐसा कहा कि हे ऋषि! तुम्हें कोई अधिकार नहीं था। परन्तु चलो कोई बात नहीं तू भी राजा भारत्केतु का पुत्र है। मुझे बहुत प्रसन्नता है, तुम्हारे हृदय को प्रभु शान्ति तो अवश्य देगा। जब ऋषि ने यह कहा कि "तपस्यम् ब्रह्म लोका" तप में मोह का क्या कार्य ? मोह करना है तो अपने तप से करो, तप से भी मोह न करो, मन्त्र कहता है, "तपम् मोह वृत्ति कृताः" एक वेद का मन्त्र कहता है "तपम् मृत्यु अस्तो न पन्थव वृही वृताः" इससे भी प्रीति न करो, तप से भी प्रीति न करो, तप करते ही जाओ परन्तु तप से भी प्रीति न करो। जब वेद का ऋषि यह कहता है तो मानव मौन हो जाता है और विचारता है कि तपस्या क्या है? "मानव ब्रह्मी वृताः" जब ऋषि श्रेतकेतु ने इस प्रकार के वाक्य ऋषि को प्रकट कराए तो ऋषि का हृदय, जिसमें दबे हुए निचले स्थल में संस्कार थे, वह मोह के कारण दमन हो गए थे। वह ज्ञान की अग्नि प्रदीप्त हो गई। वे जो तप के संस्कार थे वे उद्बुध हो गए और उद्बुध हो करके "ऋषि मौनाः ब्रह्मे वृता गृहे" हे भगवान्! मेरे मोह का आवरण समाप्त हो गया। मेरे मोह का कार्य समाप्त हो गया। मुझमें प्रकाश हो गया है। (तीसवाँ पुष्प २०-५-७६ ई.)

याग के प्रमुख व्यक्तियों की योग्यता तथा कर्त्तव्य

पूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज किसी पूर्व जन्म में महर्षि श्रृंगी के रूप में थे। उनकी सप्तवर्षीय शिष्य (बालिका) से प्रश्नोत्तर.

यजमान

प्रश्न १. यज्ञ में होताजन, ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि का क्या कर्त्तव्य है तथा उनको कैसा होना चाहिए ?

उत्तर.यजमान ऐसा होना चाहिए कि वह अपने जीवन में अभद्र-विनोद भी न करे, अभद्र-विनोद आ जाने पर उसकी मानसिक प्रवृत्तियों में अन्तर्द्वन्द्व आ जाएगा। वह सपत्नीक यज्ञ में सम्मिलित होता है। जब तक यज्ञ समाप्त नहीं हो जाता वह परमात्मा का चिन्तन ही करता रहता है। यदि इसके अतिरिक्त वह और कोई विषय लेता है तो उसको यज्ञशाला से दूर कर देना चाहिए क्योंकि वह यज्ञ के योग्य नहीं रहता।

योग्य-अयोग्य का विवेचन हमारे धर्म-शास्त्रें तथा वैदिक-पद्धतियों में आता रहता है। यदि किसी प्रकार की द्वेष की मात्र आ जाए तो उसके परमाणु यज्ञ में स्वाहा किए जाते हैं। उससे यजमान के सुकृतों का हनन हो जाता है।

अतः यदि यज्ञशाला में प्रतिष्ठित होने के पश्चात् कोई सांसारिक विषय उसके समीप आए तो उस पर भी गम्भीरता से मानवीय पद्धति के आधार पर ही विचार-विनिमय करना चाहिए। सपत्नीक यजमान का भी परस्पर पति-पत्नी में भी अभद्र-विनोद नहीं करना चाहिए।

प्रश्न २. सन्तुष्टि नहीं हुई। यजमान क्या होता है ?

उत्तर.यजमान उसे कहते हैं जो हव्य होता है, हव्य-होता वह होता है जो हवि देता है। वह अपने दुर्गुणों की हबि देता है। जो यजमान दुर्गुणों की हबि देता है उसे याजक कहते हैं। याजक का

अभिप्राय यह है, जो दूषितों से जागरूक रहे। अतः यज्ञ का रूपान्तर यह भी है कि यजमान को जागरूक रहना चाहिए। जागरूक रहने का अभिप्राय यह है कि वह नाना प्रकार की आपत्तियों तथा पापकृत्यों से वियोग रखे। जागरूक रहने का अर्थ यह नहीं कि वह निद्रा में तल्लीन न हो! निद्रा से तो आत्मा तथा मन अपना भोजन लेते हैं। निद्रावासी को निद्रा नहीं कहते। निद्रा उसे कहते हैं जो अपने विषयों से वियोग नहीं रखता तथा जागरूक नहीं रहता। ऐसा मानव न होने के तुल्य है।

अतः यज्ञ उसी का होता है जो याज्ञिक होता है अर्थात् जो अपने शरीर का यज्ञ करता है। दूषितपन उसके समीप नहीं आता दूषितपन आ जाने पर वह यज्ञ नहीं रहता। याज्ञिक वही पुरुष होता है जिसकी ब्रह्म में प्रतिष्ठा होती है, ब्रह्म में ही जिसकी विचारधारा होती है तथा जिसका अन्तरात्मा ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित रहता है।

प्रश्न ३. सन्तुष्टि नहीं हुई। यजमान क्या होता है ?

उत्तर.यजमान उसे कहते हैं जो यज्ञ का मान करता है। यज्ञ का मान वही करता है जो अन्तरात्मा का मान करता है। जो अपनी अन्तरात्मा से अनुकूल कार्य नहीं करता वह किसी काल में भी यज्ञ का मान नहीं कर सकता। अन्तरात्मा का मान वही करता है जो निष्ठावान होता है। निष्ठावादी वही होता है जो ब्रह्म से भयभीत होता है। उसकी ब्रह्म में प्रवृत्ति होना ही तो यज्ञ कहलाया गया है।

प्रश्न ४. सन्तुष्टि नहीं हुई। यजमान क्या होता है ?

उत्तर.यजमान उसे कहते हैं जो योनि का मान करता है। योनि

कहते हैं यज्ञ-वेदी को। यह अग्नि की योनि होती है, अग्नि की योनि यजमान का हृदय है। वह ज्ञान-रूपी अग्नि में परिपक्व रहता है। ज्ञान में ही ब्रह्म है। ब्रह्म की प्रतिष्ठा यजमान में प्रदीप्त रहती है।

प्रश्न ५. सन्तुष्टि नहीं हुई। यजमान किसे कहते है ?

उत्तर.यजमान उसे कहते हैं जो किसी से द्वेष नहीं रखता। द्वेष अन्तरात्मा से उत्पन्न होता है। अतः अन्तरात्मा का जो द्वेष होता है उसमें क्रोध तथा दुर्गणों की मात्र अधिक होती है। दुर्गुणों को अपनाने वाले का जीवन नष्ट हो जाना चाहिए तथा उसे अपने जीवन को सदैव धिक्कारना चाहिए।

यजमान वह होता है जो निर्भय होता है। परमात्मा का भय भी उसी को होता है जो अपराधी होता है। जो परमात्मा के नियम तथा सिद्धान्त के अनुकूल अपना कार्य करता रहता है उसे परमात्मा का भय भी नहीं होता। परमात्मा उसे उपनी लोरियों में धारण कर ही लेता है।

ब्रह्मा

प्रश्न ६. ब्रह्मा क्या होता है ? (कौन और कैसा)

उत्तर.जो वेद को अमृत जानकर पान करता है तथा उसको अमृत स्वीकार करता है। अशुद्धियों से दूर रहता है। उसके नेत्रें में तथा मन, वचन और कर्म में यथार्थता होती है। ऐसे महापुरुष को यज्ञ में ब्रह्मा का स्थान देना चाहिए। यजमान का कर्त्तव्य है कि यज्ञशाला में उसको आसन दे तथा उसका पूजन करे।

ब्रह्मा उसे कहा जाता है जो ब्रह्म को जानता है। जिसकी निष्ठा

ब्रह्म में हो तथा जिसका जीवन ब्रह्म के ध्यान में परिणत हो जाता है। जिस ब्राह्मण का एक७एक श्वास ब्रह्म से दूर न हो उसको ब्रह्मा कहा जाता है।

ब्रह्मा उसे कहते हैं जो यज्ञशाला में प्रतिष्ठित होता है। यज्ञशाला उसे कहते हैं जहाँ निर्माण होता हो। विचारों तथा प्रवृत्तियों का चुनाव होता हो। शाला का अभिप्राय यह है कि जहाँ आभूषणों को अपनाया जाता हो। आभूषणों को अपनाने के पश्चात् उसकी प्रवृत्तियों में महत्ता का दिग्दर्शन होने लगता है, उसे ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाला पुरुष कहते हैं, क्योंकि उसकी ब्रह्म में निष्ठा हो जाती है। ब्रह्मा उसे कहते हैं जो राजा का भी पुरोहित होता है, वह राजाओं का भी अधिराज होता है। वह यज्ञशाला में प्रविष्ट होकर कर्मकाण्ड में परिणत होता है। वह विधान का निर्माण जानता है। ईश्वरीय तथा वैदिक पद्धति को लाने वाले को ब्रह्मा कहते हैं। जिसकी ब्रह्म में निष्ठा हो, उसका आत्मा-परमात्मा में संलग्न होकर दोनों का मिलान हो गया हो। वह ब्रह्म तथा जनता-जनार्दन में समाधिस्थ हो जाता है। वह दोनों प्रकार की समाधि जानता है। उसके विचार उसके समीप आने लगते हैं। पशु पक्षी, मृगराज, मानव सभी प्राणीमात्र के लिए उसके उज्ज्वल तथा महान् विचार व्यक्त होने लगते हैं। वह ब्रह्मवत् को प्राप्त होता हुआ ब्रह्म की सृष्टि में किसी भी काल में पाप कर्म नहीं करता।

अध्वर्यु

वह श्रम करने वाला हो। एक सुन्दर प्रतिभा उसके समीप हो, उसके संरक्षण में सुन्दर सामग्री तथा साधन होने चाहिएँ जिससे वह

अच्छी प्रकार अपना कर्तव्य पूरा कर सके।

उद्गाता

यह उद्गान गाने वाला हो, उद्गम उसके विचार हों, वह संसार में उद्गमता से मानवता की प्रतिष्ठा में तत्पर रहे। (इक्कीसवाँ पुष्प १७-२-७० ई.)

महाराजा अश्वपति के वृष्टि-यज्ञ में परीक्षा

उद्गाता :.इस यज्ञ में चाक्रायण उद्गाता थे जो अत्रि गोत्र में जन्मे थे। अपने कर्त्तव्य के विषय में उसने बताया कि उद्गाता होने के नाते मैं तीन उद्गम विचारों की आहुति दूँगा। तीन प्रकार के विचार हैं तथा संसार में, यज्ञशाला में तीन ही प्रकार की आहुतियाँ दी जाती हैं यथाः.१-राष्ट्रीय-आहुति, २-ब्रह्म-आहुति और ३-मानव-आहुति। जिस प्रकार यज्ञ में आहुति देने के पश्चात् ''चटाचट'' होती है, इसी प्रकार मानव शरीर रूपी यज्ञ में राष्ट्रीय क्रान्ति की ''चटाचट'' होती है। जितनी यह चटाचट रूपी क्रान्ति होगी उतना ही मस्तिष्क में राष्ट्र पवित्र होगा और उतनी ही राष्ट्रीय क्रान्ति मानव के लिए पवित्र होगी। यही एक राष्ट्रीय आहुति है। २-ब्रह्म-आहुति वह है जो मनुष्यों में प्रतिष्ठित होती है।

महाराजा अश्वपति का प्रश्न

प्रश्न : जो वेद-मन्त्रें के साथ यज्ञ में बार-बार स्वाहा देते हों, इसका क्या अभिप्राय है तथा मीमांसा है ?

चाक्रायण का उत्तर

मेरे में (तुझमें) जो नाना प्रकार की त्रुटियाँ तथा दोष हैं उनको

स्वाहा के साथ अग्नि में भस्म करके ब्रह्ममयी ज्योति को अपनाना चाहता हूँ। ये सब त्रुटियाँ अग्नि में उसी प्रकार भस्म हो जाती हैं जैसे सामग्री। मेरे शरीर रूपी यज्ञ में जो ब्रह्म-रूपी अग्नि धधक रही है उस अग्नि को इन सब त्रुटियों की आहुति देकर चेतनित करना चाहता हूँ।

इस यज्ञ में ब्रह्मा, श्रृंगी ऋषि बने तथा पुरोहित वायु गोत्र में जन्मे मोदगल ऋषि बनाए थे जो महाराजा अश्वपति के पुरोहित थे।

अध्वर्यु परीक्षा :.श्रृंगी ऋषि की बालिका शिष्या इस यज्ञ की अध्वर्यु थी।

उनसे प्रश्नोत्तर :

अश्वपति का प्रश्न : तुम अध्वर्यु कैसे बनोगी ?

कन्या का उत्तर.मुझे यज्ञ के उत्तर दिशा में (दक्षिण दिशा को मुख) आसन दिया जाए। अध्वर्यु का अभिप्राय है कि जिसकी ऊर्ध्वगति होती है क्योंकि सूर्य इस पृथ्वी मण्डल का अध्वर्यु कहलाता है। वह पूर्व से निकलता है। मानव शरीर में प्रदीप्त होने वाली अग्नि का जब सूर्य की अग्नि में समन्वय हो जाता है अर्थात् मिलान हो जाता है, तो यही अध्वर्यु का कर्त्तव्य है।

अश्वपति की पत्नी का प्रश्न :- सामग्री का साकल्य कैसा होता है ? कौन से साकल्य से तुम आहुति देना चाहती हो ? तुम्हारा साकल्य क्या है ?

उत्तर.साकल्य २४ (चौबीस) प्रकार का होता है। २४ प्रकार के साकल्य से आहुति दी जाती है।

प्रश्न : तुम कौन से साकल्य आहुति दोगी ?

उत्तर.संसार में १७ (सत्रह) साकल्य होते हैं इनकी आहुति दी जाती है।

प्रश्न : तुम कैसे साकल्य से आहुति दोगी ?

उत्तर.११ (ग्यारह) साकल्य होते हैं उनकी आहुति दी जाएगी।

प्रश्न : कौन से साकल्य से आहुति देना चाहती हो,

उत्तर.मैं दस साकल्य से आहुति देना चाहती हूँ।

प्रश्न : कौन से साकल्य से आहुति देना चाहती हो ?

उत्तर.मैं एक साकल्य से आहुति देना चाहती हूँ।

प्रश्न : इसकी मीमांसा करों।

उत्तर.जब मानव इस संसार में जन्म लेकर इसकी जानकारी करता है जो उसे चौबीस प्रकार का हर्ष होता है।

१-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच उपप्राण, मन-बुद्धि, हर्ष और शोक। (ये चौबीस का साकल्य है)

२-सत्रह प्रकार का साकल्य यह है। पाँच प्राण, पाँच उपप्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि।

३-ग्यारह प्रकार का साकल्य :.दस इन्द्रियों के साथ ग्यारहवें मन को समन्वय करके आहुति देना चाहती हूँ।

४-दस प्रकार का साकल्यः.इस इन्द्रियों से आहुति देना चाहती हूँ।

५-एक साकल्य का तात्पर्यः.एक संकल्प से आहुति देना चाहती हूँ। वह संकल्प यह होगा कि यह प्रभु का यज्ञ है। (तेरहवाँ पुष्प १-११-६९ ई.)

३-सतयुग में महाराजा महीयस के अजयमेध यज्ञ में महर्षि पापड़ी द्वारा परीक्षा :.

१-यज्ञ में तत्त्व मुनि ब्रह्मा, अतुल मुनि अध्वर्य, शुनि मुनि तथा पापड़ी मुनि उद्गाता किए गए थे।

पापड़ी मुनि का तत्त्व मुनि से प्रश्न : यज्ञ में ब्रह्मा का क्या कर्त्तव्य है ?

उत्तर.ब्रह्मा का कर्त्तव्य है कि वह देखे कि उद्गाता वेद-मन्त्र तो अशुद्व उच्चारण नहीं कर रहा है, यह पाप है। जिस प्रकार यदि बुद्धिमान् व्यक्ति का स्वागत बुद्धिपूर्वक न कर मूढ़मति से करते हैं, तो वे बुद्धिमान् हमारे पास आना छोड़ देते हैं, इसी प्रकार हमें शुद्ध वेद-मन्त्रें का उच्चारण कर उन देवताओं का आह्वान करना चाहिए जिनको हम साकल्य देना चाहते हैं। अशुद्ध उच्चारण होने पर देवता द्रव्य पदार्थों को कभी स्वीकार नहीं करेंगे और वह सब कर्म-काण्ड निष्फल हो जाएगा।

उद्गाताओं से प्रश्न

प्रश्न : उद्गाताओं का क्या कर्त्तव्य है ?

उत्तर.हम वेद-मन्त्रें के शुद्ध उच्चारण के साथ यजन करते हुए साकल्य तथा पदार्थों को देवताओं के समक्ष प्रस्तुत करके उनसे प्रार्थना करते हैं कि हे देवताओ ! आइए हमारे साकल्यों का, इन द्रव्य पदार्थों को ग्रहण करो। हमारे लिए प्रत्येक प्रकार से कल्याणकारी बनो।

उद्गाता का कर्त्तव्य है कि वह वेद मन्त्रें का शुद्ध उच्चारण पूर्वक

पाठ करके, वेदों की विद्याओं का प्रसार करे जिससे हमारी आत्माओं का उत्थान हो। हम देवताओं में रमण करने वाले बनें।

अध्वर्यु का उत्तर.मुझे वेदों के अनुकूल बनी सामग्री देवताओं को देनी है जिससे उनका आहार शुद्ध हो। ऐसा होने पर हमें शुद्ध प्राण-सत्ता मिलेगी और हम उस महत्ता को प्राप्त कर सकेंगे, जिससे हमारा जीवन, राष्ट्र का जीवन, संसार के मानव का जीवन ऊँचा बने और विद्या का प्रसार हो।

यजमान का उत्तर.हम आहुति देने के साथ-साथ प्रार्थना कर रहे हैं कि हे विधाता! हे देवताओ ! देवताओ! हमारे राष्ट्र में शुद्ध ज्ञान का प्रकाश हो, सद्भावनाओं वाले व्यक्ति हों जिससे हमारे राष्ट्र में घृत देने वाले पशुओं की हानि न हो, उनकी वृद्धि हो तथा राष्ट्र प्रत्येक प्रकार से विशाल हो।

यजमान की धर्मपत्नी ने बताया कि मैं इस संकल्प के साथ आहुति देती हुई याचना कर रही हूँ कि देव! हे परमात्मा! हम शुभ कार्य करते रहें। मेरे स्वामी के राष्ट्र में कोई भी मानव, देवकन्या दुराचारी न हो। बल्कि उच्च विचार वाले सदाचारी हों, जिससे मेरे स्वामी का राष्ट्र महान बने। ऐसे धर्म के कार्य प्रत्येक स्थान पर होते रहें जिससे राष्ट्र में बुद्धिमानों का प्रसार हो। बिना वेद के प्रचार के मानव में कभी सात्विक बद्धि नहीं आती है।

ऋत्विजों के उत्तर.हम आहुति देते हुए परमात्मा से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे विधाता ! हमारे में जो दुगुर्ण तथा दुर्गन्धियाँ हैं उनको समाप्त करके हमारे में सुगन्धि प्रविष्ट करो, इससे हमारा जीवन

सुगन्धिदायक तथा महान् बनेगा, हम राष्ट्र के तथा संसार के हितैषी बनेंगे,हम हर प्रकार से हितैषी बनकर, संसार को सुख पहुँचाकर देवताओं के समक्ष पहुँचेंगे। (दूसरा पुष्प ३-४-६२ ई.)

१-यजमान : यजमान को नमः। हे यजमान! तू यज्ञ रचता है। सपत्नीक यज्ञशाला में विराजमान होता है, तू कुछ संकल्पों से इस संसार के कल्याण की भावना से सपत्नीक यज्ञशाला में आया है। तू ब्रह्मा को नमः करता है, पुरोहितों को महत्ता देता है, तू बुद्धिमानों का आदर करता है। इनके आदर से धर्म और और सदाचार संसार में आएगा। बुद्धिमानों का आदर न होने पर धर्म और सदाचार संसार में न रहेगा। राष्ट्र की एकता न रहेगी, जीवन की एकता समाप्त हो जाएगी। हमारा जीवन यज्ञमय हो, सदाचारमय हो, परमोधर्ममय हो, नम्रतामय हो। इस प्रकार का जीवन हमारा कल्याण करेगा। (आठवाँ पुष्प १४-११-६३ ई.)

श्रीमान् पूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी ने किसी जन्म में ऋषि शृँगी के रूप में अनुसन्धान करने पर जाना कि यजमान ही यज्ञ का अधिपति है, जितना उसका हृदय पवित्र होता है उतना ही यज्ञ में महान् सुन्दरता आती चली जाती है।

यदि जब यजमान के मस्तिष्क में विवाद रहता है तथा नाना प्रकार की द्वेष की मात्र रहती है, नाना क्रोध की मात्र रहती है तो यज्ञ का जो देवता है, वह यजमान के सुकृत को अपने में हनन कर लेता है। जब सुकृत हनन कर लेता है तो यजमान की जो प्रतिष्ठा होती है वह सब नष्ट हो जाती है। (बाईसवाँ पुष्प-प्रथम प्रवचन)

जिनका ऊर्ध्वगति वाला हृदय हो तथा परमात्मा की उज्ज्वलता में उसकी निष्ठा हो, वे ही यज्ञ के अधिकारी हैं। जैसे यजमान का हृदय तपा हुआ होता है उसी प्रकार उसके यज्ञ का कर्मवाद भी तपा हुआ होना चाहिए, उसी से यह संसार की महता ऊँची बना करती है। (बीसवाँ पुष्प १९-२-७० ई.)

यज्ञ के यजमानों को अपनी ऊर्ध्वगति बनानी चाहिए, उसकी वाणी से लेकर प्रत्येक इन्द्रिय की ऊर्ध्वगति होनी चाहिए क्योंकि ये इन्द्रियाँ ही यज्ञ के होता का कार्य करती हैं तथा उनके विचार-समिधा का कार्य करते हैं इसका तात्पर्य यह है कि जब इन्द्रियों के विषयों की ज्ञानपूर्वक इन्द्रियों के देवताओं को आहुति देते हैं तो उस आहुति का सूक्ष्म रूप होकर देवताओं को प्राप्त होता है।

उस आहुति के सूक्ष्म रूप के साथ में यजमान का विचार, उसकी धारणा तथा होताओं के संकल्प रमण करते रहते हैं। यह विचारों की समिधा ही द्युलोक की समिधा मानी जाती है, क्योंकि 'स्वाहा' शब्द की तरंगों का सूक्ष्म रूप बनकर द्यु-लोक में परिणत हो जाता है तथा उसी में रमण करने लगता है। हमें अपने जीवन को यज्ञमय बनाने का प्रयास करना चाहिए।

सात्विक यजमान के गृह में किसी प्रकार का आडम्बर नहीं होता और न वहाँ अच्छाइयों और ज्ञान का ही खण्डन होता है। जिन यजमानों के यहाँ अन्धकार छा जाता है, वे अच्छाइयों तथा सुन्दरता का खण्डन करने लगते हैं। ऐसे व्यक्तियों को यज्ञशाला में प्रवेश करने का अधिकार नहीं होता।

वेद कहता है, हे यजमानो ! तुम ब्रह्मा तथा उद्गाता के आदेशानुसार अपनी गति ऊर्ध्व बनाओ। शृंगी जी यजमान बनने का अधिकार उसी को देते थे जो एक वर्ष तक ब्रह्मचारी रहता था। ब्रह्मचारी उसको कहते हैं जो ब्रह्म में अपनी प्रवृत्ति को लाने वाला हो। यजमान में एक वर्ष तक क्रोध की मात्र भी नहीं आनी चाहिए। उसका पृथ्वी पर विश्राम रहता था वह कन्द-मूल फलों का पान करता था, गौ-दुग्ध का पान करना था जब इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय ब्रह्म में पिरोई हुई होती थी तो वह यजमान यज्ञशाला में प्रविष्ट होकर जो कामना करता था वह पूर्ण होती थी।

हे यजमान! तू अपने गृह में अन्धकार को न आने दे। यदि तेरे गृह में अन्धकार आ गया तो वह ब्राह्मण तथा वेद का अपमान है। जब तेरे गृह में वेद का अपमान होगा तो तुझे यज्ञशाला में जाने का अधिकार नहीं होगा। यजमान पत्नी सहित यज्ञशाला में प्रविष्ट होकर, ब्रह्मचर्य को अपनाते हुए अपने ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति बनाए।

वेद का ऋषि कहता है.''हे यजमानो! द्युलोक में तुम अपनी प्रवृत्ति को ले जाओ। हे यजमान पत्नी! तुम अपनी ऊर्ध्वगति को द्युलोक में ले जाओ। उस सूर्यमण्डल की ऊर्ध्वगति में ले जाओ जिससे तुम्हारे जीवन की आभाएँ महत्ता में रमण करती रहें। हे यजमानो! जितनी तुम्हारी ऊर्ध्वगति होगी, उतना ही तुम्हारा गृह स्वर्गमय तथा आनन्दमय बनेगा तथा जितनी गति ध्रुवा (नीची) होगी, भोग-विलासों में होगी, उतना ही तुम्हारा गृह नारकीय बनेगा, उसमें नरक का वास हो जायेगा तथा कलह का स्थल बन जाता है।

इसीलिये गृह एकसे होने चाहिए, जिनमें संकल्प के साथ यज्ञ होते हैं। वास्तव में संसार में आने का अभिप्राय यह है कि भोग-विलासों को त्यागकर गृह को स्वर्ग बनाएँ, राष्ट्र को स्वर्ग बनाएँ। यज्ञ आदि कर्म करना मानव का कर्त्तव्य है।'' (सत्रहवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई०)

यजमान की ऊर्ध्वगति हो जिससे अज्ञान इसके समीप न आये। उसमें ऊर्ध्वगति, ऊर्ध्व-विचार तथा नाना प्रकार के वैज्ञानिक विचार होने चाहिये। त्रुटियों को त्यागना तथा महत्ता को लाना उसका महान् कर्त्तव्य है। इसके अपनाने के पश्चात् जगत् महत्व को प्राप्त होतारहता है।।

(सत्रहवाँ पुष्प, २६-२-७२ ई०)

पुरोहित

पुरोहित उसे कहते हैं जो तेरे हित का हो। यजमान को उसकेअधीन बनकर कार्य करना चाहिये। उसको पुरोहित नहीं कहते जो पुरोहित बनकर यजमान को नाना प्रकार की विडम्बनाओं (छल-कपट और सन्तापन) में ले जाये। प्रथम पुरोहित तो परमात्मा है क्योंकि वह सब धर्मों का स्वामी है, उसको धर्म स्वरूप कहा गया है। उसकी प्रतिभा के कारण ही वह पुरोहित है। वास्तव में हित को चाहने वाला तथा करने वाला है। अतः वह यथार्थ में पुरोहित है, उस महान पुरोहित की याचना करते हुए हमें अपनी यज्ञशाला के लिये बुद्धिमान पुरोहित को चुनना चाहिये जिसके हृदय में पापाचार न हो। केवल घर्मज्ञ और मानवीय दृष्टि से उस मानव का जीवन साधारण प्राणियों से उन्नत हो चुका हो।

पुरोति यज्ञशाला में यजमान तथा ब्रह्मा को चुनता है। ब्रह्मा उसको चुनें जिसकी वाणी में माधुर्य, धार्मिकता और ओज की प्रतिभा हो तथा कटुता का व्यवहार नहो क्योंकि ब्रह्मा की होताओं और यजमान के प्रति कटुता से उसकी हिंसाजनक प्रवृत्ति हो जाती है, जो स्वयं उसे, वेद पाठी तथा मानव को निगलती चली जाती है।

यदि यज्ञ शाला में होतागण, उद्गाता तथा ब्रह्मा में द्रव्य की लोलुपताआ गयी या द्रव्य की प्रवृत्ति बन गयी उसका हृदय और अन्तःकरण संकीर्णता में ओत-प्रोत हो जाता है और उसी प्रकार की विचारधारा देवताओं के समीप जाती है।

यह प्रवृत्ति और किसी को नहीं खाती बल्कि उनके आत्मिक बल को ही इस प्रकार शोषण कर लेती है, जैसे.ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणें जल को सोख लेती हैं।

यजमान को प्रतिभाशाली बनना चाहिये, उसका मन शुद्ध होना चाहिये। जब मन में शुद्ध वातावरण होगा, मानवीय-संकल्प ऊँचा होगा, तो उससे प्रसारण शक्ति, व्यापकता और धर्म उसके निकट आता चला जायेगा।

जब यजमान का मन च।चल हो, उसी समय उसकी अग्नि की जिह्वा के साथ प्रवृत्ति होनी चाहिये, उस पर यजमान के नेत्रें की दृष्टि होनी चाहिये। (ग्यारहवाँ पुष्प, २०-१०-६९ ई०)

प्राचीन काल में हमारे यहाँ परम्पराओं से पुरोहित-प्रथा थी। प्रत्येक गृह में पुरोहित रहता था। पुरोहित का अभिप्राय यह है कि वह परा-विद्या में प्रविष्ट करा दे और गृह को धर्म और मानवता के

क्षेत्र में लाने का प्रयास करे। (उन्नीसवाँ पुष्प २०-३-७२ ई०)

ब्रह्मा

ब्रह्मणोऽस्वते नमः।

जो ब्रह्मा यज्ञशाला में विराजमान हो करके अपने कर्म-काण्ड के द्वारा अपने ऋत्विज होताओं को चुनौती (उत्तेजना, बढ़ावा, प्रचार) देता है, उसे नमः। ऋषियों ने कहा है कि जिस यज्ञशाला में ब्रह्मा कर्मकाण्ड से, अपने आचरणों से, अपने व्यवहारों से पवित्र न होगा तो वह यज्ञ संसार में असफल ही रह जाएगा।

हे ब्रह्मा! तुझे सदाचारी बनना है, ब्रह्मचारी बनना है। यज्ञशाला में विराजमान यजमानों को भी पवित्र बनाना तेरा कर्त्तव्य है। तेरे भाव उनके हृदय में अंकित हो जाने चाहिएँ। अतः उसी ब्रह्मा को नमः जिसके हृदय में संसार के कल्याण करने की भावना हो, जिसकी वाणी अमोघ हो, जो राष्ट्र तथा संसार के लिए लाभदायक हो। (आठवाँ पुष्प १४-११-६३ ई०)

४-अध्वर्यु उसको कहते हैं जिसकी ऊर्ध्वगति हो, जो अपने ब्रह्मचर्य-व्रत में रहने वाला हो, जिसके उद्गम और ऊर्ध्व विचार हों, जो सदैव ''इदन्नमम्'' का उच्चारण करने वाला हो। ''इदन्नमम'' का अभिप्राय यह है कि संसार में-''हमें'', ''मैं'' का अधिकार किसी काल में नहीं होता। इस संसार में कोई वस्तु कभी किसी की नहीं हो पाती। यह सब सम्पदा केवल यज्ञ का ही रूप है; इसमें किसी का कोई स्वामित्व नहीं हो पाता।

अध्वर्यु के मन में तथा हृदय में इतनी व्यापकता होती है, उसकी

सदा यह धारणा रहती है कि सम्पदा जो है यह मेरी कभी नहीं हो सकती। जितने द्रव्य तथा औषधि आदि पदार्थ हैं, उनकी उत्पत्ति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि इनकी उत्पत्ति तथा विनाश केवल आभासमात्र है। १-जैसे औषधियों का मूल जल, २-जल का मूल अग्नि ३-अग्नि का मूल वायु तथा ४-वायु मूल अन्तरिक्ष है।

अन्तरिक्ष से वृष्टि होने पर नाना वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। इन औषधियों को एकत्रित करके यज्ञशाला में अध्वर्यु इनका स्वामी बनकर 'इदन्नमम' की भावना से यज्ञ रूप स्वीकार करके, सबमें वितरित कर देता है, जो जिसका भाग होता है।

२-मानव शरीर में 'उदान' नाम का प्राण अध्वर्यु का कार्य करता है। इसका सम्बन्ध 'समान' नाम के प्राण से है। जब उदान समान को त्याग देता है तो वह ज्ञान की 'कृतिक' नाम की प्रतिभा में रमण करने लगता है। उसे अपने में अर्पित स्वीकार करता हुआ अपने में ही परिणत कर लेता है तथा यौगिकता के अनुसार उसका वितरण भी हो जाता है। इस प्रकार उदान-प्राण, समान-प्राण को त्यागकर वितरण करने वाला अध्वर्यु का ही कार्य करता है।

३-अध्वर्यु उसे कहते हैं जो औषधियों को परमात्मा का मूलक स्वीकार करके उनके स्थूलत्व को परमात्मा को ही अर्पित कर देता है।

४-अध्वर्यु उसे कहा जाता है जो आत्मवेत्ता आत्मज्ञान में इन्द्रियों तथा बाह्य-जगत् के विषयों की सामग्री बना लेता है। वह अपने विषयों की सामग्री के अनुकूल ही वस्तुओं की सामग्री बना करके

उसको ज्ञान-रूपी अर्थात् आत्म-रूपी अग्नि में, ब्रह्म-रूपी अग्नि में, ब्रह्मज्ञान-रूपी प्रदीप्त अग्नि में जो आहुति देता है उसे अध्वर्यु कहते हैं।

५-अध्वर्यु उसे कहते हैं जिसका व्यापक हृदय होता है जिस प्रकार वनस्पतियाँ दूसरों के उपकार के लिए ही होती हैं, अपने लिए 'इदन्नमम' में ही सन्तुष्ट रहती हैं। इसी प्रकार अध्वर्यु ब्रह्मवेत्ता बनता हुआ, ब्रह्म में परिणत होता हुआ यह स्वीकार करने लगता है कि इन्द्रियों पर भी मेरा स्वामित्व नहीं है। इनसे तो केवल कर्त्तव्य पालन करना है, इनके विषयों की सामग्री बना करके वह यज्ञशाला में उनकी आहुति देता है।

६-अध्वर्यु उसको कहा जाता है जो यजमान, ब्रह्मा, होता आदि इन सबकी प्रवृत्तियों को जानता हो, ब्रह्मत्व में रमण करने वाला हो, जिसकी ब्रह्म में निष्ठा बन गई हो जिसका हृदय अगम्य बन गया हो।

७-अध्वर्यु उसको कहते हैं जिसको संसार में किसी प्रकार का भय न हो। उसके लिए प्राणीमात्र एक ही आत्मा 'सर्वभूतेषु' बन जाते हैं। अतः जो सब भूत प्राणियों में एक ब्रह्म की चेतना स्वीकार करने वाला हो उसको अध्वर्यु कहा जाता है। (बीसवाँ पुष्प १९-७-७० ई०)

उद्गाता

गान गाने वाले को उद्गाता कहते हैं, जो वेदों का स्वर सहित जटा-पाठ, घन-पाठ, माला-पाठ, उदात्त, अनुदात्त नाना प्रकार से पठन-पाठन करता है उसे उद्गाता कहते हैं अर्थात् जो ऊर्ध्वगति वाला गान गाने वाला हो, ध्रुव-गति का नहीं। वह उद्गान ऐसा है जैसे सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने ऋतु और सत् के ऊपर अपना विचार

व्यक्त किया था। ऋत और सत् दोनों ही उसमें परिणत रहे तथा दोनों में ही विचित्रता सदैव रही।

उद्गाता उसे कहते हैं जो उद्गान गाने वाला हो, उद्गमता देने वाला हो, जो हृदय और आत्मा से गान गाता हो। आत्मा और हृदय का गान पक्षियों के अन्तःकरण को भी पवित्र कर देता है।

सोमकेतु ऋषि ने वृष्टि-यज्ञ करते समय जो उद्गान गाया तो उससे मृगराज, पक्षीगण तथा प्रकृति और देवता भी प्रसन्न हो गए और वर्षा होने लगी। इस पर बालिका ने (अपने गुरु) महर्षि श्रृंगी जी से प्रश्न किया।

प्रश्न : हृदय का उद्गान तो सभी करते हैं। एक बालक जब व्याकुल होता है तो माता द्वारा लोरियों का पान कराने पर शान्त हो जाता है। उसकी पुनः विडम्बना होती है। किन्तु इन मृगराजों तथा पक्षियों का हृदय कैसे तप्त हुआ होता है। कि उस गान से प्रभावित होकर सान्त्वना को प्राप्त हो जाते हैं?

महर्षि श्रृंगी जी ने उत्तर दिया :.

उत्तर.मानव के हृदय को ध्यान, तप और यौगिक क्रियाओं से तपाया जाता है। जिस प्रकार एक सुयोग्य माता अपने आहार-व्यवहार तथा विचारों से अपने गर्भस्थल में बालक को तपा देती है, ब्रह्म का चिन्तन करती हुई वह बालक को गर्भ में ही ऊँचा बना देती है, इसी प्रकार महापुरुषों के सत्संग में ब्रह्मचारी तप जाता है। उसका हृदय इतना पवित्र बन जाता है कि मृगराज और पक्षीगण भी उसके ऊपर मुग्ध हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि जब मानव की

ब्रह्मचर्य से ऊर्ध्वगति बन जाती है तो उसकी वाणी, मस्तिष्क और इन्द्रियों में एक प्रकार का भोलापन आ जाता है। इस भोलेपन में ही उसके ब्रह्मचर्य की गति ऊर्ध्व बन जाती है। वह सभी देवकन्याओं को माता के तुल्य देखता है, मातृत्व ही उसका आभूषण बन जाता है। ऐसे व्यक्ति को ही उद्गाता कहा जात है। वह अपने मस्तिष्क से उद्गान को तपा कर गाता है।

बालिका का प्रश्न

प्रश्न : यदि मैं गृहस्थश्राम में प्रविष्ट हो जाऊँ तो क्या मैं भी अपने बालक को तपा सकती हूँ ?

उत्तर.(इस जटिल प्रश्न का उत्तर न बन सका) अतः कहा कि जगत् में सभी व्यापार का कार्य प्रायः होता रहता है परन्तु ब्रह्मवेत्ता के सुकृत की आवश्यकता होती है।

प्रश्न : तो क्या उद्गाता उसी को स्वीकार किया जाए जो अपने जीवन में ब्रह्मचर्य से रहता हो ?

उत्तर.उद्गान वही गा सकता है जिसकी वेदों में निष्ठा तथा हृदय में आनन्दमय प्रकाश होता है। (बीसवाँ पुष्प १९-७-७० ई०)

उद्गाता वही है जिसका उद्गान इतना विचित्र हो कि परमात्मा तक जा सके, यह यजमान को श्रेष्ठ बना देता है, यजमान उसी को उद्गाता चुनता है। (बीसवाँ पुष्प १९-२-७० ई०)

उद्गाता का देवता किन्हीं आचार्यों ने 'अग्नि' माना है तो किन्हीं ने वायु को माना है। परन्तु वास्तव में अग्नि और वायु दोनों ही मिश्रित हो करके उसका वरुण देवता उसका 'अस्वन्तुन' देवता कहलाया

गया है। (बाईसवाँ पुष्प-प्रथम प्रवचन)

ऋत्विज

यज्ञ में ऋत्विज वह होता है तो ऋत को जानता है। सूक्ष्म-तत्त्व का नाम ऋत है। जैसे मेघ-मण्डलों में विद्युत् है, उस विद्युत् से भी सूक्ष्म परमाणु होते हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म को जानना ही ऋत्विज का कार्य है। (सातवाँ पुष्प १९-७-६३ ई०)

इस प्रकृति की प्रक्रिया तथा शरीर की प्रक्रिया सब ऋत कहलाती है। ऋत को जान लेना ही मानव की सर्व-सम्पति को जान लेना है तथा प्रकृति के कण-कण को जान लेना है। जब प्रकृति पर शासन करने वाले बन जाते हैं तो इस प्रकृति में जितना ऋत है, जितनी इसमें ग्रहण करने तथा विभाजन करने की शक्ति है, उस महान् आत्मा के समीप आ जाती है। (सातवाँ पुष्प १२-७-६३ ई०)

यज्ञ में ऋत्विज बनने का वही अधिकारी है जिसके विचार विस्तृत हों जो अन्न से पवित्र हो। शारीरिक और मानसिक विचार में जिसकी धारणा हो, ब्रह्मचर्य को पालन करता हुआ वह श्रेष्ठतम हो, यज्ञ में आस्था और दृढ़ता हो, सुन्दर कर्मकाण्ड हो, वेद का शुद्ध पाठ भी हो। यदि यज्ञ को करने वाले ब्रह्मचारी ऋत को जानने वाले न हों तो यज्ञ का प्रभाव सुन्दर नहीं होता।

प्रकृति के कणों में वह वस्तु ओत-प्रोत होती है जो कणों से भी सूक्ष्म होती है। यज्ञ की सुगन्धि, प्रभा तथा वेद-मन्त्रें के साथ-साथ ऋत को जानने वाले और वाणी संयम करने वाले पुरुष के द्वारा बोले गए 'स्वाहा' अग्नि में अणुओं के तत्त्वों में इतने सूक्ष्म बन जाते

हैं कि वह प्रकृति के कण-कण में व्याप्त हो करके उसका प्रभाव सहस्रों गुणा बढ़ जाता है। अतः हमें अनिवार्य है कि हम मन, वचन, कर्म से सुन्दरत्व में विचरण करते हुए उसी के अनुकूल यज्ञ कर्म करने के लिए संलग्न हों। हमारे जीवन में जितनी सूक्ष्मता होगी उतनी हमारी आयु अधिक होगी।

सबसे पूर्व ब्रह्मा ने संसार के लिए यज्ञ-कर्म किया। उनकी प्रदीप्त की हुई अग्नि अब तक यज्ञशाला में प्रदीप्त होती चली आ रही है। महान् पुरुष आए तथा अपने महान् कर्णों को त्यागकर चले गए। परन्तु ऋषि परम्परा और जो आदि ब्रह्मा की वेदी थी उसमें कोई सूक्ष्मता नहीं आई।

परमात्मा ने यह शरीर, मानव जीवन, दान, त्याग, तपस्या द्वारा यज्ञ कर्म करने के लिए रचा है। क्योंकि जितने शुभ कर्म मानव शरीर से किए जाते हैं, वे और शरीर से नहीं किए जाते। जितने परोपकार के यज्ञ हैं जैसे.राष्ट्रीय-यज्ञ, सर्वस्व-यज्ञ आदि इन सबमें निष्काम-यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है जिसमें कोई कामना न हो, धारणा न हो वह यज्ञ देवताओं के लिए किया जाता है। अपना एक उद्देश्य और कर्त्तव्य होता है, कर्त्तव्य समझ कर जो कार्य किया जाता है, वह यज्ञ-कर्म सर्वश्रेष्ठ कहलाता है। (सातवाँ पुष्प १९-७-६६ ई०)

होता

यज्ञ के होता इस प्रकार के होने चाहिएँ जिनका हृदय इतना स्वच्छ तथा पवित्र हो। जो सूक्ष्म, कारण तथा स्थूल तीनों शरीर की प्रक्रिया को जानने वाले हों। वे जब यज्ञ में होते हैं तो वह यज्ञ ऐसा

होता है कि उस यज्ञ का जो सम्बन्ध तथा विभाजनवाद है वह स्वतः द्यु-लोक को प्राप्त हो जाता है, वह इस लोक में नहीं रहता। वह इस लोक से चलता हुआ अशुद्ध वाक्य को समाप्त करता हुआ द्यु-लोक को प्राप्त होता है। (पच्चीसवाँ पुष्प पृष्ठ-४९)

यज्ञों के प्रकार तथा उनकी प्रक्रिया

यज्ञों के प्रकार : जैसे.१-विचारों का यज्ञ, २-आन्तरिक-यज्ञ या आध्यात्मिक-यज्ञ , ३-नाना संकल्पों वाले यज्ञ तथा उनके भेद.यथा १-गो-मेध, २-अजामेध, ३-अश्वमेध-यज्ञ आदि हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प २०-१०-६८ ई०)

साधारण-यज्ञ

साधारण-यज्ञ उसे कहते हैं जब मानव बिना किसी उद्देश्य को सामने रखे यज्ञ कर्म करता है। 'रुद्र-यज्ञ' में मानव का किसी उद्देश्य से सम्बन्ध होता है परन्तु इसका कर्म-काण्ड पवित्र होना चाहिए। कर्मकाण्ड पवित्र होने का अभिप्राय यह है कि यज्ञशाला में ये चारों आसन.१-ब्रह्मा २-उद्गाता, ३-अध्वर्यु और ४-यजमान ये सब पवित्र होने चाहिएँ। उद्गाता गान गाता ब्रह्मा उसका निरीक्षण करता है। अध्वर्यु द्रव्यपति या सामग्री का अधिकारी होता है तथा यजमान उसका (यज्ञ का) अधिपति कहलाता है। यज्ञशाला में यजमान की कठिन तपस्या होती है।

विधि

यज्ञशाला में समिधाओं तथा साकल्य के द्वारा अग्नि इतनी प्रदीप्त होनी चाहिए कि उसकी ऊर्ध्वगति हो जाए। उस समय यजमान का

कर्त्तव्य होता है कि आहुति दे, संकल्प ऊँचा बनाए। नेत्रें की दृष्टि किसी अन्य स्थान पर न ले जाकर ऊर्ध्वगति की ज्योतियों पर रखे।

श्रोतागणों का भी यही कर्त्तव्य होता है। उद्गाता को उद्गान गाते समय अपनी रसना तथा नेत्रें को शब्दों के साथ सुगठित करना चाहिए। उनके साथ मन की आभा तो रहती ही है क्योंकि शब्द का सम्बन्ध मानव की वाणी से होता है। वेद की पोथी के शब्दों को हृदय में धारण करे। हृदय का मिलान वाणी से होता है, वाणी का मिलान नेत्रें से होता है, नेत्रें का मिलान उन अक्षरों तथा शब्दों से होता है, जिनका उच्चारण यह वाणी करती है।

अध्वर्यु का कर्त्तव्य यह है कि वह यह जाने कि साकल्य कितना तथा किस प्रकार का होना चाहिए। जब हृदय विशाल होता है, विशाल हृदय से साकल्य की हवि दी जाती है तो इसमें इतनी महत्ता ओत-प्रोत हो जाती है कि अग्नि नेत्रें तक को ज्योति प्रदान करती है।

यज्ञ में समिधाएँ स्वच्छ होनी चाहिए, उनमें कोई रंग नहीं होना चाहिए। ये समिधाएँ ही साकल्य का विछौना है। परमाणुवाद का आसन समिधा ही है। प्रत्येक वेद-मन्त्र के साथ अग्नि में समिधा का मिलान होना चाहिए। यज्ञ को तो यज्ञ-स्वरूप ही स्वीकार करना चाहिए। (सोलहवाँ पुष्प १६-१०-७१ ई०)

यज्ञ में तीन समिधाएँ दी जाती हैं। उनका तात्पर्य यह है कि हमारे मन, वचन और कर्म से जो पाप होते हैं उनको तीन समिधाओं के द्वारा अग्नि में दग्ध करते हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प २०-१०-६८ ई०)

यज्ञशाला में जो अग्नि प्रदीप्त होती है, उसको और नेत्रें की

ज्योति, दोनों का समन्वय कर देना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि ज्योति का निरन्तर दिग्दर्शन करना चाहिए। इससे मानव एकाग्रचित वाला बनता है। इससे उस यजमान का जो इष्ट है, वास्तव में वह उसे प्राप्त हो जाता है। (तेईसवाँ पुष्प १३-११-७१ ई०)

यज्ञ में कर्म-काण्ड का जो रहस्य है, वह कितना सूक्ष्म है? क्योंकि मानव को कर्म-काण्ड केवल भुजाओं से ही नहीं करना है। कर्म-काण्ड का अभिप्राय यह है कि जो आत्मा का प्रकाश है, आत्मा की ज्योति है, उस ज्योति का हमें इस ज्योति से समन्वय करना है जो ज्योति देवताओं का दूत बना हुआ है। (तेईसवाँ पुष्प ११-३-७२ ई०)

महान् समारोहों तथा यज्ञों से तभी लाभ है जब हम सदाचारी बनने, यजमान बनने तथा शुभ संकल्प करने की आहुति दें। विद्वानों के वाक्यों को श्रवण करके ऊँचे कर्म तथा संकल्प करें। (आठवाँ पुष्प १४-११-६३ ई०)

संसार में वही मानव सुख पाता है जो किसी का बन जाता है। यज्ञ में समिधा अग्नि रूपी गुरु के पास जाकर पार्थिव परमाणुओं को समाप्त करके, सूक्ष्म रूप धारण करके, सूर्य-मण्डल तक पहुँचकर देवताओं की शरण में चली जाती है, आदित्य इन्हें आहार करके धीमी-धीमी किरणों के द्वारा समुद्रों में पहुँचा देते हैं। समुद्रों से मेघ के रूप में धारण करके वृष्टि द्वारा पृथ्वी पर आ जाती हैं। पृथ्वी पर स्थावर सृष्टि के रूप में उत्पन्न होकर संसार का कल्याण करती है।

नाना प्रकार की वस्तुओं को एकत्रित करके सामग्री को बनाया जाता है। अग्नि में यह भस्म होकर सूक्ष्म रूप में आदित्य तक पहुँच जाती है। आदित्य उन्हें बल देता है, बल से किरणें उत्पन्न होती हैं। वे समुद्रों में जाकर मेघ बनाती हैं। उससे वृष्टि होकर पृथ्वी पर नाना प्रकार की समिधाएँ तथा सामग्रियाँ उत्पन्न होती हैं। (दूसरा पुष्प ३-४-६२ ई०)

यज्ञ-वेदी

सुष्टि के आरम्भ से यज्ञ-वेदी पुकारती चली आ रही है कि हे मानव! तू वास्तविक मनुष्य बन। जैसे मेरा यह वेद कहता है, इस वेद-वाणी के अनुकूल अपना जीवन बना। मानव को यज्ञ-वेदी पर आना चाहिए, जिससे वह अपने को ऊँचा बनाकर संसार पर शासन कर सकता है।

यह क्या है ? यज्ञ है, शुभ कर्म, तेरा धर्म, तेरी सात्विकता और तेरे सदाचार। यज्ञ-वेदी पर आने के लिए चरित्रवान,ओजस्वी और तेजस्वी बनकर आता है, तभी इसकी अग्नि को प्रज्वलित कर सकेगा। यज्ञ-वेदी मानव को मानव, पापी को भी मानव, दुराचारी को सदाचारी बनाती है। यदि कोई मानव दुराचारी बनकर यज्ञ-वेदी पर जाना चाहता है तो उसकी वह कल्पना जिसे वह लेकर आता है, दूर से ही समाप्त हो जाती है।

यदि संकल्प लेकर आता है तो वह मृत-मण्डल और लोक-लोकान्तरों तक पहुँच सकता है। यज्ञ-वेदी हमारी परम्परा, हमारी संस्कृति, हमारा धर्म तथा विज्ञान है। इनकी रक्षा प्रत्येक मानव तथा

ऋषि को करनी चाहिए।

इस यज्ञ-वेदी से वर्ण-व्यवस्था बनती है। मानव में राष्ट्र के कल्याण के लिए भावनाएँ आती हैं। मानव के हृदय में सात्विकता आ करके संसार का कल्याण करने के लिए, अपने को प्रेरित कर देता है। हमें सदाचार को अपनाकर वर्ण-व्यवस्था को अपनाना चाहिए।

हमारी परम्परा यज्ञ-वेदी है जिसमें वर्ण-व्यवस्था तथा वास्तविक कल्याण का विधान बनाया जाता है।

किसी भी यज्ञ-वेदी में ''ब्रह्मा'' के लिए यह आवश्यक है कि वह सदाचारी हो तथा इस विज्ञान को भली-भांति जानता हो। वह मानव को देखकर बतला सके कि वह कौन से वर्ण का है ? कोई देवकन्या किस वर्ण में जाने योग्य है ? यज्ञ-वेदी पर बैठे हुए व्यक्तियों में यह पहचान करना ब्रह्मा का कर्त्तव्य है कि कौन शूद्र है, कौन क्षत्रिय है तथा कौन वैश्य है।

यज्ञ-वेदी पर यह संकल्प करके आना चाहिए कि मैं यज्ञ-वेदी पर प्रतिज्ञा करने जा रहा हूँ कि मैं दूसरे जीवों का भक्षण नहीं करूँगा। सदाचारी बनकर ब्रह्मा के समीप जाना चाहिए। ब्रह्मा ऊँचा आदेश देकर नियमों के अनुकूल कार्य में प्रेरित करता है। ब्रह्मा को मनोविज्ञान और मस्तिष्क-विज्ञान का जानकार होना चाहिए। उसे प्रत्येक वेद-मन्त्र पर विचार करना चाहिए। (सतवाँ पुष्प ८-११-६३ ई)

मानव भौतिकवाद में फँसकर एश्वर्य की कल्पना करता है। नाना प्रकार के आसन चाहता है, किन्तु ये सब नश्वर हैं। वास्तविक आसन वह संकल्प है, तो मानव के आदि और अन्त दोनों में हो, वह है

यज्ञ-वेदी। आदि गुरु ब्रह्मा के समान ऋषि जब यज्ञ-वेदी पर शरीर त्यागते है तो उनका हृदय मग्न रहता है। वे सूर्य-लोकों में जाकर भी वही कर्म करते हैं, जो यहाँ करते थे। (सातवाँ पुष्प ८-११-६३ ई०)

हे विधाता ! हमें वह बल और सत्ता दो कि हम संसार रूपी यज्ञ-वेदी की रक्षा कर सकें। रक्षा करने वाले तब तक नहीं बन सकते जब तक उसमें चरित्र नहीं होगा और गुरु परम्परा न होगी। यज्ञ से दूर भागने वाले हे मानव ! तू भौतिक यज्ञ-वेदी से तो दूर भाग सकता है, हम तो तब जानें जब तू परमात्मा की उत्पन्न की हुई यज्ञ-वेदी से दूर चला जाएगा। परमात्मा ने संसार रूपी यज्ञ-वेदी को रचा है, ब्रह्मा वह स्वयं है। आत्मा यजमान है, उद्गाता और अध्वर्यु सूर्य चन्द्रमा है। (सातवाँ पुष्प ८-११-६३ ई०)

यज्ञशाला के प्रकार

यज्ञशाला अष्ट-कोण, द्वादश-कोण (बारह-कोण) षडविंशति-कोण (छब्बीस-कोण) तथा नवनवति-कोण (निन्यानवे-कोण) की भी होती है। इसके अतिरिक्त कर्म-काण्डों में भी भेद हैं। पन्द्रह प्रकार के यज्ञ होते हैं तथा चौरासी प्रकार की यज्ञशालाएँ होती हैं, इनमें पन्द्रह प्रकार की यज्ञशालाएँ मुख्य होती हैं, एक त्रिकोण, एक चतुष्कोण, एक प।चकोण, एक सप्तकोण होती है।

चतुष्कोण यज्ञ-वेदी की सुगन्धि पार्थिव सूर्य की किरणों को प्राप्त होती है। पन्द्रह-कोण की यज्ञशाला गो-मेघ यज्ञ में बनाई जाती है, उसमें जो सुगन्धित तरंगों की धाराओं का जन्म होता है, उसका सम्बन्ध ध्रुव-मण्डल तक रहता है। (नौवाँ पुष्प १८-३-७२ ई०)

अनुष्ठान-यज्ञ

अनुष्ठान नाम में १-अनुकृति-यज्ञ, २-नवदुर्गा-यज्ञ, ३-विष्णु-यज्ञ, ४-ब्रह्म-यज्ञ, ५-ऋषि-यज्ञ, ६-कन्या-यज्ञ, ७-वृष्टि-यज्ञ, ८-पुत्रेष्टि-यज्ञ, ९-सोमभूमि-यज्ञ आते हैं।

अनुष्ठान नाम व्रती का है, जो संकल्प धारण करने वाला हो। संकल्प वही धारण कर सकता है जो श्रद्धालु हो। श्रद्धालु वही हो सकता है जिसका हृदय पवित्र हो। जब तक हृदय पवित्र नहीं होता मानव में श्रद्धा नहीं होती। बिना श्रद्धा वाला व्रती नहीं बन सकता। श्रद्धा से ही संकल्प धारण किया जाता है।(अट्ठारहवाँ पुष्प पृष्ठ-८६)

वृष्टि यज्ञ

ऋषियों ने श्रीमान् पूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज (वर्तमान जीवन में) को किसी पूर्व जन्म में जब महर्षि श्रृंगी ऋषि के रूप में थे, "वृष्टि-यज्ञ" पर तथा नीचे लिखे विषयों पर अनुसन्धान करने के लिए कहा।

१-हम सूर्य की किरणों को अपने में किस प्रकार धारण करें?

२-उनमें कितने परमाणु होते हैं ?

३-वायु की गति कितनी होती हैं ?

४-सूर्य की किरणों की गति कितनी होती है ?

५-कितने सूक्ष्म परमाणुओं (से) का आरम्भ होता है ?

महर्षि श्रृंगी जी ने निद्रा को त्यागकर बिना सोए बारह वर्ष तक लगातार ऊपर लिखे प्रश्नों पर खोज की।

वृष्टि-यज्ञ वही करा सकता है जो सूर्य की तपस्या करता हुआ,

सूर्य की किरणों को शक्ति के द्वारा संकल्प से अपने में धारण करके उन नाना प्रकार की वनस्पतियों को जान जाए जिनसे जल के परमाणुओं को इस प्रकार की स्थिति में बना सके, जेसे-ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणों पृथ्वी के जल को अपने को अपने में शोषण कर लेती हैं तो अन्तरिक्ष में उसके परमाणु विराजमान हो जाते हैं और वहीं समुद्र का समुद्र ओत-प्रोत हो जाता है। उन किरणों को जानकर, संकल्प बनाकर और नाना प्रकार की औषधियों को जानकर जब याज्ञिक यज्ञ करता है तो वह वृष्टि-यज्ञ है।

औषधियाँ कुछ इस प्रकार की हैं

१-सोनभुक, २-सेलखरडा, ३-शंखाहुली (शंखपुष्पी), ४-मामकेतु, ५-स्वांगनी, ६-स्वानकेतु, ७-किरकल, ८-आभूषणी, ९-जावित्री, १०-जायफल, ११-जमद्केतु, १२-लक्ष्मणा, १३-भ्रानकेतु, १४-अश्ववेगनी, १५-पीपल १६-पीपल का पाचाग, १७-वट-वृक्ष का पाचाग, १८-देवदारू का पाचाग, १९-मामधोनियों का पाचाग, २०-दराडकेतु का पाचाग, २१-पर्वतों में पाए जाने वाले सेलकेतु वृक्ष का पाचाग, २२-मानधाता वृक्ष का पाचाग, २३-गुलकेतु वृक्ष का पाचाग आदि औषधियों को एकत्रित किया जाता है।

सोमरस

प्रथम गोघृत को सूर्य की किरणों में तपाया जाता है। पुनः उसे अग्नि में तपाकर उसका सोमरस बनाया जाता है। सोमरस बनाने के लिए २४-रुगणी, २५-मुनि अनन्तकेतु तथा २६-आनन्दकेतु नाम की तीन औषधियों को, २७-गो-घृत के साथ तपाकर पात बनाया। इस

पात को १-देवकेतु, २-गन्धशील या ३-किसरानी कहते हैं। इसके अतिरिक्त २८-केसर, २९-कस्तूरकान, ३०-आभागन आदि औषधियों का पात बनाया जाता है।

इस पात की अपनी विशेषताए है, साथ में ३१-ऋतु का एक अन्न, तथा ३२-मिष्ट रस वाला ऋतु का एक फल, इनकी सामग्री वनाई जाती है।

३३-सेनकेतु नाम की औषधि का प।चा।ग बनाया जाता है। उसकी छाल (वल्कल) बड़ी स्वादिष्ट होती है। उसका गूदा रसना को बहुत प्रबल कर देता है। उसमें इतनी अग्नि तथा प्राण-शक्ति होती है कि उसके पत्तों को घ्राण द्वारा सूँघने से जिह्वा की सूजन समाप्त हो जाती है। इसका प।चा।ग बनाकर उसको भी सामग्री में मिलाया जाए, सूर्य घृत बनाया जाए।

इसके साथ मानव के संकल्प को दृढ़ करना है। जिस कार्य को करना है उसमें निष्ठा, संकल्प हो, यजमान चरित्रवान, संस्कारवादी संकल्पादी हो। श्रोतागण भी संकल्पवादी हो, ब्राह्मण भी ऊँचा हो। वह इस निदान को जानता हो, क्योंकि इसका कर्म-काण्ड भी विशेष होता है।

इसमें १-पीपल, २-पलाश (ढाक), ३-अत्रेकेतु, ४-करील, ५-अर्कपत्र आदि की समिधाएँ होती हैं।

ऊपर लिखी योजना के साथ यज्ञ से वृष्टि हो जाती है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १३-२-७१ ई०)

वृष्टि-यज्ञ में संकल्प से ही वष्टि होने लगती है।

यज्ञ में साकल्य बनाए जाते हैं। १-बाह्य-साकल्य तथा २-आन्तरिक साकल्य दोनों का समन्वय हो करके ही संसार में प्रभु की चेतना और संकलनता जागरूक हो जाती है, जागरूक होने पर वृष्टि होने लगती है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १३-२-७१ ई०)

वृष्टि-यज्ञ कराने का ऋषि-मुनियों को अभ्यास रहा है। वृष्टि-यज्ञ में उसी प्रकार की समिधा दी जाती है। समिधा का अभिप्राय है कि विचारों की समिधा, चन्दन की समिधा और भी नाना प्रकार की समिधा होती हैं।

वृष्टि-यज्ञ वेत्ता वैज्ञानिकों ने वृष्टि के सम्बन्ध में तथ्यों को खोजा, जो इस प्रकार हैं :.

समुद्र को तपाने के लिए हम सूर्य की किरणों में अग्नि का भाव करना चाहते हैं तो उसे उस वातावरण में लाना होगा जिससे सूर्य की किरणों का सम्बन्ध रहता है उनको एकत्रित किया जाता है। उनमें अग्नि प्रधान होती है।

गो-घृत स्वर्ण-अग्नि प्रधान होता है। इस गो-घृत तथा अग्नि और स्वर्ण प्रधान वाली औषधियों को एकत्रित करके यज्ञ वेत्ता वृष्टि-यज्ञ करता है तो सूर्य उसको अपने में मन्थन करता है।

तब वातावरण अग्निमय हो जाता है। इस यज्ञ में समिधाएँ भी अग्नि प्रधान ही ली जाती हैं। जैसे पीपल अग्नि प्रधान है। इसमें सूर्य की किरणें अधिक प्रधान हैं। उसके कणों में स्वर्ण की मात्र होती है।

आक (अर्कपत्र) की समिधा का प्रायः यज्ञ के लिए बहिष्कार किया जाता है किन्तु वृष्टि-यज्ञ में इसका प्रयोग किया जाता है।

१-पीपल, २-आक, ३-सांगनि, ४-असगन्ध, ५-स्वाति तथा ६-गुलवृष्टि। इन पाँच प्रकार की समिधाओं को लेकर अग्नि में यज्ञ करते हैं। इसीलिए इसको 'पंचक-यज्ञ' भी कहते हैं। वृष्टि-यज्ञ का पंचक-यज्ञ में ही समावेश माना जाता है। अग्नि के बिखरे हुए कणों को नाना समिधाओं तथा औषधियों द्वारा यज्ञ करके एक सूत्र में लाना है तथा वातावरण उसके अनुकूल बनाना है। (इक्कीसवाँ पुष्प पृष्ठ-६६)

पुत्रेष्टि-यज्ञ

त्रेता युग के अन्तिम चरण में महाराजा दशरथ के यहाँ पुत्रेष्टि यज्ञ करने के समय तक महर्षि शृंगी जी (वर्तमान श्रीमान् ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज) चौरासी वर्ष तक आयुर्वेद का अध्ययन कर चुके थे। पुत्रेष्टि-यज्ञ कराने का वही अधिकारी होता है जो आयुर्वेद का महान् प्रकाण्ड पण्डित हो। वही यज्ञ की सुगन्धित औषधियों को जानता है। यज्ञ में कौन-कौन सी औषधियों का पान करने से यजमान के नासिका में, नेत्रें में, श्रोत्रें में, रसना के अग्रभाग में लग जाने से कौन-कौन से दोष दूर होते हैं ?

सर्वप्रथम महाराजा दशरथ का निदान किया गया। मानव के दस द्वार होते हैं। इन दसों में देवता विराजमान हैं। जैसे एक नेत्र में जमदग्नि दूसरे में विश्वामित्र बैठा है। एक श्रोत्र के अग्रभाग में भारद्वाज है, दूसरे में जमदग्नि है। नासिका के अग्रभाग में अश्विनी कुमार हैं, इसी प्रकार अन्य भी हैं।

इन द्वारों को शोधन करने वाली औषधियाँ इन्हीं देवताओं के नामों से उच्चारण की जाती हैं। जैसे जमदग्नि औषधि, भारद्वाज औष्धि

आदि। इसके पश्चात् औषधियों की मित्रता को जानना होता है कि कौन-कौन से रोग को, कौन सी मित्रता को यह उत्तम बना सकती है ? यह औषधि का भावन (अधिक प्रभाव) कहलाता है। जिन औषधियों का भावन (अधिक प्रभाव) हो उनको यज्ञशाला में प्रविष्ट करना चाहिए।

पुत्रेष्टि-यज्ञ की सामग्री

समिधाएँ :. १-आक की (अर्कपत्र) समिधा, २-शमि की समिधा, ३-जटा माँसी, ४-त्रिकाट, ५-सफेद चन्दन, ६-लाल चन्दन, ७-अनुभूत चन्दन , तथा ८-सोमभुक। सोमभुक नाम का वृक्ष होता है, उसमें अनीकृत नाम की समिधा होती है। इस प्रकार से दस प्रकार की समिधाएं होती हैं।

अब यह निश्चय करना है कि यज्ञशाला में इन समिधाओं को किस प्रकार से प्रतिष्ठित किया जाए ? परमात्मा ने स्त्री की योनि भी समिधा रूपी बनाई है। इसी प्रकार की यज्ञशाला बनानी होती है। यज्ञशाला में उसी प्रकार की योनि बनाकर उसमें उसी प्रकार की समिधाओं को चुनना है। जैसे-जैसे समिधा चुनते रहते हैं उसी प्रकार उसमें भूः भुव स्वः उच्चारण करते हैं। इन मन्त्रें का उच्चारण करते-करते स्त्री के घाव तथा दोष इन समिधाओं से सामग्री की सुगन्धि तथा धूम्र (एवम् वाष्प) से शु० होते चले जाते हैं।

महर्षि शृंगी जी महाराज ने आयुर्वेदिक वैज्ञानिक दृष्टि से महाराज दशरथ और रानियों के मनो-भावों का एवं शारीरिक निरीक्षण तथा परीक्षण किया। उसी आधार पर वैज्ञानिक रूप से यज्ञशालाओं

की रचना की। पुत्रेष्टि-यज्ञ पर महर्षि श्रृंगी जी महाराज ने जो एक पुस्तक लिखी थी उसके एक-एक भाग में एक-एक हज़ार पृष्ठों का एक-एक निदान बनाया गया था। इसी से प्रकट हुआ था कि यह विज्ञान कितना विशाल है जिस पर अनुसन्धान करना मानव का कर्त्तव्य है। (तेरहवाँ पुष्प १८-१-७० ई०)

देवी यज्ञ

देवी पूजा का अभिप्राय है संसार में वैज्ञानिक बनना। देवी उसे कहते हैं जो देती है। वह हमें करुणा देती है, ममता देती है मान देती है। अपनी लोरियों का पान कराती है। उसे माता कहते हैं, उसको हमें आदर देना है। जो माता के श्रृंगार को भ्रष्ट करना चाहता है, उसको देवी यज्ञ करने का अधिकार नहीं है जो मानव अपनी रसना के स्वाद के लिए दूसरों के गर्भों तथा माँस का भक्षण करता है उसको भी देवी यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। (उन्नीसवाँ पुष्प २०-३-७२ ई०)

देवी-यज्ञ का विकृत रूप

आधुनिक काल में न वाणी का श्रृंगार है, न चरित्र का। केवल शारीरिक श्रृंगार ऊँचा होता चला जा रहा है। आज देवी-यज्ञ की वार्ता तो दूर है, मानव ने अपना द्वितीय मार्ग ही अपना लिया है, जिस मार्ग में मानवता की वार्ता करना ही व्यर्थ है।

महाभारत के पश्चात् रूढ़ियाँ आने पर देवी-यज्ञ में गो-माँस तथा अन्य नाना प्रकार के माँसों का प्रतिपादन किया जाता था। उसके पश्चात् सुरापान किया जाता था। यह प्रथा आज भी हिमालय पहाड़

के आंगन में प्रचलित है। वाम-मार्ग में देवी, पार्वती, दुर्गे, काली आदि नाना प्रकार की पूजा को मान्यता है। उस पूजा में माँस को अग्नि में तपाकर उसका प्रसाद बनाया जाता है। इसको 'देवी-पूजा' उच्चारण करना ही व्यर्थ है।

देवी तो देवी है, वह सुमति, सुविचार, सुभावना देती है। इस विकृति को देवी-यज्ञ नहीं कहा जा सकता। वेदों का अपमान करने वाला सम्प्रदाय तथा विचार मानव-मर्यादा के लिए कदापि सुखदायी नहीं होता। माँस का रसास्वादन करने वाला देवी-पूजा कदापि नहीं कर सकता। देवी-पूजा का नाना प्रकार के भवनों में भी अपमान किया। भवन अधिक संख्या में हो गए, ये राष्ट्र के विनाश के मूल कारण बने।

इस अशुद्ध परम्परा से ऊबकर दूसरे सम्प्रदाय बने। सनातन-धर्म की मानवता और वैदिक-परम्परा को मानव ने दूर कर दिया क्योंकि संसार में यथार्थ ज्ञान न रहा। ज्ञान में अधूरापन आ जाने से रूढ़ि बनती है। वही रूढ़ि घातक बनकर उसके जीवन को नष्ट करने वाली बन जाती है। जहाँ माँसों की स्थापना की जाती हो वहाँ वह यज्ञ नहीं, यज्ञ तो दूसरों की रक्षा करते हैं, नष्ट नहीं करते।

निष्कर्ष यह है.''श्रद्धा को उत्पन्न करके देवी की पूजा होनी चाहिए।'' अपना आहार-व्यवहार पवित्र बनाते हुए, निष्ठा, मानवता साहस को अपनाते हुए, रूढ़ियों का विनाश करते हुए, सदाचार को लाते हुए देवी-पूजा करनी चाहिए। देवी श्रद्धा है, वसुन्धरा है, प्रकृति है। देवी वह माता है जो श्रद्धावती है जिसमें मानवता है तथा जो

महापुरुष को जन्म देती है। (उन्नीसवाँ पुष्प २०-३-७२ ई०)

शुद्ध रूप-रेखा

देवी-यज्ञ की दो प्रकार की रूप-रेखा होती है, एक भौतिक तथा दूसरी आध्यात्मिक।

भौतिक रूप-रेखा

भौतिक-यज्ञ में यजमान दैविक-यज्ञ करने के लिए तत्पर होता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि दैविक-विचारधारा को तथा मानव पर आयी दैविक-आपत्ति को शान्त किया जाए। प्रकृति से जितना कष्ट होता है उसे दैविक कहते हैं। इस यज्ञ में प्रभु से याचना की जाती है। "हे प्रभो! वह आपत्ति हमें न दे तथा प्रकृति हमारे जीवन में शान्त भाव से रमण करती रहे, प्रकृति का उपकार हमारे द्वार पर होता रहे।"

यह यज्ञ इस भावना से किया जाता है कि आधिभौतिक आपत्तियाँ मानव पर न आने पाएँ। तदनुसार ही इसका अनुष्ठान किया जाता है। देवी-यज्ञ करने वाले जो देवी के कर्म-काण्ड को जानते हैं, वे सप्त जिह्वा वाली यज्ञशाला का निर्माण करते हैं क्योंकि अग्नि की सप्त-जिह्वाएँ हैं। अतः सप्त-कोणों वाली यज्ञशाला बनाई जाती है। जैसे एक (प्रकार के) परमाणुओं को जानने वाला विज्ञानवेत्ता जब निर्माण आरम्भ करता है तो उसका यह विचार रहता है कि विषैले वायु का संचार वायु-मण्डल में प्रसारित हो जाए। इसी प्रकार यज्ञशाला का निर्माण होता है। चैत्र मास में देवी-यज्ञ किए जाते हैं। सप्तकोण की यज्ञशाला का निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि पश्चिम की ओर

के भाग में तीन जिह्वाएँ आ जाती हैं। यजमान पत्नी सहित उस ओर बैठते हैं। सर्वप्रथम ज्योति को जागरूक करता है, फिर प्रभु की याचना करते हुए उसकी गोद में जाने का प्रयास करता है। इस सप्तकोण की यज्ञशाला से जो सुगन्धि प्राप्त होती है वह इस पृथ्वी की हो जाती है, अर्थात् पार्थिव-तत्त्व को प्राप्त हो जाती है।

इसका अभिप्राय यह है कि वसुन्धरा के गर्भ में नाना प्रकार की वनस्पतियाँ शुद्ध रूप में परिपक्क हो जाती हैं, उसमें सुगन्धि प्रदान की जाती है।

यज्ञशाला में एक ब्रह्मा, एक उद्गाता, एक अध्वर्यु चुने जाते हैं। होताजन होते हैं, जिनको ऋत्विज कहते हैं। यज्ञशाला में अखण्ड-ज्योति कभी शान्त नहीं होनी चाहिए। इस यज्ञ-वेदी का अभिप्राय यही है कि वह अखण्ड-ज्योति है। यह अखण्ड-ज्योति गो-घृत को लेकर जो सुगन्ध करती है, उससे अशुद्ध परमाणु नष्ट होते हैं, वातावरण पवित्र बनता है।

महर्षि भारद्वाज के भारद्वाज आश्रम में पाँच प्रकार की यज्ञशालाएँ थीं। वे देवी-यज्ञ को विष्णु-यज्ञ कहते थे। विष्णु कहते हैं सूर्य को। गो-मेध यज्ञ तथा अश्वमेध-यज्ञ के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की यज्ञशालाएँ होती थीं। पन्द्रह कोण की यज्ञशला में यज्ञ करते समय वैज्ञानिक अपनी उड़ान आरम्भ कर देते थे। जिस प्रकार योगीजन सूर्य की किरणों के आश्रित होकर, उनको लेकर अन्तरिक्ष में उड़ान करने लगते हैं।

इसी प्रकार भौतिक-यज्ञ में आहुति देने पर तरंगें तथा सुगन्धि

उत्पन्न होती और उन पर वैज्ञानिकों का अनुसन्धान चलता तथा परमाणुओं को एकत्रित किया जाता। ये ही परमाणु वायुमण्डल तथा प्रकृति को ऊँचा बनाते थे क्योंकि प्रकृति को ही १-देवी, २-धेनु, ३-रेणुका, ४-काली माँ, ५-दुर्गेवेति, ६-सोमधाम-केतु, ७-वैष्णवी आदि नामों से पुकारा जाता है।

परन्तु इसमें नाना प्रकार की रूप-रेखाएँ तथा भेदन होते हैं। यज्ञ-कुण्ड नाम का एक सुगन्धि-यन्त्र बनाया जाता था। यज्ञ-कुण्ड का अभिप्राय यह है कि जिसमें घृत की आहुति दी जाती है। त्रिकोण, षट्कोण आदि विभिन्न प्रकार की यज्ञशालाओं के निर्माण इसलिए किये जाते थे कि भिन्न-भिन्न यज्ञों के भिन्न-भिन्न देवता हैं।

जैसे १-देवी यज्ञ का देवता गायत्री है, गायत्री कहते हैं इन्द्र को। २-विष्णु-यज्ञ का देवता सूर्य है। ३-ब्रह्म-यज्ञ का देवता आभा-गन्धर्व है। जहाँ दुर्गन्ध का नाश करके सुगन्धि दी जाती है। यह भौतिक यज्ञशालाओं की रूप रेखा है! (उन्नीसवाँ पुष्प १८-३-७२ ई०)

अजयमेघ यज्ञ

अजय नाम पृथ्वी का है, जिस समय वैज्ञानिक जन एकान्त स्थान में विराजमान होकर पृथ्वी के तत्त्वों को विचारते हैं नाना प्रकार के अनुसन्धान करके भौतिक विज्ञान को पाते हैं तो उसको अजय-मेध यज्ञ कहते हैं। (दूसरा पुष्प ३-४-६२ ई०)

अजय नाम प्रजा का तथा मेध नाम राजा का है। दोनों को सम्बन्ध करके यज्ञ किया जाय उसी को अजयमेध यज्ञ कहते हैं। राजा अपनी धर्मपत्नी के साथ अजयमेध-यज्ञ करता रहे, यह उसका

परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार जो राजा अजयमेध-यज्ञ करने वाले होते हैं, वे प्रजा के भावों को जान लेते हैं, साथ में राष्ट्र के ब्राह्मणों की परीक्षा भी हो जाती है, मेरे राष्ट्र में कैसे-कैसे बुद्धिमान ब्राह्मण हैं। (दूसरा पुष्प ३-४-६२ ई०)

सतयुग में महीयस राजा के पुरोहित अतुल मुनि महाराज थे। राजा ने प्रजा को महान्, सदाचारी, ज्ञान-विज्ञान के विस्तार, राष्ट्र में वेदों का प्रसार तथा सुगन्ध के लिए, यज्ञ के प्रसार के लिए अजय-मेध यज्ञ करने का निश्चय किया। पुरोहित ने कहा कि इस यज्ञ को करने का वही अधिकारी है जिसको प्रजा में कोई एक-दूसरे का ऋणी न हो। राजा ने परीक्षा करके देखा कि वास्तव में कोई ऋणी नहीं।

पुरोहित की आज्ञानुसार राजा ने अपनी धर्मपत्नी की भी स्वीकृति ली जो इसके लिए आवश्यक है।

यज्ञ वेदी को चित्रकारियों द्वारा सजाया गया, नाना प्रकार की सामग्री तथा साकल्य एकत्रित किया गया। प्रजा को आमंत्रित किया गया। यजमान तथा उसकी धर्मपत्नी यज्ञ-वेदी पर विराजमान हो गए। शुनि मुनि तथा पापड़ी मुनि यज्ञ के उद्गाता बने, अतुल मुनि, अध्वर्यु तथा तत्त्व मुनि ब्रह्मा बने।

जल-सिंचन का अभिप्राय

पापड़ी मुनि ने महर्षि तत्त्व मुनि से प्रश्न किया :.

प्रश्न : महाराज! यह समुद्र-क्रिया का जल सिंचन क्यों हो रहा है?

महर्षि तत्त्व मुनि का उत्तर : जैसे परमात्मा ने संसार रचना में मध्य में, पृथ्वी के चारों ओर समुद्र को रचा, इसी प्रकार यह वेदी है। पृथ्वी का नाम भी वेदी है। परमात्मा द्वारा उत्पन्न आकर्षण-शक्ति और महान्-विद्युत् के आधार पर यह पृथ्वी स्थित है। इसीलिए हम यजमान देवताओं को साकल्य बनाने के लिए उन समुद्रों को विश्लेषणात्मक दृष्टि से उनके स्वरूप को समझकर गुणों से लाभ उठा रहे हैं। (दूसरा पुष्प ३-४-६२ ई०)

भू यज्ञ

भू नाम पृथ्वी का है। यज्ञ का अभिप्राय उसके विज्ञान को जानने से है। जैसे पृथ्वी से खाद्य व खनिज पदार्थ उत्पन्न होते हैं। भूमि पर सभी प्राणी भ्रमण करते हैं, अतः सभी को इसका अधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार वायु, अग्नि, आकाश, जल में सबका अधिकार है। परमात्मा ने इन्हें सबके लिए दिया है, मानव इनको नहीं बना सकता।

भू-यज्ञ यह भी है कि राजा को राष्ट्र में अजीर्ण नहीं होने देना चाहिए अर्थात् वैश्य समाज में जब द्रव्य को एकत्रित करने की प्रवृत्ति आ जाए तो उन्हें दण्ड देना चाहिए। जैसे मानव के उदर में अजीर्ण होने पर वैद्य औषधि से उसकी अग्नि प्रचण्ड कर देता है। औषधि रूपी डण्डे से वैश्य रूपी अग्नि को चेतन बनाना चाहिए।

किन्तु जब राजा स्वयं ही स्वार्थी होकर द्रव्य को एकत्रित करने लगता है तो यह दण्ड कौन देगा ? यदि यह उदर की अग्नि सान्त्वना को प्राप्त हो गई और स्वार्थवाद के जल ने उसे और भी मन्द कर

दिया तो राष्ट्र का हृदय तथा उदर इस प्रकार शान्त हो जाएगा जैसे जल अग्नि को निगल जाता है। ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण इसको प्रज्ज्वलित रखे। (चौदहवाँ पुष्प ८-११-६९ ई०)

अजामेध यज्ञ

'अजा' शब्द से बकरी तथा वेदों के अर्थ होते हैं। इस यज्ञ में ब्राह्मण वेदी को सजाया करते हैं। पूर्ण समारोह के साथ यज्ञ करते हैं। परमात्मा ने इस संसार रूपी यज्ञ को अनेकों चित्रकारियों से सजाया है। इसी प्रकार ऋषि भी छोटा सा वैज्ञानिक है, परमात्मा का बालक है, वह अपनी छोटी सी यज्ञ-वेदी को सुन्दर रंगों से सजाया करता है। (दूसरा पुष्प ३-४-६२ ई०)

पाँच प्रकार के यज्ञ या पंच महायज्ञ

मानव के लिए ऋषि-मुनियों ने पाँच प्रकार के यज्ञों का चयन किया है। १-ब्रह्म-यज्ञ, २-देव-यज्ञ, ३-अतिथि-यज्ञ, ४-बलि वैश्व-यज्ञ, ५-भूत-यज्ञ या पितृ-यज्ञ।

ब्रह्म यज्ञ

ब्रह्म-यज्ञ वह होता है जहाँ ब्रह्म-विचार होता है। जहाँ ब्रह्म-वेदना का प्रतिपादन किया जाता हो उसको ब्रह्म-विचार कहते हैं। ब्रह्म-विचार का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय उस ब्रह्म में पिरोई हुई होनी चाहिए, जब हम प्रत्येक इन्द्रिय को ब्रह्म में पिरोई हुई स्वीकार कर लेते हैं तो वहाँ प्रत्येक इन्द्रिय के विषय को सामग्री बनाया जाता है। मन और प्राण दो समिधा होती हैं जो हृदय में प्रदीप्त रहती हैं। इन्द्रियों का विषय इनमें सामग्री बनकर आहुति प्रदान करता है। जो

आहुति दी जाती है वह भस्म हो जाती है। इसीलिए मानव हृदय में प्रदीप्त होने वाली विचार रूपी अग्नि को कोई अनाधिकारी नहीं बना सकता। उस अग्नि से ऊँचा कोई प्रकाश नहीं होता। (सत्रहवाँ पुष्प २५-२-७२ ई०)

जब ब्रह्म को ब्रह्मा बना करके स्वयं होता अथवा यजमान बन करके अपना यज्ञ करता है, विचार-विनिमय करता है, अनुसन्धान करता है, उसका नाम ब्रह्म-यज्ञ कहलाया गया है।

सृष्टि का जब आरम्भ होता है तो परमपिता स्वयं ब्रह्मा बनते हैं, यह आत्मा यजमान बनता है, पंचमहाभूत होता बनते है, यज्ञों की रचना हो जाती है, उस समय परमपिता परमात्मा सृष्टि रूपी यज्ञ का ब्रह्मा बना हुआ है। उद्गान गा रहा है, उद्गान हो रहा है, ऋत-गान हो रहा है। वायु और अग्नि दोनों का मिलान होकर गान गाया जा रहा है। कितने सुन्दर उद्गान से यह सृष्टि-यज्ञ प्रारम्भ हुआ। उसी नियन्ता के नियन्त्रण में कार्य हो रहा है। आत्मा इस यज्ञशाला में कर्म करने वाला है। उस याग को जानने के लिए आत्मा यज्ञशाला में विराजमान है। आत्मा रूपी यजमान इस संसार को जानता रहता है, संसार में अनुसन्धान करता रहता है, लोक-लोकान्तरों को जानता रहता है।

विज्ञान में जाता है, तो कहीं आध्यात्मिकवाद में परिणत रहता है, तो कहीं भौतिकवाद में रूपाविष्ट हो जाता है। नाना प्रकार के ऋत वाले यह आत्मवत् अपने कार्य करता रहता है, क्योंकि वह यज्ञशाला में विराजमान है। अतः यज्ञशाला में जो क्रिया होती है, उसी के

अनुसार कहीं वह विचार करने वाला बन जाता है, कहीं यज्ञ करने वाला बन जाता है।

ब्रह्म-यज्ञ का उद्गाता कौन?

एक ब्रह्म-याज्ञिक यह विचारता है कि मुझे ब्रह्म का चिन्तन करना है। वह कहीं समाधिस्थ होता है, कहीं जनता में जनार्दन को स्वीकार करके कण-कण में प्रभु का दिग्दर्शन करता है। ऐसा जो महापुरुष होता है, वह ब्रह्म-यज्ञ को जानता है।

ब्रह्म-यज्ञ सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि ब्रह्म कहते हैं परमात्मा को, यज्ञ कहते हैं.इस संसार की रचना को। रचना हो करके यह संसार चल रहा है। एक लोक दूसरे में निहित होकर गति कर रहा है। अग्नि-वायु मिलकर दोनों गति कर रहे हैं। अन्तरिक्ष और ऋत गति कर रहे हैं। यह ब्रह्माण्ड ऋत और सत् में दृष्टिपात आ रहा है।

प्रातःकाल में पति-पत्नी एक स्थान में विराजमान होकर ब्रह्म-यज्ञ करते हैं। ऋषि-मुनि ब्रह्म-यज्ञ करते हैं ब्रह्म का अभिप्राय है.ब्रह्म का चिन्तन, ब्रह्म की आभा को, ब्रह्म की सृष्टि को जानना। ब्रह्म की आभा को अपने में निहित करने का नाम ब्रह्म-यज्ञ है।

देव-पूजा या देव-यज्ञ

हमारे यहाँ दो प्रकार के देवता कहलाते हैं, एक जड़ देवता तथा दूसरे चेतन देवता हैं।

जड़ देवता में ये पंचमहाभूत हैं। पंचमहाभूतों में उसकी रचना है, जैसे.सूर्य, चन्द्र, नाना नक्षत्र आदि ये हमारे देवता हैं। चन्द्रमा सोम अमृत प्रदान करता है, सूर्य तेज देता है, जीवन देता है, प्रकाश देता

है, ओज देता है, तेज की स्थापना कर देता है। पृथ्वी सुगन्ध देती है, जल हमें अमृत देता है, रस देता है। वायु हमें प्राण देता है। अन्तरिक्ष हमें शब्द देता है।

यह कितना सुन्दर यज्ञ हो रहा है ! देव-पूजा का अर्थ है.देवता का सदुयोग करना उनको क्रिया में लाना।

देव-यज्ञ में हमें अग्नि में सुगन्ध देना है। दुर्गन्धि के बदले सुगन्धि प्रदान करें। वाणी को मधुर करके वाणी का सुन्दर रस प्रदान करें। अग्नि को तेज देते चले जाएँ जिससे वायु की प्रतिक्रिया को जानते रहें। शब्द हमारा मधुर हो जिससे हमारा अन्तरिक्ष ऊँचा बने।

ये पाँच प्रकार की आभाएँ हैं। जब यजमान यज्ञशाला में विराज-मान होता है तो पुरोहित यही कहता है कि पंचमहाभूतों को जानने वाला पुरुष ब्रह्म-लोक में चला जाता है।

इसका स्पष्टीकरण यह है, ये पंचमहाभूत पाँच मनके हैं। वे एक ऋत में पिरोए हुए हैं। वह जो ऋत और सत् हैं, वह ओ३म् रूपी धागे में पिरोए हुए हैं। जब ओ३म् रूपी धागे को जाना जाता है, उस सूत्र को जानने वालों को ब्रह्म ही ब्रह्म सदैव दृष्टिपात आता है।

जड़ देवताओं के अतिरिक्त हमारे यहाँ चेतन देवता भी हैं। ब्राह्मण वेद का पठन-पाठन करने वाला जिसे हम पुरोहित भी कहते हैं, पराविद्या को जानने वाला है, वह ब्रह्म के निकट चला गया है।

यजमान कहता है.''हे पुरोहितो! मेरे यज्ञ को पूर्ण करके मुझे पराविद्या में ले जाओ। मैं इस संसार से उपराम होना चाहता हूँ।'' चेतन पुरोहितों द्वारा यज्ञ होता रहता है। यज्ञ का अभिप्राय है.मानव

को अच्छाइयों में परिणत होना, सुन्दर धाराओं को, धर्म के मर्म को जानना, देव-पूजा करना, उनको सुगन्धित करना। जहाँ यह यज्ञ है उसको देव-यज्ञ कहते हैं वहाँ जड़ और चेतन दोनों की पूजा होती है। पूजा का अर्थ है, उनको सदुपयोग में लाना।

अतिथि-यज्ञ

जो किसी की तिथि निश्चित न हो और वह श्रीमान् गृह में आ जाए उसको अतिथि कहते हैं। उसको नाना प्रकार के पदार्थों का पान कराना, उदर की पूर्ति कराना 'अतिथि-यज्ञ कहलाता है।

यजमान कहता है, हे अतिथि! आ, तू मेरे गृह के साकल्य को पान कर, तू अपने पुण्य को मुझे दे। पुण्यवान गृहों में ही अतिथि आते रहते हैं। जो बुद्धिमान तपस्वी होता है वह गृह में अतिथि बनकर आता है। वह अपने पुण्यों को गृह में त्याग देता है। जिन गृहों में महापुरुष आते रहें, महापुरुषों की तरंगें होती रहें, वह अपने शब्दों के चित्रें को गृह में त्याग देता है। वह अतिथि अपने पुण्यों को गृह में त्यागकर यजमान के हृदय की आभा को अपने समीप ले जाता है, हृदय में प्रसन्नता को युक्त कर देता है, वह अतिथि-यज्ञ कहलाता है।

बलि वैश्व-यज्ञ

बलि वैश्व वह है जो प्राणियों के लिए अपनी सुगन्धि देते हैं। प्राणों को भी न्यौछावर कर देते हैं। उन पक्षियों के लिए जो वाणी से वाक् उच्चारण नहीं कर सकते, वाक् उच्चारण तो कर लेते हैं परन्तु वह विद्या परिश्रम से जान पाता है, उन प्राणियों को देना हमारा बलि

वैश्व-यज्ञ है। अग्नि को देना, अग्नि उन्हें प्रदान कर देती है। अग्नि उसका हव्य बना करके उनको प्राप्त करा देती है, वह बलि वैश्य-यज्ञ है।

भूत-यज्ञ या पितृ यज्ञ

जितने पुरोहितजन होते हैं महापुरुष होते हैं, माता-पिता भी आते हैं उनका पूजन करना अर्थात् उनका यथोचित, उनकी इच्छाओं की पूर्ति करने का नाम उनकी पूजा कहलाई जाती है। जब उनकी सेवा की जाती है, उनका युक्त (उचित) आदर किया जाता है तो यह पितृ-यज्ञ कहलाता है। पितृ की बहुत विशाल व्याख्या है। माता-पिताओं का नाम भी पितृ है, राजा को भी पितृ कहते हैं, पितृ नाम आचार्यों का भी है, पितृ नाम परमात्मा का भी है, पितृ नाम अग्नि का भी है, वायु का भी है, अन्तरिक्ष का भी है, पितृ यज्ञ को भी कहा गया है। पितृ का अभिप्राय यह है कि जिससे हमारी रक्षा होती हो।

हम पंचमहायज्ञां को करने वाले बनें। पंचमहायज्ञ करने वाले यजमान अपने गृह को सुन्दर बनाते हैं।(छब्बीसवाँ पुष्प २४-५-७६ ई०)

यज्ञ-चिकित्सा

कोई भी रोग ऐसा नहीं जो यज्ञ से शांत न हो सके। यक्ष्मा रोग की चिकित्सा के लिए रोगी को एक वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर यज्ञ करना चाहिए। इस यज्ञ में क्रीकल की, कीर की समिधा हो। उसमें १-गिलोय, २-स्वनि, ३-श्वेताम्बरी, ४-चन्दन, ५-अपामार्ग, ६-आस्वकेतु की समिधाएँ हों। आस्वकेतु नाम का वृक्ष हिमालय की कन्दराओं में

होता है। उसकी समिधाओं को एकत्रित करके उसमें ७-आस्कन्द नाम की औषधि हो, ८-गोघृत हो, नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थ हों।

एक सौ एक प्रकार की औषधियों को एकत्रित करके सामग्री बनाई जाती है। गो-घृत के साथ उसकी आहुति एक वर्ष तक दी जाती है, गो-घृत का लेपन भी किया जाता है।

यज्ञशाला तीन कोण की होनी चाहिए, उसमें अग्नि इतनी होनी चाहिए कि सामग्री ही भस्म हो जाए। इस प्रकार करने से यक्ष्मा तथा जिसके हृदय में क्रान्ति होती है वह भी शान्त हो जाती है। (सत्रहवाँ पुष्प २५-२-७२ ई०)

यज्ञ द्वारा घृत का निर्माण

वनस्पतियों को पशु ग्रहण करके, अपने नाना यन्त्रें में उसका मन्थन करके घृत बना देते हैं। यदि हम बाह्य औषधियों को एकत्रित करके उस घृत को बनाना चाहें तो यह अनुसन्धान का विषय है। इस सम्बन्ध में महर्षि वायु, दालभ्य तथा सोम मुनि के जो विचार हैं, वे इस प्रकार के हैं :.

नाना प्रकार की औषधियों को एकत्रित करते हैं। अष्ट-कोण यज्ञशाला बनाते हैं। अष्ट-कोण यज्ञशाला बनाकर उसके ऊपरी विभाग पर १-हरित, २-श्वेत तथा ३-पीत वर्ण के ''कृति'' या आस्वान-अपगृह'' की छाया की जाती है। इन वनस्पतियों को यज्ञशाला में परिणत करके उन्हें तपाते हैं। तपाने के पश्चात् उनकी धारा बनती है। तब यज्ञशाला में उनका ''अपरात निदान'' होता है। इसी निदान के कारण इसमें जीवन की एक महान् धारा पवित्रता में परिणत हो

जाती है। यज्ञशाला में एक महत्ता का दिग्दर्शन प्राय होता रहता है जिसके ऊपर हमारा विचार होता है। विचार के साथ भौतिक धारा होती है। उस यज्ञशाला में उस याज्ञिक पुरुष को एक महान् धारा में परिणत होने का एक विचार होता है। जब मानव उस यज्ञशाला में परिणत होता है तो उसकी विचारधारा पवित्रता में परिणत हो जाती है।

यज्ञ का घृत जानने के लिए सर्वप्रथम मन और प्राण की सूक्ष्मता को जानना होगा। द्यु-लोक में नाना प्रकार की वनस्पतियों का जो रस है, यज्ञ के द्वारा उसका पात बनाया जा सकता है। पात बना करके सूर्य की नाना किरणों को उसमें ला सकते हैं सूर्य की किरणों के द्वारा ही पशु के शरीर में भी प्रायः उसका निदान होता है। इसकी धारा को ऊपर भी अनुसन्धान किया जाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १२-७-७१ ई०)

यज्ञ के स्वरूप का यन्त्रों द्वारा दिग्दर्शन

त्रेता काल में एक समय कजली वन में ऋषियों की एक सभा हुई, जिसमें १-विभाण्डक ऋषि, २-महर्षि शमीक, ३-महर्षि शौनक, ४-महर्षि दालभ्य, ५-महर्षि तिलक, ६-महर्षि प्रवाहण, ७-महर्षि सोमभाग, ८-महर्षि पनपेतु, ९-महर्षि सुकेता, १०-महर्षि विश्वामित्र, ११-देवर्षि नारद, १२-महर्षि वशिष्ठ, १३-महर्षि गार्हपतय, १४-वर्तन्तु ब्रह्मचारी और १५-प्रभानु कृतिभा आदि थे।

इस सभा में महर्षि शौनक ने कहा हमारा विचार ऐसा है कि अयोध्या में एक यज्ञ होना चाहिए। यज्ञ में राम को यजमान निर्वाचित

किया जाए। कर्त्तव्य पालन करते हुए अयोध्या नगरी को सुगन्धित बनाया जाए जिन्होंने संसार में अपनी संस्कृति का प्रसार किया, ऐसे महान् जनों को ऊर्ध्वगति में लाया जाए। बुद्धिमानों का समाज था, यह विचार बन गया। इस कार्य को सम्पन्न करने तथा व्यवस्था के लिए १६-ऋषि कागा को नियुक्त किया गया।

१-महर्षि विभाराडक, २-महर्षि शमीक, ३-महर्षि शौनक, ४-महर्षि सुकेतु तथा ५-महर्षि दालभ्य ने विचार बनाया कि भगवान राम के समीप जायें और अपनी विचारधारा प्रकट करें।

महाराजा राम द्वारा विशेष यज्ञ

पाँचों प्रातःकाल में गमन करके भ्रमण करते हुए अयोध्या पहुँचे। १-राम, २-लक्ष्मण, ३-भरत और ४-शत्रुघ्न चारों विधाता प्रातःकाल में देवताओं के ऋण से उऋण हो रहे थे, देव-पूजा कर रहे थे, अपना विचार विनिमय कर रहे थे। इतने में ही ऋषियों का आगमन हुआ। इन चारों विधाताओं ने अपना-अपना आसन त्यागकर ऋषियों का स्वागत किया, आसन दिया। आसन दे करके उनके चरणों को छू करके नमस्कार करके कहा :.

"भगवन् ! आप लोगों का आगमन कैसे हुआ ?"

ऋषियों ने कहा, "महाराज ! हम इसलिए आए हैं कि हमारा विचार है कि तुम यज्ञ करो।"

उन्होंने कहा "बहुत प्रिय, जो आपकी आज्ञा हो उसका पालन अवश्य करेंगे।"

यज्ञ का दिवस निश्चित होकर यज्ञशाला का निर्माण होने लगा।

महर्षि याज्ञवल्क्य की पोथी 'शत-पथ-ब्राह्मण' के अनुसार यज्ञशाला का निर्माण किया गया। निर्माण होने के पश्चात् ऋषि यज्ञशाला में विराजमान हो गए। जब यज्ञ प्रारम्भ होने लगा तो राम ने कहा, ''हे ऋषियों ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह जो यज्ञ हो रहा है, इसका अन्तरिक्ष में क्या परिणाम होता है ?''

राम द्वारा तीन बार प्रश्न पूछे जाने पर महर्षि भारद्वाज ने कहा, ''हे राम! तुम्हारी यही जानने की इच्छा है। हम ऋषि-मुनि वैज्ञानिक रूपों से तुम्हें यज्ञ के चित्रें का दिग्दशग्न कराएं, तब तुम यज्ञ पूर्ण करो।''

राम बोले ''महाराज ! मेरी तो यही इच्छा है।''

उन्होंने कहा, ''बहुत सुन्दर।''

महर्षि भारद्वाज वैज्ञानिक थे, उन्होंने अपने शिष्य सुकेता ब्रह्मचारी से कहा, ''आओ, यज्ञशाला के यन्त्रें को लाया जाए।''

यन्त्र वहाँ आ गए।

महर्षि भारद्वाज ने कहा, ''राम ! प्रश्न करो, क्या जानना चाहते हो?''

राम ने कहा, ''प्रभो ! मैं इसका विधान जानना चाहता हँूँ।'' राम ने वेद-मन्त्र लेकर कहा, ''इस वेद-मन्त्र के आधार पर यजमान को सुख प्राप्त होता है। परन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि यजमान कैसे बनता है?''

महर्षि भारद्वाज ने अपने वंश का परिचय देकर कहा, ''हमारे वंश में वैज्ञानिक होते चले आए हैं, हे राम! तुम दृष्टिपात करो।''

जब यज्ञ आरम्भ होने लगा, अग्नि प्रदीप्त हो गई, उसके पश्चात् जब यज्ञशाला में साकल्य की आहुति दी जाने लगी तो महर्षि भारद्वाज ने यन्त्रें को दृष्टिपात कराया। शब्दों के साथ में यजमान, होता, ब्रह्मा आदि के चित्र अन्तरिक्ष में जा रहे हैं।

उन्होंने कहा, "हे राम ! दृष्टिपात करो। इस यन्त्र में तुम्हारी यज्ञशाला का जितना चित्र है, यह सब अन्तरिक्ष को जा रहा है। द्यु-लोक को जाने वाला शब्द द्यु-लोक के मानव को प्राप्त हो रहा है। हे राम! तुम्हें प्रतीत है कि मानव का जिस प्रकार का शब्द है, उतने ही शब्दों के आकार में उसका चित्र अन्तरिक्ष में रमण कर रहा है।"

यह दृष्टिपात करके राम बोले, "धन्य है, मैं यही जानना चाहता था।"

ब्रह्मचारी सुकेता ने कहा-"प्रभो ! हमारी विज्ञानशाला में ऐसे-ऐसे यन्त्र है यदि एक सहस्र वर्षों पूर्व मानव का निधन हो गया हो परन्तु उस मानव का एक रक्त का बिन्दु आ जाए तो उस यन्त्र में उस रक्त बिन्दु से मानव का चित्र भी साक्षात्कार हो जाता है।"

इस प्रकार महर्षि भारद्वाज ने भगवान राम को यज्ञशाला के सर्व रूप को वर्णित किया और दृष्टिपात कराया। यज्ञ छः मास तक चलता रहा। छः मास के पश्चात् इसकी पूर्णाहूति हुई क्योंकि यह राष्ट्रीय यज्ञ था। भगवान राम ने संसार को विजय करके यह यज्ञ किया था, उसका समापन हो गया। ऋषि-मुनियों का हृदय प्रसन्न हो गया। (सत्ताईसवाँ पुष्प ६-५-७६ ई०)

यज्ञ और सदाचार

जो मानव यजमान बन करके अपने आहार और व्यवहार का शोधन नहीं कर पाता और वह मोक्ष और सन्तान की कल्पना करना चाहता है तो यह उसका मानवीय-विज्ञान के ऊपर भयंकर आक्रमण हो जाता है। यदि वह चाहता है कि मैं मोक्ष को प्राप्त हो जाऊँ, यह कदापि न होगा।

यज्ञ से मोक्ष उसी काल में प्राप्त होता है, जैसे हम आहुति देकर साकल्य भस्म कर रहे हैं, स्थूलता को भस्म करके हम उसका सूक्ष्म रूप बना करके शोधन कर रहे हैं, अन्तरिक्ष का शोधन कर रहे हैं, इसी प्रकार ज्ञान से शिक्षा ले करके हम अन्तरिक्ष जगत् में भी स्थूल को सूक्ष्मता में ले जाते हैं। अर्थात् नाना प्रकार के जो अवगुण हैं, हमारा जो आहार-व्यवहार अशुद्ध हो गया है, स्थूल हो गया है, वह जो पाप-मूल हो गया है, उसको ज्ञान रूपी अग्नि में भस्म करके सूक्ष्म रूप बनाना है। (सत्ताईसवाँ पुष्प ३-३-७६ ई०)

यज्ञ की दक्षिणा का आदर्श

महाराजा अश्वपति ने वृष्टि-यज्ञ के समापन के पश्चात् प्रत्येक से उसकी दक्षिणा पूछी।

यज्ञ के प्रत्येक पदाधिकारी के उत्तर

१-ब्रह्मा ने कहा : "उसकी कोई दक्षिणा नहीं होती, केवल हृदय के विकल्प को दे दीजिए, अर्थात् त्रुटियों को दे दो।"

२-पुरोहित ने कहा : "मैं यह दक्षिणा चाहता हूँ कि तुम्हारा जीवन यज्ञमय बना रहे।"

३-उद्गाता ने कहा : "मैं यह दक्षिणा चाहता हूँ कि मेरा जो

उद्गातापन है, जो उद्गम विचार है। वे तुम्हारे गृह में सदैव बने रहें।''

४-अध्वर्यु ने कहा : ''चौबीस से लेकर एक संकल्प के साथ जो साकल्य से आहुति दिलाई है, मैं इसकी दक्षिणा चाहती हूँ चौबीस प्रकार की जो प्रतिभा है, वह मुझे अर्पित कर दीजिए। वह मेरे गृह में, मेरे राष्ट्र में सदेव बनी रहेगी जिससे यह राष्ट्र ऋषियों का बन जाए।''

महाराजा अश्वपति महाराज की धर्मपत्नी जी ने प्रत्येक से दक्षिणा के विषय में पूछा तो :-

१-ब्रह्मा ने कहा, ''तेरे हृदय में जो मानवीय अग्नि प्रदीप्त हो रही है, वह इसी प्रकार धधकती रहे। इसकी मुझे यह दक्षिणा दे दीजिए कि यह अग्नि शान्त न होने पाए।''

२-पुरोहित ने कहा, ''हे देवी! मैं यह दक्षिणा चाहता हूँ कि तेरे गर्भ से जिस बालक का जन्म हो उसमें और तेरे में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए।''

३-उद्गाता ने कहा, ''राष्ट्र में जो तुम्हारे यहाँ कन्याएँ हों वे किसी प्रकार के दुराचार में न रहें। मैंने जो उद्गम विचारों की तीन प्रकार की आहुतियाँ दी हैं वे तुम्हारे सर्व-राष्ट्र में कन्याओं के समीप बनी रहें।''

४-अध्वर्यु ने कहा, ''हे देवी! मैं यह चाहती हूँ कि मैंने जो साकल्य बनाया है, वह तुम्हारे राष्ट्र में, तुम्हारे ही द्वारा बना रहेगा। तुम्हारी जठराग्नि में जो साकल्य बन रहा है, वह इतना पवित्र हो जितना यज्ञ का सकल्य है। जब तुम्हारा चरित्र रूपी, साकल्य पवित्र

बना रहेगा तो तुम्हारे अश्वपति का राष्ट्र पवित्र होगा।''

ब्रह्म-वेत्ताओं की दृष्टि में द्रव्य

द्रव्य-दान शरीर के पालन-पोषण के लिए दिया जाता है, जो बाह्य दक्षिणा कहलाती है। महाराज अश्वपति ने चाक्रायण-उद्गाता को एक सहस्र मुद्रा दे दीं।

योगद् पुरोहित को भी एक सहस्र मुद्रा दे दी। ब्रह्मा को एक स्वर्ण के रथ में मुद्राएँ भर कर दे दीं।

अध्वर्यु (शृंगी ऋषि जी की शिष्या बालिका) की सूक्ष्म आयु में प्रबल ज्ञान होने के कारण एक स्वर्ण रथ में एक सहस्र मुद्रा तथा एक सहस्र गऊएँ दीं।

किन्तु उसने स्वीकार नहीं किया और कहा, ''मैं यह चाहती हूँ कि मेरा ज्ञान इसी प्रकार प्रदीप्त होता रहे।'' उसने किसी भी दशा में उस दक्षिणा को स्वीकार नहीं किया। अन्त में एक सहस्र मुद्राएँ ही स्वीकार कीं।

महर्षि शृंगी जी से कन्या के प्रश्न

प्रश्न : भगवन् ! स्वर्ण के रथ का आप क्या करोगे, आप तो वस्त्र भी धारण नहीं करते ?

उत्तर.हे देवी ! यह हमारे कार्यों में आ जाएगा।

प्रश्न : क्या कार्य करोगे, यह कोई वास्तविक सम्पदा नहीं है?

उत्तर.यह वास्तविक सम्पदा तो नहीं है परन्तु वास्तविक सम्पदा के साथ यह हमारे पालन-पोषण में आ जाएगी। पालन-पोषण भी तो वास्तविक सम्पदा होती है।

प्रश्न : भगवन् ! इससे पूर्व आप क्या कार्य करते थे, इससे पूर्व आपके शरीर की पालना किस प्रकार होती थी?

उत्तर.यह तो प्रभु देता ही रहता है।

प्रश्न : यदि हम इस द्रव्य को त्याग दें तो क्या प्रभु तब नहीं देगा?

उत्तर.अवश्य प्रदान करेगा, परन्तु यजमान के यहाँ से जो हमें प्राप्त हुआ है, वह हमारे पालन-पोषण में आ जाना और उसका संकल्प पूरा हो जाना बहुत अनिवार्य है।

प्रश्न : तो क्या मैं यह स्वीकार कर सकती हूँ कि मैं इस द्रव्य को अपनाकर चलूँ ?

उत्तर.अपनाओ या न अपनाओ किन्तु अश्वपति से जो द्रव्य प्राप्त हुआ है, वह सुन्दर है, यह उसका संकल्प है। उसी संकल्प के साथ हमारा जीवन बनेगा।

आगे रथ को रुकवाकर पुनः प्रश्नोत्तर

प्रश्न : आपने कहा था कि जो प्रकृतिवाद है, वह हमारे विनाश का कारण बन जाता है। फिर आपने यह विनाश का कारण क्यों अपना लिया?

उत्तर.हे देवी ! यह जो मार्ग हमने अपनाया है, यह विनाश का वास्तविक मार्ग नहीं है। विनाश का कारण यह तभी होता है जब हम इसमें सक्रिय हो जाते हैं। हम इसमें न तो सक्रिय है और न हमारा इससे कोई मिलान है। हम इससे पृथक् भी हैं और संलग्न भी हैं।

प्रश्न : यह पृथक् कैसे है ?

उत्तर.तुम दृष्टिपात कर रही हो कि कौन सा अंग किस कार्य में संलग्न कहाँ है।

प्रश्न : यह तो नहीं है परन्तु आपके मन की भावना क्या कह रही है? आपने इसको अपना लिया है। मेरा विचार तो यह है कि इस द्रव्य को अश्वपति के राष्ट्र को दे दिया जाए।

उत्तर.यह होना इसलिए असम्भव है क्योंकि यह यज्ञ की दक्षिणा है और इस प्रकार प्रदान करना हमारे लिए योग्य नहीं है।

किसी प्रकार महर्षि शृंगी जी ने कन्या को मनाकर आगे आश्रम के लिए प्रस्थान किया। आश्रम में जाकर, विश्राम करते समय अर्द्ध-रात्रि में जब मूल-नक्षत्र की प्रतिभा आ रही थी, तो कन्या ने पुनः प्रश्न किया।

प्रश्न : द्रव्य का क्या करोगे ? इसको दान कर दो, यह हमें नहीं चाहिए, यह ब्रह्मवेत्ताओं के लिए कलंक है। इस जीवन को कलंकित करना हमारा-आपका कर्त्तव्य नहीं।

उत्तर.तुम मेरे आसन से चली जाओ, जहाँ से आई थीं वहीं चली जाओ, अन्यथा तुम्हारा मस्तिष्क फट जाएगा।

प्रश्न : मेरा मस्तिष्क फट जाएगा, कैसे फटेगा ?

उत्तर.तुम विषय में अति प्रश्न करने लगी हो, अति प्रश्न करना ही तुम्हारे मस्तिष्क के दो भाग हो जाना है।

कन्या शान्त हो गई, रात्रि समाप्त हो गई। कन्या ने भयभीत होकर दिन में कोई प्रश्न नहीं किया। अगली रात्रि में कन्या से पूछा :

प्रश्न : पुत्री ! तुम्हारी इच्छा क्या है ?

उत्तर.भगवन् ! मेरी इच्छा यह है कि ब्रह्मवेत्ताओं को कलंकित नहीं होना चाहिए। ब्रह्मवेत्ताओं के लिए दो कलंक हैं।

१-द्रव्य एवं २-भोग। नाना प्रकार की जो मन की विकृतियाँ हैं, ये उसके लिए चारित्रीय महाकलंक हैं। ३-लोकेष्णा भी इसके लिए महाकलंक है। द्रव्य के तीन कलंक अपनाने से आप कलंकित होते हैं। इसीलिए हमें इसे नहीं अपनाना चाहिए।

दक्षिणा के द्रव्य का त्याग

कन्या के अत्यधिक अनुरोध करने पर द्रव्य को सरयू नदी के तट पर भिक्षुओं में वितरित कर दिया गया तथा रथ को महाराजा अश्वपति को लौटाने चले! यह भार कन्या को सौंपा गया, कन्या उसे लेकर महाराजा अश्वपति के पास गई और रथ लौटाने को कहा। महाराजा अश्वपति ने स्वीकार नहीं किया तो दोनों में प्रश्नोत्तर हुए :

राजा : इसको मैं संकल्प कर चुका हूँ, अतः नहीं अपनाऊँगा।

कन्या : आपने यजमान के रूप में संकल्प किया है। अब मैं अध्वर्यु के रूप में संकल्प करती हूँ, इसे स्वीकार करो।

राजा : तुम अध्वर्यु हो, ब्रह्मा की दक्षिणा है। यदि वह मुझे दे तो स्वीकार कर सकता हूँ। मैं इसे इस रूप में स्वीकार कर सकता हूँ कि जैसे ब्रह्म का संकल्प प्रकृति को प्राप्त हो गया और प्रकृति का संकल्प ब्रह्म को प्राप्त हो गया। दोनों का संकल्प मिलकर एक संकल्प बन गया है।

कन्या गुरुजी के पास गई। गुरु ने संकल्प करने से मना कर दिया। कन्या ने कहा : मैं अपने प्राणों को त्याग दुंगी।

गुरुजी : तुम प्राणों को नहीं त्याग सकती, ब्रह्मवेत्ता कहलाती हो। ब्रह्मवेत्ता तो यह कहता है कि तुम प्राणों को कैसे त्याग सकती हो। प्राण तुम्हारा नहीं है, प्राण सदा रहने वाला है। प्राण में यह सर्वस्व ओत-प्रोत है। जब इस शरीर के साथ आओगी, तब भी प्राणों के साथ जाओगी। तुम कौन से प्राण को त्यागना चाहती हो ?

कन्या : मैं उस प्राण को त्यागना चाहती हूँ जिससे तुम्हें मैं दर्शन न दे सकूँ।

ऋषि : योग में कोई बात असम्भव नहीं है। योग में तो यह है कि सूक्ष्म शरीर में जाने पर भी वार्ता प्रकट कर सकते हैं तथा कारण-लिंग (शरीर) में जाकर भी, तुम कहाँ जाओगी ? प्रभु के क्षेत्र से कोई मानव पृथक् नहीं है।

अन्त में गुरुजी ने महाराजा अश्वपति के पास जाकर, महाराजा अश्वपति के लिए रथ का संकल्प कर दिया। (तेरहवाँ पुष्प १-११-६४ ई०)

आध्यात्मिक-यज्ञ

आध्यात्मिक-यज्ञ का अर्थ यह है कि जिसमें हमारी आत्मा का विकास हो। जैसे अग्नि ऊपर को उठती है, ऐसे ही आत्मा को ऊपर को उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। (प्रथम पुष्प ६-४-६३ ई०)

भौतिक-वेदी हमें आध्यात्मिक-यज्ञ तक पहुँचा देती है। जहाँ अन्तःकरण यज्ञशाला है, आत्मा आहुति देने वाला है तथा परमात्मा बन करके आत्मा को प्रेरणा देकर ऊँचे पथ पर चला रहा है। (प्रथम पुष्प १-४-६२ ई०)

जैसे भौतिक-यज्ञ में घृत की आहुति दी जाती है, इसी प्रकार आध्यात्मिक यज्ञ में 'गो' नाम इन्द्रियों का है। इन्द्रियों के जो विषय अर्थात् चेतनाएँ हैं, उसको कटिबद्ध करके मन रूपी घृत में रमण कर दिया जाता है, इसको तन्मय कर दिया जाता है, हृदय-रूपी यज्ञशाला में, जिसको द्यु-लोक माना गया है, इसकी आहुति दी जाती है तो उसी को दर्शन माना जाता है। इसी को १-मन का दर्शन, २-आत्म-दर्शन, ३-ब्रह्म-दर्शन, ४-यौगिक-दर्शन, ५-द्यु-दर्शन आदि नामों से जाना जाता है। हृदय और मस्तिष्क दोनों के समन्वय करने वाला जो घृत है, उससे प्रदीप्त अग्नि में, चेतनाओं में और जागरूकता होने लगती है जिससे हम सूक्ष्म-जगत् में चले जाते हैं।

स्थूल (शरीर) के सूक्ष्म जगत् में जो एक यज्ञ हो रहा है उसमें मानव केवल आत्म-स्वरूप बन जाता है। उसमें आत्मा केवल सन्निधानमात्र से ही दृष्टिपात आता है। उस समय योगी अपने में ही ऐसा मग्न रहता है कि इस बाह्य-जगत् में उसकी प्रवृत्ति भी उत्पन्न नहीं होती। प्रवृत्ति तो रहती है परन्तु उसका विकास नहीं होता वे सुगन्धि में उन सूक्ष्म चेतनाओं में इतनी चेतनित हो जाती है कि जगत् में आने वाली तरंगों का प्रादुर्भाव सूक्ष्म तथा न होने के तुल्य ही हो जाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १२-४-७१ ई०)

आध्यात्मिक देवी-यज्ञ

इस मानव शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, दस प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार हैं। इनके नाना प्रकार के पिषयों को एकत्रित करके उनका साकल्य बनाकर उस हृदय रूपी यज्ञशाला में

आहुति देनी चाहिए। यह दैवी-यज्ञ या आध्यात्मिक-यज्ञ कहा जाता है, यह सर्वोपरि-यज्ञ है जिस पर विचार करके मानव सदैव महत्ता की ज्योति को प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक-यज्ञ का अभिप्राय यह है कि आत्मिक चेतना को जानना तथा उसे जागरूक करना है।

दो प्रकार के हृदय माने जाते हैं.१-ब्रह्मरन्ध्र तथा २-रसनाकण्ठ और नाभि के मध्य में स्थित है। मस्तिष्क के हृदय का समन्वय होना चाहिए। यह समन्वय करने के लिए इस प्रकार ध्यानावस्थित हो जावें कि 'ओ३म्' रूपी धागे में इन्द्रियों के विषयों को पिरो दिया जाए। इस प्रकार पिरो देने से एक माला बन जाती है। उसका संकल्प बनाकर उसकी आहुति हृदय रूपी यज्ञशाला में दी जाती है। आहुति का अभिप्राय यह है कि इस जगत्त् में, प्रकृति के गर्भ में मन और प्राण अपना कार्य कर रहे हैं, सर्वत्र ये ही हैं। जिधर भी दृष्टिपात करें, सर्वत्र मन और प्राण ही हैं।

मानव शरीर में ही क्या, वसुन्धरा के गर्भ में जितना भी खाद्य है, खनिज है, रसों का संचार है, विभाजनवाद है, वह विश्वभान मन (समष्टि-मन) के द्वारा होता है। प्राण का विभाजन होता है परन्तु मन ज्ञान का माध्यम बनकर आत्मा का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्राण को अपनी ध्वनि देता रहता है तथा प्रेरणा देता रहता है। यह मन प्रकृति का सबसे सूक्ष्म तत्त्व है। इसलिए मन को जान लेने के पश्चात् भौतिकवाद में कोई वस्तु जानने के लिए शेष नहीं रह जाती। मन को नारद कहा जाता है। (उन्नीसवाँ पुष्प १८-३-७२ ई०)

आत्मिक-यज्ञ

आत्मिक-यज्ञ वह पदार्थ है जो हमें परमात्मा से मिलान कराता है। उसकी करुणामयी गोद में जाने के कारण उसे माता दुर्गा, माता काली भी पुकारा जाता है। हमारा हृदय यज्ञशाला है, इसमें बैठा हुआ यज्ञ की प्रेरणा देने वाला परमात्मा इस यज्ञ का 'ब्रह्मा' है। हमारे संकल्प-विकल्प आहुति देने वाले हैं। हम काम क्रोध, मद, मोह, लोभ इन सबकी सामग्री बनाकर ज्ञान रूपी अग्नि से इसमें भस्म कर देते हैं। यह आत्मिक-यज्ञ हो जाता है।

इस आत्मिक-यज्ञ से आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से हो जाता है। जब यह आत्मा, परमात्मा की गोद में विराजमान हो जाता है तो इसका नास्तिक परिवार समाप्त हो जाता है और आस्तिक परिवार आ जाता है। अपने परिवार सहित वह परमात्मा में रमण कर जाता है।

परमात्मा ने मानव शरीर का निर्माण इसलिए किया है कि इसमें ओज और तेज हो, रसना में तेज होना चाहिए। यह ज्ञान-रूपी सरस्वती की इच्छुक रहती है। यह हमें मानव, ब्रह्मा आदि बना देती है। अपनी रसना के स्वाद के लिए दूसरों का भक्षण करने से हमारा यज्ञ सम्पन्न नहीं होगा। आहार-व्यवहार के पवित्र होने से भावनाएँ पवित्र होंगी, इनसे उच्च-विचार होंगे। काम, क्रोधादि की सामग्री बनाकर ज्ञान रूपी अग्नि से भस्म कर देंगे।

समालोचना करना, दूसरों की त्रटियों को देखना छोड़कर अपनी त्रुटियों पर विचार करते हुए, आर्य बनने की भावना को लेकर वेद के ज्ञान के साथ-साथ अपनी आन्तरिक भावनाओं को जानना चाहिए।

ज्ञान रूपी अग्नि, हमें प्रभु के आश्रित, सेवक तथा सहायक बनने से आ सकती है। उस प्रभु के समक्ष हम यज्ञ के द्वारा ही पहुँच सकते हैं। (सातवाँ पुष्प ७-११-६३ ई०)

आध्यात्मिक-जगत् में यजमान कहते हैं आत्मा को तथा ब्रह्मा कहते हैं परमात्मा को और यह शरीर यज्ञशाला रूपी वेदी है। हे आत्मा ! तू यजमान बनकर उस ब्रह्मा का मनन कर, अपनी इन्द्रियों से शुभ कर्म कर, पाप से बच, इस यज्ञशाला को पवित्र बना। क्रोध, काम-वासना और मोह आदि न कर। इस यज्ञशाला में ऐसे रहना है जैसे जल में कमल और मुख में रसना। इस यज्ञशाला में तू वासना रूपी पत्नी के सहित आया है, उसे नियन्त्रण में रख जिससे तेरा भविष्य, तेरा जीवन जन्म-जन्मान्तरों के लिए विलक्षण बन जाए। (आठवाँ पुष्प १४-११७६३ ई०)

आध्यात्मिक अजयमेध-यज्ञ

"मेध नाम आत्मा का है तथा "अजय" नाम उसकी प्रजा का है। आत्मा की प्रजा उसका परिवार है। अन्तःकरण, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि आत्मा का परिवार है। ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ भी आत्मा के परिवार ही हैं। आत्मा तथा उसके परिवार को जान लेने के पश्चात् इस आत्म-तत्त्व के जानकार बन जाते हैं। (दूसरा पुष्प ३-४-६२ ई०)

आध्यात्मिक पंचक-यज्ञ

'पंचक-यज्ञ का अभिप्राय यह है कि जहाँ पाँच वस्तुएँ हों, जैसे. पाँच ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञान प्रधान होता है। ज्ञान का नाम अग्नि भी है।

अतः उनमें अग्नि प्रधान होती है। ज्ञान रूपी अग्नि का सम्बन्ध पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से होता है, जो हमारे ज्ञान का कारण बनती हैं। इनका सम्बन्ध 'पंचक-यज्ञ' से रहता है। पंचक-यज्ञ का अभिप्राय यह है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का समावेश मन में किया जाए, मन का समावेश बुद्धि में, बुद्धि का अन्तःकरण में, अन्तःकरण का समावेश अहंकार में किया जाए। जब चित्त में सबका समावेश हो जाता है और आत्मा इस शरीर में याज्ञिक है, चह पंचक यज्ञ करता है तथा इसमें सुगठित रहता है। जब ये सब एक-दूसरे में समाहित हो गए तो आत्मा का ज्ञान सूक्ष्म बन करके आनन्द हो जाता है।

पंचक-यज्ञ करने का अभिप्राय यह है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को समावेश करने की हमारी प्रवृत्ति होनी चाहिए। जब एक-दूसरे में समावेश हो जाते हैं तो पंचक-यज्ञ हो जाता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने में समाहित करने वाला अन्तरात्मा, अन्तर्मुखी बन करके इन पाँचों को अपने में समाहित करके जब यज्ञ करता है, अर्थात् एक सूत्र में लाकर प्रभु से मिलान करता है तो वह आवागमन की प्रतिभाओं से विमुख हो जाता है। ज्ञान के क्षेत्र में बिखरा न रहने से वह 'पंचक-यज्ञ कहलाता है।

जिस प्रकार यज्ञ-वेदी में अग्न्याधान किया जाता है, उसी प्रकार अन्तःकरण में भी अग्न्याधान करना चाहिए। अन्तःकरण का अग्न्याधान ज्ञान-कर्म-उपासना है। ज्ञान की समिधा बनाकर उपासना के घृत की उसमें आहुति दें। इससे अनतःकरण के संस्कार उद्बुद्ध हो जाएँगे। उस समय शरीर में वास करने वाले देवता जागरूक होकर, तुम

देववत् बन जाओगे, परमपिता परमात्मा को प्राप्त हो जाओगे।

जैसे अग्नि सदैव ऊर्ध्वगति वाला होता है उसी प्रकार आत्मा का जो सखा प्रभु है वह भी ऊर्ध्व जाने वाला है तथा प्रफुल्ल यज्ञ है। जब ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के विषयों की सामग्री बनाकर यज्ञ करते हैं तो जीवन वास्तब में भाग्यशाली बन जाता है।

विषय-वासना वाले साहित्य का त्याग

यदि अग्न्याधान करने वाला मानव अकल्याण की पुस्तक का अध्ययन करता है तो उसे यज्ञ करने का अधिकार नहीं होता, क्योंकि वह कायर बन जाता है, वह तपस्या नहीं करना चाहता। ऐसी पुस्तकों का अध्ययन करने से आसुरी प्रवृत्ति आ जाती है, वह सुकृतों का हनन करने लगती है। वास्तव में हमें इन्द्रियों का अध्ययन करके शरीर का पंचक यज्ञ' करना चाहिए।

(इक्कीसवाँ पुष्प पृष्ठ-६६)

जब प्रत्येक इन्द्रिय और मन आदि सब मनुष्य के शासन में रहते हैं और यह आत्मा यजमान होकर, इन सबकी सामग्री बनाकर, ज्ञान रूपी यज्ञशाला में आहुति देने वाला बन जाता है तो उस आत्मा का प्रभाव संसार में इस प्रकार ओत-प्रोत हो जाता है, जैसे वेद का प्रत्येक मन्त्र 'ओ३म्' की ध्वनि से बिंधा है। (चौथा पुष्प १८-४-६४ ई०)

९ नवम् अध्याय-सामाजिक खण्ड

सर्व-सुखों का मूल.धर्म

आज धार्मिकता होते हुए भी संसार सुखी नहीं। इसका मूल कारण यह है कि संसार में स्वार्थवाद की प्रतिभा (बुद्धि) अधिक होने के कारण उसमें अन्तर्द्वन्द्व (आन्तरिक संघर्ष) आता जा रहा है। वह अन्तर्द्वन्द्वता मानव के हृदय को निगलती चली जाती है।

दूसरा कारण यह है कि धार्मिकता विचारों में तो है किन्तु उसका अनुकरण तथा आचरण नहीं किया जाता। शिक्षक संसार में बहुत होते हैं किन्तु उसको अपने क्रियात्मक जीवन में लाने वाले सूक्ष्म होते हैं। यहाँ महापुरुषों का अनुकरण जब राजा-प्रजा द्वारा सुन्दर रूपों में किया जाता है तो उसी समय यह जगत् सुन्दर धार्मिकता में परिणत होता चला जाता है। अतः यहाँ उच्चकोटि के ब्राह्मणों की आवश्यकता है।

जब धार्मिक-वाद की मानव-वाद में इस प्रकार प्रवृत्ति हो जाती है कि राजा के अधार्मिक हो जाने पर वह उस राजा को भी धिक्कार सके, तो उस समय संसार में धार्मिकता का प्रचलन होता है। तब यौगिक-प्रक्रियाओं में सुन्दर-वाद आ जाता है। (बीसवाँ पुष्प १८-२-७० ई०)

धर्म की मीमांसा

१-सुकेतु ऋषि ने स्वाति ऋषि को लोक-लोकान्तर का वर्णन करते हुए बताया था कि किसी लोक में जाओ 'धर्म एक ही है' धर्म कहते है. 'यौगिक-क्षेत्र' को। 'इन्द्रियों के विषय को संयम में लाने का

नाम धर्म है। सत्य ही धर्म का मूल है तथा धर्म की आभा है। (बीसवाँ पुष्प २८-३-७३)

२-धर्म रूढ़ि के लिए नहीं होता। वह तो मानव की इन्द्रियों में समाहित रहता है। 'धर्म' ऐसा शब्द है, जैसे वायु सबके लिए समान है। सूर्य का प्रकाश सबके लिए है। धर्म की मीमांसा तो यह है 'धर्मः प्रवे आचरणः' जो धर्म को धारण करता है। सत्यवाद, मानववाद आदि जितनी सुन्दरताएँ तथा वस्तुएँ हैं, उन सबका नाम धर्म है। अपने कर्त्तव्य को पालन करने का नाम धर्म है। (धारणात्-धर्म उच्यते) धर्म को जीवन में धारण करने पर ही धर्म कहा जाता है।

३-सत्य को सत्य और मिथ्या को मिथ्या कहा जाए, इसी का नाम धर्म है। सत्य-असत्य को जानना मानव का सबसे बड़ा धर्म है। परमात्मा के नियम तथा यौगिक नियम बुद्धि से परे हैं, उनको जानने के लिए अनुभव व योगाभ्यास की आवश्यकता है। जीवन को उच्च बनाकर आत्मा-रूपी दर्पण पर आए नाना प्रकार के मलों को नष्ट करना है। तब सभी अनुभव हो जाएगा और ज्ञान हो जाएगा। सत्य को विचारने के लिए अपने को सत्य बनाना आवश्यक है। यदि हम सत्य नहीं तो हम सत्य का निर्णय कभी नहीं कर सकते। (दूसरा पुष्प ७-१-६२ ई०)

४-इन्द्रियों को जानना, इसके विषयों को जानना, उनकी वास्तविकता को जाना, यही धर्म है। (नौवाँ पुष्प १८-७-६७ ई०)

५-धर्म रूढ़ि को नहीं कहते। धर्म वह है जो ईश्वर में समाहित करा देता है। (बीसवाँ पुष्प २८-३-७३ ई०)

६-धर्म नाम है 'कर्त्तव्य पालन' का। वशिष्ठ के अनुसार मानव किसी भी लोक-लोकान्तर में चला जाए परन्तु वह धर्म को नहीं त्यागता। जैसे नेत्रों का धर्म है.'दृष्टिपात करना'। यदि मानव अपनी प्रवृत्ति से नेत्रों में कुदृष्टि ले आता है तो वह अधर्म हो जाता है। यदि सुदृष्टि ले आता है तो धर्म है। वाणी का धर्म है उच्चारण करना। यदि वह यथार्थ, मधुर, प्रिय उच्चारण करेगी तो यह धर्म हुआ। किन्तु जब यह मिथ्या उच्चारण करती है, शब्द का ज्ञान नहीं कि जो उच्चारण कर रहा है, उसका क्या परिणाम होगा? किसी को कटु वचन बोलता है तो पता नहीं उसका क्या प्रयोजन होगा ? इसमें क्रोध, अभिमान और दूसरों को नष्ट करने का भाव है। इसलिए यह अधर्म हो जाता है। सँक्षेप में जब मानव अपने कर्त्तव्य को त्याग देता है तो वह अधर्म हो जाता है। (आठवाँ पुष्प ११-५-६७ ई०)

७-यह संसार तभी उन्नत बन सकता है, जब प्रत्येक मानव अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करे। कहीं-कहीं कर्त्तव्यवाद को ही धर्म कहा जाता है। जब कर्त्तव्यवाद होता है तो मानव की प्रतिभा तथा जीवन उन्नत होते हैं। हमें प्रभु की उस महत्ता पर विचार करना चाहिए, जिसने इस ब्रह्माण्ड को रचा है। इस रचना में क्या-क्या तत्व हैं ? इन सबको विचारना ही कर्त्तव्यवाद कहलाया जाता है। उस कर्तव्यवाद में ही धर्म परिणत रहता है। (बारहवाँ पुष्प ८-४-६१ ई०)

८-धर्म सामान्य है, धर्म की व्यापकता बहुत विलक्षण है। राष्ट्र का जो धर्म है वह भी व्यापकता में परिणत रहता है। (नौवाँ पुष्प २६-७-६७ ई०)

धर्म के चार पद

मानव के चार कृति-धर्म कहलाए गए हैं। १-सत्य, २-तप, ३-दान, ४-दया।

१-सत्य.सत्य कहते हैं जो प्रभु है। वह सत्य है, आत्मा भी सत्य है, प्रकृति भी सत्य है परन्तु इनके स्वरूप को जान करके इनको वैसा ही उच्चारण करने का नाम सत्य है।

उसके पश्चात् तप आता है।

२-तप.तप कहते हैं.इन्द्रिय-निग्रह को। इन्द्रिय-निग्रह करने वाला मानव तपस्वी कहलाता है। तपस्वी मानव के हृदय में दया हो तो स्वतः ही धर्म हो जाता है, दया आ जाती है।

३-दया.दया कहते हैं.जब मानव अपने हृदय में करुणामय हो जाए। वह प्रभु के आनन्द में इतना विभोर हो जाए कि उसके लिए इस संसार में कोई वस्तु मिथ्या नहीं रहती। वह मानव यह विचारता है कि यह जो संसार है, प्राणीमात्र है, यह अपने-अपने संस्कारों पर कटिबद्ध हो करके अपनी क्रीड़ा कर रहा है, नृत्य कर रहा है। जैसे सूर्य-चन्द्र आदि अपने-अपने आसन पर नृत्य कर रहे हैं, जगत् चल रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक मानव, देव-कन्या अपने-अपने आंगन में नृत्य कर रहे हैं। उसको अच्छी प्रकार जानना, जान करके आगे का जो मार्ग है उसका नाम दया है।

उसको दया कहते हैं जो ऊँची श्रेणी को चला गया निम्न श्रेणी की भी दया होती है। जैसे एक क्षुधा से पीडित है उसके ऊपर भी हमें दयालु बनाना है। परन्तु आरम्भिक दया पर भी विचारना है।

४-दान.वेद का ऋषि कहता है कि हमें दानी बनना है। दान की मीमांसा करते हुए ऋषि-मुनियों ने कहा है कि तुम्हारे पास जो वस्तु है उसका दान करो। यदि द्रव्य का सदुपयोग करोगे तो द्रव्य तुम्हारा सहायक बनेगा, वह तुम्हें मुक्ति तक पहुँचाएगा। यदि तुम द्रव्य का दुरुपयोग करोगे तो यह 'अदान' होगा, तुम्हें नारकिक बनाता रहेगा। इसलिए द्रव्य का सदुपयोग किया जाए।

सबसे प्रथम जो दान है वह यज्ञ करना है। यज्ञ उसे कहते हैं जैसे घृत और साकल्य को अग्नि में परिणत करने का नाम 'हुत' कहलाता है। वह हम देवताओं को प्रदान कर रहे हैं। यह न विचारो कि ''मैं दानी हूँ।''

जो मानव यह विचारता है तो उसमें अभिमान की मात्रा उत्पन्न हो जाती है। यहाँ ऋषि कहते हैं, यह तो मैं अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ, यज्ञ करना कर्त्तव्य है। विज्ञान में परिणत होना, विज्ञान में सहायक होना, यह भी यज्ञ है। एक तपस्वी की सेवा करना उसको अन्न आदि का पान कराना यह भी यज्ञ है। इस प्रकार यहाँ दान ही यज्ञ में स्वीकार किया गया है। यह दान मानव को दानी बना देता है।

तप भी एक प्रकार से दान में परिणत माना गया है। मानव संसार में यज्ञ करने के लिए आया है, उसे यज्ञ करना चाहिए। परन्तु आत्म-कल्याण के लिए यज्ञ कर रहा है। कहीं दूसरे संसार के लिए यज्ञ कर रहा है, कहीं क्षुधा से पीड़ितों को भोजन देने का यज्ञ कर रहा है, कहीं पक्षीगण को भोजन का यज्ञ करा रहा है, ये सब यज्ञ

कहलाए जाते हैं। ये कर्त्तव्य में आते हैं दान में नहीं।

हमें दानी बनना है। दान क्या ? हमें यज्ञ करना है। जो मानव यह विचार लेता है कि मैं इतना दानी हूँ, मैं इतना कर्मठ हूँ, तो वेद का ऋषि कहता है कि वे परमात्मा के राष्ट्र में अग्रणी नहीं होंगे। अतः इसकी अवहेलना करनी चाहिए क्योंकि जिसके हृदय में अभिमान आ गया है, वह मानव अपने आत्मा-कल्याण के मार्ग में बाधक बन रहा है। इसीलिए 'मैं' का प्रतिपादन जैसे मैं इतना प्रबल हो गया हूँ, मैंने इतना अध्ययन किया, इत्यादि नहीं करना चाहिए। वह तो प्रकृति का वाची शब्द है।

'मैं' का उच्चारण करना अभिमान है। इस अभिमान में अहंकार की उत्पत्ति हो करके अन्तःकरण में आवागमन के संस्कारों का जन्म होने लगता है, उससे मानव आवागमन के आँगन में आता रहता है।

निष्कर्ष यह है कि हम धर्म के चार पदों को ले करके जब मार्ग में रमण करते हैं, तो सत्य को अपनाएँ। सत्य के पश्चात् तप को अपनाएँ।

तप क्या है? इन्द्रियों के विषय को विचारना, उन विषयों पर अनुसन्धान करना, उसका साकल्य बनाना और मन, प्राण को अर्पित करना।

इसके पश्चात् दया आती है और दान आता है। इन चारों पगों के लेकर जब हम चलते हैं तो हमारे जीवन की गति ऊर्ध्व बन जती है। (चौबीसवाँ पुष्प २२-९-७३ ई०)

बिना धर्म और मर्यादा के मानव का जीवन सुन्दर नहीं होता।

धर्म और मर्यादा मानव के चक्षुओं में विराजमान होती है। इसीलिए मानव को अपने चक्षुओं को सुन्दर बना लेना चाहिए। जो मानव इस संसार में इन चक्षुओं से कुदृष्टिपात करते रहते हैं तो एक समय वह आता है कि उसका धर्म और उसकी मानवता न रहकर परमात्मा उसके नेत्रों की ज्योति को अपने में ग्रहण कर लेता है। (तेईसवाँ पुष्प २-८-७० ई०)

धर्म और रूढ़ि

मन की रचना के आधार पर वास्तविक शान्ति न मिलने के कारण धर्म की परम्परा में नाना प्रकार का रूढ़िवाद हो जाता है। धर्म का मर्म नहीं रहता। मन के चमत्कारों में ही समाज आ जाता है, तब उसमें रूढ़ि बन जाती है और धर्म का विनाश हो जाता है। (बीसवाँ पुष्प पृष्ठ-८०)

मानवता का विनाशक रूढ़िवाद

रूढ़ियाँ अज्ञानता से बनती हैं। यह अज्ञानता ही संसार में रूढ़ि को बनाती है। यह राष्ट्र और सामज के लिए हानिकारक होती है। धर्म की रूढ़ि समाज की रूढ़ि बन जाए, विचारों में रूढ़िवाद आ जाए, राष्ट्र में रूढ़िवाद आ जाए, जातीयता आ जाए किसी भी प्रकार की रूढ़ि बन जाए तो रूढ़ियाँ विनाश के लिए उत्पन्न होती है। विनाश के लिए ही रूढ़ियों का विचार मानव के मस्तिष्क में आता है। (सत्रहवाँ पुष्प २२-२-७२ ई०)

रूढ़ि धर्म तथा मानव विकास का विनाश करने वाली है रूढ़ि का मूल कारण अज्ञान होता है। अज्ञानता उस समय आती है, जब

मानव अपने मानवीय दर्शन को त्याग देता है। जब मानव अपनेपन को ही नहीं जान पाता तो संसार में अज्ञान छा जाता है। (सत्रहवाँ पुष्प २२-२-७२ ई०)

जब हम यह विचारने लगते हैं कि हमारा जीवन यज्ञमय है, तो इस समाज में जो परम्परा से चली आ रही कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ नहीं रहतीं। उस मानव का, उस समाज का तथा उस राष्ट्र का जीवन इस महत्ता की वेदी पर विराजमान होकर मानव अपने जीवन को धर्म में बनाने का प्रयास करता है। (सत्रहवाँ पुष्प २३-२-७२ ई०)

धर्म एक रस है। रूढ़ियों में भिन्नता होती है। (चौबीसवाँ १८-८-७२ ई०)

धर्म और सम्प्रदाय

समाज में रूढ़ि हानिकारक है। वह उसी समय आती है जब अज्ञान होता है, जब व्यापक विचार नहीं होते तो रूढ़ि आ जाती है। नाना प्रकार के सम्प्रदाय तथा नाना प्रकार के विचार होते रहते हैं। (सत्रहवाँ पुष्प २२-२-७२ ई०)

सम्प्रदायवाद वहाँ आ जाता है जब एक ही ऋषि के वाक्य को सार्वभौम स्वीकार कर लिया जाता है। इससे रूढ़ि आ जाती है। रूढ़ि आने का नाम ही सम्प्रद्राय है। इसीलिए एक ही व्यक्ति के पीछे चलने वाले सभी सम्प्रदायवादी हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प १३-४-६९ ई०)

जो महापुरुष यहाँ आकर विचार करता है तो उसकी वाणी स्वार्थ के कारण रूढ़ि बनकर रह जाती है। वास्तव में महापुरुषों का जीवन प्रायः कठिन होता है। इसीलिए मानव स्वार्थवाद में आकर रूढ़िवादी

बनता चला जाता है। यह रूढ़िवाद ही भयभीत करता है।

धर्म से कोई भय नहीं होता क्योंकि धर्म के स्थान पर सदैव धर्म पनपत्ता रहता है। कोई न कोई महापुरुष आकर धर्म का प्रसार करता है तथा चला जाता है। किन्तु उसको मानने वाले जब रूढ़िवादी बन जाते हैं, सत्य को सत्य नहीं कहते। यज्ञ जैसा कर्म भी रूढ़ि में बदल दिया जाता है तथा उस पर व्यापकता की दृष्टि से विचार नहीं किया जाता उस समय बुद्धिजीवी के हृदय में एक वेदना जाग्रत होती है। वह कहता है, 'हे मानव! तू रूढ़िवादी न बन। प्रभु का राष्ट्र कभी रूढ़िवाद नहीं होता है। वहाँ चेतन सदैव प्रकाश को प्रकाशित करता है। वहाँ व्यापकवाद होता है, रूढ़िवाद नहीं होता तथा संकीर्णवाद नहीं होता है।''

वेद में भी रूढ़िवाद नहीं होता, क्योंकि वेद ईश्वर का ज्ञान कहलाया गया है। वह विज्ञान है। मानव उसके विचार को रूढ़ि न बनाए। रूढ़िवादी बनने पर दूसरों से घृणा करके मानव स्वयं घृणित हो जाएगा। (सोलहवाँ पुष्प १६-१०-७१ ई०)

वेद कोई सम्प्रदाय नहीं होता, वह तो प्रकाश होता है, जिसमें ज्ञान हो, मानवता का निर्माण हो तथा जो सार्वभौम विचार हो, वहां रूढ़िवाद कदापि नहीं होता। (बीसवाँ पुष्प पृष्ट-८०)

मानव मात्र का केवल एक ही धर्म है, जिसे वेद कहते हैं। वेद नाम प्रकाश का है। अन्धकार को त्यागकर प्रकाश में जाना ही धर्म माना गया है। समाज हो, राष्ट्र हो, मानव हो, ऋषि हो, सबका एक ही धर्म है 'प्रकाश'।

प्रकाश नाम वेद का है, वह बुद्धि-युक्त है। (बुद्धि पूर्वावाक्यकृतिर्वेद) परमात्मा के द्वार पर जाने की हमें घोषणा करता है। प्रकाश नाम सत्य का है। सत्य में ही प्रभु रमण करता है। धर्म ही मानव का प्रकाश है। प्रकाश को जानो, प्रकाश ही सत्यवाद में रमण करता है। सत्यवाद ही उद्गम है वही आनन्द है। आनन्द में ही प्रभु रमण करते हैं। (सोलहवाँ पुष्प ४-८-७१ ई०)

यह सर्वजगत् परमात्मा का विज्ञान है। इसमें जो ज्ञान है, वह परमात्मा की आभा है। हमें उस वेदी पर आ जाना चाहिए जिस पर आकर वेद के अनुसार राष्ट्र और समाज की प्रतिभा का चित्रण करके एक राष्ट्रीय और सामाजिक धर्म और मानवता का चित्रण करके एक राष्ट्रीय और सामाजिक, धर्म और मानवता का चित्रण करना चाहिए। (सत्रहवाँ पुष्प २२-२-७२ ई०)

आज के संसार में जो सम्प्रदायवाद दिखाई देता है, वह रूढ़िवाद के कारण ही है। उसमें महान् पुरुषों का कोई दोष नहीं। इस संसार में जो भी ऊँचा मानव आता है वह किसी न किसी वेद के अंग को लेकर चलता है। जैसे कोई संन्यासी उच्चारण करता है, ''राष्ट्र में ऊँची विद्या होनी चाहिए।'' तो यह वाक्य वेद का पवित्र अंग है। कोई मानव यह कहता है किसी दूसरे को अपने आधीन बनाना कोई वेद का सन्देश नहीं। तो यह विचार भी वेद का एक न एक अंग है।

(१) ईसा आयुर्वेद के सिद्धान्त को लेकर, उससे चिकित्सा करता हुआ, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ चला। उसमें कोई सूक्ष्मता हो

सकती है। परन्तु वह वेद के किसी एक अंग को लेकर चला। आगे संसार अपनी बुद्धि के अनुकूल रूढ़िवाद में चला जाए तो उसमें वेद का या महापुरुष का क्या दोष ?

(२) मोहम्मद साहब की जहाँ जन्म भूमि थी वहाँ अप्रिय वस्तु (मद्य) को पान करना, प्रत्येक गृह में वज्रों के देवालय (पाषाण-मूर्तियाँ) द्रव्य के बदले अधिक द्रव्य लेना आदि बुराइयाँ समाज में थीं। उन सबको दूर करने का आदेश देने को एक व्यक्ति हुआ। वह वेद के किसी एक अंग को लेकर चला। यह हो सकता है कि राष्ट्रवाद में उनकी प्रवृत्ति अधिक रही हो। परन्तु आगे उनके मानने वाले रूढ़िवाद में चले जाएँ तो उसमें वेद का कोई दोष नहीं।

(३) महात्मा महावीर 'अहिंसा परमोधर्मः' का नाद लेकर चले, तो यह वेद का सिद्धान्त है। आगे उसके मानने वाले रूढ़िवाद में चले जाएँ तो उसमें वेद या उसके अंग का क्या दोष है ?

(४) महात्मा बुद्ध 'अहिसा परमोधर्मः' को लेकर चले। उनके जीवन में या उनकी लेखनी में कोई सूत्मता हो सकती है परन्तु उनका सन्देश वेद का (अंग) था और वेद को लेकर चले।

(५) शंकराचार्य त्रैतवाद या वेदान्त को लेकर चले। राजाओं को अपनाकर आगे चले। उन्होंने वेद के सर्वशःअ अंग को अपनाया। उन्हें महर्षि कह दो या महापुरुष। आगे चलकर उनकी मान्यता वाले इतने गम्भीर विषयों पर न जा करके रूढ़िवाद में चले जाएं तो उसमें वेद का क्या दोष है?

(६) महर्षि दयानन्द वेद के सन्देश, त्रैतवाद तथा वेद के प्रत्येक

अंग को लेकर चले। आगे चलकर उनकी मान्यता वाले रूढ़िवादिता में आ जाएँ तो उसमें महर्षि दयानन्द या वेद का दोष नहीं।

(७) महात्मा नानक एक वाक्य को लेकर चले कि राष्ट्रवाद का कल्याण होना चाहिए। मानवता ऊँची होनी चाहिए। किसी मानव को, किसी जीव का हनन नहीं करना चाहिए। उसी संकेत को लेकर चले। यदि उसकी मान्यता वाले रूढ़िवाद में चले जाएँ तो उसमें महात्मा नानक का क्या दोष ? वे वेद के किसी एक अंग को लेकर चले। वेद सार्वभौम है। जितने भी महापुरुष होते हैं, वे वेद के किसी न किसी अंग को अपनाया करते हैं। (आठवाँ पुष्प मई-१९६५ ई०)

आज तो धर्म स्वार्थवाद में बदल गया। ईसा के मानने वालों ने ईसा को, बुद्ध के मानने वालों ने बुद्ध को, महावीर स्वामी के मानने वालों ने महावीर को रूढ़ि में बदल दिया है। इसी प्रकार मोहम्मद को भी रूढ़ि में बदल दिया है। यद्यपि उन्होंने रूढ़ि नहीं बनाई। परन्तु रूढ़ि उनके आन्तरिक विचारों में थी। जब शब्दों में रूढ़ि न रहकर हृदय में रूढ़ि रहती है तो वह एक समय समाज में स्थूल रूप धारण कर लेती है। वही स्थूल रूप आज संसार के समक्ष है, क्योंकि उन्होंने धर्म को वास्तविक अर्थों में नहीं जाना।

धर्म केवल इसको जाना कि जो मोहम्मद साहब को मानेगा तथा उसकी पुस्तक को स्वीकार करेगा वही संसार में धर्म और स्वर्ग का गामी होगा, किन्तु यह कोई धर्म नहीं।

शंकराचार्य ने वेदान्त की घोषणा की। उन्होंने कहा था कि हम व्यास की विचारधारा पर विचार-विनिमय करें। परन्तु उनके विचार भी

रूढ़ि बनकर रह गए।

महर्षि दयानन्द ने यहाँ आकर हिमालय की कन्दराओं में प्रभु से मिलने के लिए भ्रमण किया। किन्तु उनके विचारों को भी रूढ़ि में बदल दिया। (सोलहवाँ पुष्प १९-१०-७१ ई०)

महापुरुषों का तो एक ही विचार रहता है कि अच्छाइयों को लाने का प्रयास करो तथा कुरीतियों को नष्ट करो। ऐसा ही विचार मोहम्मद साहब, ईसा, महावीर स्वामी, गुरु नानकदेव, महात्मा बुद्ध का भी था किंतु आगे सुन्दरता को त्यागकर इनकी रूढ़ियाँ बन गयीं। रूढ़ियाँ बन गयीं कि अस्त्रों-शस्त्रों के बल पर दूसरों को अपने प्रभाव में लाने का प्रयास किया गया। (इक्कीसवाँ पुष्प)

महापुरुष कभी नष्ट नहीं होते, वे अपने विचार देकर चले जाते हैं, उनके शरीर के परमाणुओं का विच्छेदन हो जाता है। विच्छेदन होने पर वे परमाणु अन्तरिक्ष में रमण कर जाते हैं। जीवात्मा उन प्रवृत्तियों में रमण कर जाती है जो उनके संकलन होते हैं, जो उनके अन्तःकरण की धाराएँ होती हैं। परन्तु जब वे अपनी रचाई हुई प्रतिभा को दृष्टिपात करते हैं, अन्तरिक्ष में भी उनका अन्तरात्मा व्याकुल हुआ करता है। क्योंकि जो भूमिका जिस प्रकार रचाते हैं जब भूमिका उस प्रकार न रहकर रूढ़ि बन जाती है और वह जो रूढ़ि है, यह मानव के जीवन को, धर्मज्ञता को, धर्म को विनाश के मार्ग पर ले जाती है। वहाँ धर्म धर्म नहीं रहता। वहाँ मानव की वासनाओं में व्यक्तिगत स्वार्थ और पदों की लोलुपता में, द्रव्य की लोलुपता में व्यक्ति अपने मानवत्व को त्यागता चला जाता है।

(बाईसवाँ पुष्प पाँचवाँ प्रवचन)

धर्म और पाखण्ड

आधुनिक काल में यज्ञ आदि कर्म को ढोंग और पाखण्ड के नाम से परिणत किया जाता है। वे मानव जिनके द्वारा काम वासना अधिक होती है वे (काम-क्रोध) ढ़ोंग और पाखण्ड उनकी दृष्टि में नहीं आते। यह उनकी एक महान् निराशा है। उनके जीवन का पतन हो गया है। क्योंकि पतित होने के नाते उनके जीवन की जो प्रतिभा है वह उन्हीं रागद्वेषों में नष्ट हो जाती है। पाखण्ड उनको कहा जाता है जहाँ वास्तविकता न हो, बनावट हो, ऊपरी हो।

परन्तु जो मानव केवल कण्ठ से वाक्य उच्चारण करता है वह सबसे महान् पाखण्डी है। इसलिए आज हमें विचारना यह है कि हम जो भी संसार में कर्म करने के लिए आए हैं, हमें कर्म करना है। मन-वचन-कर्म से सदैव वाक्य को लेकर चलना है। क्योंकि जब तक हमारा कर्म-मन-वचन के साथ नहीं होगा तो हम किसी कार्य को पूर्ण कर ही नहीं सकते। पूर्ण कार्य हम उस काल में कर सकते हैं जब हमारा मन-वचन-कर्म एक सूत्र में बँधा होगा।

पाखण्डी उसे कहते हैं जिस मानव के द्वारा (समत्त) सत्यता न हो। वह सदैव मिथ्या उच्चारण करने वाला हो, सदैव अपने लिए ही निगलता रहता हो, अपने ही लिए खाने की प्रवृत्ति रहती हो। वह मानव अपने पाखण्ड को ही खाता रहता है। (बाईसवाँ पुष्प प्रथम प्रवचन)

पाखण्ड वहाँ होता है जहाँ मानव में स्वार्थ होता है, संकुचित

विचार होते है। जहाँ मानव में व्यापक विचार होते हैं, व्यापक सुगन्धि होती है, वायुमण्डल ऊँचा बनता हो और परमाणु शुद्ध उत्पन्न होते हों, उसे पाखण्ड नहीं धर्म का साम्राज्य कहना चाहिए। (नौवाँ पुष्प २०-७-६७ ई०)

मानव द्रव्यपति बन सकता है, धनवान बन सकता है, पुत्रवान बन सकता है परन्तु धर्मज्ञ तो सौभाग्यशाली ही बना करते हें। जो धर्म के कर्म को जानते हैं, धर्म के ऊपर अपने को न्यौछावर कर देते हैं, तन-मन-धन से अपने को अर्पित कर देते हैं वे मानव इस संसार में सौभाग्यशाली होते हैं। (बाईसवाँ पुष्प प्रथम-प्रवचन)

धर्म और अधर्म

हमारा धर्म है यथार्थ को उच्चारण करना। मन-वचन-कर्म से हम कोई पाप न करें, प्राणीमात्र से हमारा स्नेह हो। केवल संकुचित बनकर बुद्धि को नष्ट करने को धर्म नहीं करते। धर्म केवल अपने तक सीमित नहीं, वह तो व्यापक हैं वह सभी लोक-लोकान्तरों में एक है। हमें धर्मज्ञ बनना चाहिए। जिस कार्य को करने में, मन में भय, शंका या लज्जा उत्पन्न न हो वह धर्म है। यदि कोई मानव स्वार्थवश मिथ्या उच्चारण करता है, किसी को कष्ट देता है या अज्ञानता के मार्ग पर चला देता है तो उसे धर्म नहीं कहते। (आठवाँ पुष्प ७-१०-६६ ई०)

धर्म उसे कहते हैं कि मन-वचन-कर्म से हिंसा मत करो। हिंसा तथा अहिंसा दो शब्द हैं। सबसे प्रथम हिंसा वाणी से आरम्भ होती है। किसी की अन्तरात्मा को कटु वाणी से दुःखित बनाना या अपमान करना हिंसा है, प्राणी को नष्ट करना भी हिंसा है। (आठवाँ पुष्प

११-५-६७ ई०)

धर्म की व्यापकता

धर्म उसे कहते हैं जो हमारे एक-दूसरे के पिछले विभाग में कार्य कर रहा है, जो शुद्ध रूप से हो रहा है। जैसे नेत्रों से दृष्टिपात करते समय माधुर्यता है और वह माता को माता की दृष्टि से देखता है तो नेत्र के पिछले विभाग में पीला पटल भी वही कार्य कर रहा है। पीले पटल के पिछले तन्मात्राएँ, उनके पिछले के मन, उसके पीछे बुद्धि-मण्डल, उसके पीछे चित्त का मण्डल वही कार्य कर रहे हैं। इसके पश्चात् आत्मा से जो ज्योति आ रही है, वह उसी प्रकार की आ रही है। यह धर्म है। यह धर्म पृथ्वी-मण्डल में क्या, सूर्यमण्डल में क्या समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक है।

मानव शुद्ध रूपों में, किसी वस्तु को रसना से पान कर रहा है। उसका मुख भी वही कार्य कर रहा है। पाँचों प्राण भी वही कार्य कर रहे हैं। यह धर्म सब जगह है। मानव पगों में भ्रमण करता है। यह धर्म व्यापक है। मानव परमात्मा का चिन्तन करता है। वह जहाँ तक वेद-मन्त्रों की महिमा तथा विज्ञान के सहित होता है, वह उसका धर्म है और यह धर्म प्रत्येक लोक-लोकान्तर में व्यापकता से रहता है।

महर्षि वशिष्ठ ने राम को बताया था कि मानव के द्वारा इन्द्रियों से जितनी अधिक तरंगें उत्पन्न होती हैं, उतना उसमें अधर्म होगा। मानव जितना शुभ कर्म करता है, जितनी उसकी सुदृष्टि होती है जो उसकी उतनी सूक्ष्म तरंगें हैं, जितनी सूक्ष्म तरंगें होंगी और शुभकर्म में प्रवृत्ति होगी, उतना धर्म तथा जहां अधिक तरंगें उत्पन्न होती हैं,

वहाँ पाप। उदाहरणार्थ पति-पत्नी के जब नेत्र मिलते हैं तो एक पल में एक सहस्र तरंगें उत्पन्न होती हैं। यदि वे पति-पत्नी न होकर अन्य हों तो उसी कार्य में एक सहस्र अधिक तरंगें उत्पन्न होती हैं। भोग करने में तीन सहस्र तरंगें उत्पन्न होती हैं तथा यदि उस समय उन्हें कोई देख ले तो सात सहस्र तरंगें उत्पन्न होती हैं, यह अधर्म है।

जब मानव शान्त होकर प्रभु का चिन्तन करता है तो उसकी आत्मा भोजन प्राप्त करती है अर्थात् बल प्राप्त करती है। परन्तु जब वह दुर्गुण के लिए चलता है तो उसके हृदय की गति प्रबल हो जाती है, क्योंकि वह अधर्म के मार्ग पर चल दिया है। ये धर्म-अधर्म सभी लोक-लोकान्तरों में व्यापक है। धर्म सामान्य है, धर्म की व्यापकता बहुत विलक्षण है। (नौवाँ पुष्प २६-७-६७ ई०)

धर्म वह कहलाता है, जहाँ प्रेरणा तरंग उत्पन्न हों और वह ज्यों की त्यों कार्य करती चली जायें। जहाँ इसमें दोषारोपण हो जाता है, वहीं उसमें पाप हो जाता है। जब धर्म और अधर्म इस साधारणत्व से निचले स्थान में आते हैं तो कुछ और प्रतीत होता है। जैसे एक ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी- संस्कार से पूर्व यदि भोग करते हैं तो अधर्म है किन्तु संस्कार के पश्चात् यदि भोग नहीं करते तो वह अधर्म है। इस प्रकार एक ही कर्म एक स्थान में धर्म, तथा दूसरे में अधर्म हो जाता है। जहाँ कर्म संस्कारों से बिखरे रहते हैं वहाँ पाप और जहाँ संस्कारों से कटिबद्ध हो गए, वहाँ पुण्य हो जाता है। इसलिए संस्कारों को पुण्यता दी गई है। (नौवाँ पुष्प २९-७-६७ ई०)

एक सुन्दर कन्या को देखने की मानव की इच्छा हुई। यदि

सौन्दर्य को देखते-देखते अशुद्ध विचारों में बिखर जाते हैं तो उस बिखर जाने का नाम अधर्म है। यदि वह ज्योति ज्यों की त्यों नेत्रों में समाहित हो जाए तो वह धर्म कहलाता है।

हमारे अन्तरात्मा में जिस समय कार्य करने की महत्ता होती है, लज्जा शंका नहीं होती अशुद्ध विचार नहीं होते तो वह कार्य धर्म होता है। उसी के गर्भ में कर्त्तव्य निहित रहता है। जहाँ इन्द्रियाँ उसमें सन जाती हैं, वहीं अधर्म है। उससे सर्व समाज पतित हो जाता है, राष्ट्रवाद में हानि हो जाती है, संसार क्षेत्र में हानि हो जाती है।

कर्त्तव्यवाद उस काल में रहता है जब प्रभु हमारे समीप रहता है। हमारे हृदय में आस्था होती है कि प्रभु हमारे पास है। हम कहाँ जा रहे हैं। अकर्त्तव्यवाद में हृदय गति विलक्षण और तीव्र बन जाती है। जिन कार्यों को करने में मानव के हृदय की गति तीव्र हो जाए, वह कार्य अधर्म है। (नौवाँ पुष्प २-३-६८ ई०)

धर्म कहते हैं व्यापकता को, अधर्म कहते हैं संकीर्णता को। जितना मानव का हृदय विशाल होता रहता है, उतना ही वह मानव धर्म में परिणत होता रहता है। जितना संकीर्ण होता है, उतनी घृणा होती है, जितनी घृणा होती है, उतनी संकुचितता होती है। जितना बुद्धि का माध्यम सूक्ष्म होता है उतना मानव के द्वार से धर्म दूर होता है। यदि एक सुन्दर कन्या को देखकर उसे अपनाने की प्रवृत्ति आ गई तो वही अधर्म है। किन्तु उसे देखकर रचने वाले प्रभु का स्मरण आता है तो वही धर्म है। (चौदहवाँ पुष्प १२-८-७० ई०)

जिस राष्ट्र में, जिस समाज में रूढ़ियाँ होंगी, धर्म को नहीं

विचारा जाएगा, धर्म की रक्षा करने के लिए राष्ट्र नहीं होगा, ब्राह्मण समाज ऊँचे ऋषि-तपस्वी इसको निर्धारित नहीं करते तो राष्ट्र में धर्म के ऊपर भी रक्त भरी क्रान्ति आती है।

धर्म के ऊपर राष्ट्र के विभाजन भी किए जाते हैं। धर्म के आधार पर जो विभाजनवाद है वह रूढियों का है धर्म का नहीं। उसको अधर्म ही कहना चाहिए।

धर्म उसे कहते हैं जो विज्ञान पर, पदार्थ-विद्या पर और पृथ्वी के गर्भ से लेकर द्यु के गर्भ का दोनों का तारतम्य एक मिलाने वाला हो, उसमें धर्म की प्रतीति हो तो उसी का नाम धर्म है, जो आत्म कल्याण के लिए हो, प्रत्येक इन्द्रिय में सुगठित हो।

निष्कर्ष

रूढ़ियों से राष्ट्र भ्रष्ट हो जाते हैं समाज पतित हो जाते हैं। इसलिए हमें रूढ़ियों को नहीं अपनाना चाहिए। धर्म वह है जिसको हमारा अन्तरात्मा स्वीकार करने वाला हो। इसीलिए विज्ञान के आधार पर वैज्ञानिक होना मानव को बहुत अनिवार्य है। कोई मानव प्रभु को पाना चाहता है तो प्रकृति के मार्ग से होकर ही जाता है। प्रकृति के विज्ञान के जानता हुआ वह परमात्मा की प्रतिभा को साक्षात् कर लेता है। (पच्चीसवाँ पुष्प पृष्ठ-४९)

धर्म की स्थापना

कोई भी मानव धर्म को नष्ट नहीं करना चाहता। धर्म प्रत्येक मानव के जीवन में है, उस धर्म को विचारा जाए। यदि राष्ट्र को ऊँचा बनाना है तो प्रत्येक सम्प्रदाय के महान् आचार्यों को उपस्थित किया

जाए। यदि स्वयं इतना बुद्धिमान हो कि वह तर्क के आधार पर बुद्धि के आधार पर चले। जहाँ पद्धति और तर्क दोनों का समागम हो जाए, जहाँ दोनों का विराम हो जाए। उसी धर्म को अपना लेना चाहिए। उस पद्धति को अपना लेना चाहिए। (चौबीसवाँ पुष्प २-५-७५ ई०)

आज के राष्ट्र में जब धर्म और मानव की अच्छाइयों पर टिप्पणी आरम्भ होती है तो उस समय राष्ट्रवादियों का हृदय इतना तुच्छ हो जाता है कि यथार्थ को उच्चारण करते हुए भय उत्पन्न होता है कि कहीं दूसरे उसे निगल न जाएँ। जहाँ इस प्रकार का भय हो वह राष्ट्र नहीं श्मशान-भूमि के समान है। (नौवाँ पुष्प २८-७-६७ ई०)

नाना रूढ़ियों वाले राष्ट्र में अग्नि की वर्षा होनी आरम्भ हो जाएगी और होती रहती है। इसका मूल कारण यह है कि प्रत्येक रूढ़ि में राष्ट्रवाद है, प्रत्येक रूढ़ि में द्रव्यवाद है। जहाँ द्रव्यवाद मायावाद रहता है, वहीं रूढ़ि बलवती होती रहती है। वही रूढ़ि बलवती हो करके कुछ समय के पश्चात् राष्ट्र में अल्प-बल, ब्रह्म-ज्ञान न होने के कारण ब्रह्म को न जानने के कारण उसमें ह्रासता (पतन) आ जाती है। ह्रासता (पतन) आ करके वह जैसा मार्ग था; वैसा न रह करके राजा के राष्ट्र में, समाज में मिथ्यावाद आ जाता है। जब मिथ्यावाद आ जाता है तो धर्म की परम्परा रूढ़ि बन करके, रक्तभरी क्रांति का क्षेत्र बन जाता है। (चौबीसवाँ पुष्प २-५-७५ ई०)

(अतः) हे विद्वानो ! हे महान् व्यक्तियों ! तुम संसार में भ्रमण करो जिससे यह संसार ज्योतिर्मय हो जाए तथा ब्रह्ममय बन जाए।

प्रजा में अन्धकार न रहे। ब्राह्मण को, किसी मानव को धर्म तथा मानवता से पतित नहीं करना चाहिए। जो धर्म और दर्शनों से पतित तथा विमुख कर देता है वह ब्राह्मण केवल अपने स्वार्थ और उदरपूर्ति-मात्र में ही अन्धकार लाता रहता है। वह ब्राह्मण नहीं कहलाता कुछ और ही है। (सत्रहवाँ पुष्प २४-२-७२ ई०)

धर्म में वैदिक साहित्य का योगदान

पार्थिवता में जड़ की प्रधानता होती है। जहाँ अग्नि प्रधान होती है, वहाँ चेतनता की प्रधानता अधिक होती है। जो सार्वभौम धर्म है, उसकी जो मर्यादा है, कर्त्तव्य है, वह सब वैदिकता में मानी जाती है। हो सकता है किसी स्थान में व्यक्तिगत विचारों में किसी प्रकार की भिन्नता हो। परन्तु रूढ़िवाद वहाँ होता है जहाँ अज्ञानता छा जाती है। जहाँ अज्ञानता नहीं होती, वहाँ उनका रूढ़िवाद नष्ट होता रहता है ज्ञान के प्रकाश को लेकर चलता है। रूढ़िवाद वहाँ भी आ जाता है जहाँ स्वार्थ होता है चाहे वह द्रव्य का हो या मान्यता का हो। इसमें वेद या महापुरुषों का कोई दोष नहीं जहां अग्नि प्रधान होती है वहाँ रूढ़ि नहीं होती क्योंकि वहाँ सूक्ष्मता अधिक होती है। वह सूक्ष्मता वेद के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलेगी। वेद की सूक्ष्मता सार्वभौम है। इसलिए वह रूढ़िवाद नहीं कहलाता। (आठवाँ पुष्ट अप्रैल-१९६५ ई०)

वेद स्वतः प्रमाण है, उसकी आज्ञाओं का नाम धर्म है। ऋषि-मुनियों की जो पवित्र धारा है, जिसको अपनाते हुए महान् पुरुष मोक्ष को प्राप्त हो गए, उसको राष्ट्रीयता में लाएँ, उसका नाम धर्म है। (आठवाँ पुष्प दिसम्बर १९६६ ई)

आज उपनिषदों की, विद्या की शिक्षा देने को सम्प्रदाय कहा जाता है। जिन विचारों में महत्ता की तरंगें हैं तथा महान् बनाने वाले विचार हैं, उनको सम्प्रदाय कहना उचित नहीं। (उन्नीसवाँ पुष्प)

मानव को अपने वेद के धर्म की प्रथा को त्याग देना ही संसार में मृत्यु कहलाई गई है। उस मृत्यु से पार होने का मानव को सदैव प्रयास करना चाहिए। महापुरुषों के वाक्यों को स्वीकार करना चाहिए वेद की प्रतिभा को अपनाना चाहिए क्योंकि वेद से ही संसार का ज्ञान उत्पन्न होता है। संसार में दो प्रकार का ज्ञान होता है।

१-एक तो मानव का आध्यात्मिक-ज्ञान होता है।

२-दूसरा वह होता है जिसे हम सामाजिक ज्ञान कहते हैं। सामाजिक जो प्रथा होती है, सामाजिक जो ज्ञान होता है, समाज का जो विचार होता है वह भी वेद से ही उत्पन्न होता है। मानव को कैसे रहना चाहिए, विचार कैसे होने चाहिएँ, पति-पत्नी को कैसे गृह को शुद्ध बनाना चाहिए, सन्तानोत्पत्ति कैसे होनी चाहिए, उसमें कितना ज्ञान होना चाहिए, माता का कैसा पठन-पाठन होना चाहिए ? यह सब लोकप्रिय (व्यावहारिक) ज्ञान होता है। उसमें बहुत कुछ लोक-प्रथा होती है, उसको भौतिक चेतना कहा जाता है।

रही आध्यात्म-वाद की विवेचना, जैसे.आत्मा है, उसके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार है। ये भी जीव की तरह तथा जीव के द्वारा प्रकाशमान होते हैं। आत्मा से ही इन्द्रियों का सम्बन्ध रहता है। यदि आत्मा का प्रकाश न होगा तो इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर सकेंगी। (बाईसवाँ पुष्प २९-१०-७०

ई०)

मानव ने वेद का विचार त्यागकर सम्प्रदायों में अपने को विभक्त कर लिया है। मुक्ति की कामना करते हैं किन्तु मन और प्राण का सन्निधान नहीं करना चाहते। वेद का अपमान वही करता है जो रूढ़िवाद में जाकर अपने मस्तिष्क में विचार-विनिमय नहीं करता। रूढ़ि में प्राणी अपनी मानवता को हनन करके धर्म की परम्परा को नष्ट करता है। मानव को रूढ़िवाद को त्यागकर अनुसन्धानवेत्ता बनना चाहिए। वेद की पक्षपात रहित छत्र-छाया में आ जाना चाहिए। (पन्द्रहवाँ पुष्प १३-२-७१ ई०)

प्रत्येक मानव आनन्द का पिपासु रहता है। पवित्र माता है, वह भी आनन्द चाहती है। ऋषि-मण्डल है, वह भी अनुसन्धान करते हुए केवल आनन्द के लिए तपस्या में परिणत होते हैं, एक राष्ट्रपिता बना है कि मैं स्वयं सुखी बन जाऊँ और राष्ट्र में रहने वाली प्रजा के लिए भी ऐसा नियम होना चाहिए जिससे वह भी सर्वत्र आनन्द में ओत-प्रोत्र हो जाए। प्रत्येक प्राणी आनन्द का पिपासु है। नाना योनियों में भी आनन्द की पिपासा ही प्राप्त होगी। मानव इस पिपासा-पिपासा में ही नाना द्रव्य को एकत्रित करने का प्रयास करता है और नाना कार्यों के करने में वह सफलता को प्राप्त होता रहता है।

जब वह द्रव्य से ऊब जाता है उस समय वह चाहता है कि द्रव्य को कहीं धर्म के कार्यं में परिणत करता रहे। धर्म की मीमांसा जानने की उसकी उत्कट इच्छा रहती है। वह साधक आगे चलता हुआ केवल आनन्द की पिपासा के लिए नाना ऋषि-मुनियों के दर्शनार्थ

उनकी मीमांसा को और उनके हृदय के उद्गम विचारों को सुनने की उसकी उत्कट इच्छा रहती है।

मानव को अपनी वास्तविक आनन्द की पिपासा को जानना है तो उसे अपने हृदय की गुफा में पहुँच जाना चाहिए। हृदय रूपी गुफा में ही तो प्यारा प्रभु ओत-प्रोत है। उस हृदय को जान लेने के पश्चात् मानव की सारी पिपासा शान्त हो जाती है। प्रत्येक मानव में एक आकांक्षा होती है। क्योंकि वह आनन्दमयी अवस्था से आया है और अल्पज्ञता में परिणत हो गया, अज्ञान में परिणत हो गया। इस नाना प्रकार की माया ने मानव को इतना कटिबद्ध कर लिया कि अपने में वशीभूत कर लिया। जब भी कभी इसे छुटकारा प्राप्त होता है, इस माया से दूर होकर उसी काल में अपने प्यारे प्रभु की पिपासा में कटिबद्ध हो जाता है। उसकी धारा बन जाती है कि मेरी ऊर्ध्वगति बन जाए। मैं अपने प्यारे प्रभु से मिलान करूँ।

परन्तु मानव के द्वारा जो एक महान् संस्कारों का समूह बना हुआ है, संसार में जो आवागमन की प्रतिभा बनी हुई है वह उसे बाध्य करती रहती है। कहीं अपमान बाध्य करता है तो कहीं मान। पिपासा होते हुए भी उस मार्ग को अपना नहीं पाता। इसका मूल कारण यह है कि प्रकृति से हमारा मन इतना मलिन हो गया है कि हम ऊर्ध्वगति की तथा आनन्द की पिपासा ही पिपासा करते हैं परन्तु उस तक जाने का प्रयास नहीं कर पाते। हम मान अपमान में ही परिणत हो जाते हैं।

महर्षि कपिल जी ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है.''जब मानव की

तृष्णा अधिक बलवती हो जाती है, मान-अपमान में इतना कटिबद्ध हो जाता है कि वह मान ही मान चाहता है, अपमान नहीं चाहता।'' जिसका मान होता है तो अपमान कौन चाहेगा, अपमान की पिपासा किसे रहेगी?

हमारे ऋषि-मुनियों ने तो यह कहा है कि मानव का अपमान होना चाहिए। यदि उस अपमान के अनुसार एक विचारधारा प्रकट कर रहा है कि यह मानव अपूत (अपूर्ण) है तो यह केवल उसका अनुमान-मात्र है। यदि वह उन विचारों का बन जाता है तो जानो कि वह नारकिक प्राणी बन गया है। यदि वह मानव उसके अनुसार नहीं है, कल्पना कर रहा है, मिथ्या कल्पना कर रहा है मान का पाठ उसके द्वारा (समक्ष) आ गया तो वह मानव भी नारकीय हो जाता है। (बाईसवाँ पुष्प २८-३-७४ ई०)

आनन्द कैसे प्राप्त हो

आनन्द उस काल में प्राप्त होता है, जब ज्ञान होता है, ज्ञान के साथ में विवेक होता है। यदि ज्ञान होता है और विवेक नहीं होता, उसके साथ हमारी तपस्या नहीं होती, उसके अनुकूल हम चल नहीं पाते तो हमारा जीवन संसार में निरर्थक होता है। उस मानव का कोई मूल्य नहीं होता।

एक मानव शाब्दिक ज्ञान में रमण कर रहा है शब्दों का ज्ञान है परन्तु क्रियात्मक जीवन नहीं है तो मानव आनन्द को प्राप्त नहीं होगा। जिसे शाब्दिक ज्ञान होता है, तपस्या उसके साथ नहीं होती तो वह मानव सदैव अपमान में परिणत रहता है। मानव सदैव मान चाहता

रहता है। वह अपमान नहीं चाहता, निरादर नहीं चाहता।

जो वैदिक-विचारधारा वाले प्राणी होते हैं वे गम्भीरता से विचार-विनिमय करते हैं। जो इस मान में परिणत रहते हैं, हमें ज्ञान है, विवेक है। विवेक में मान-अपमान नहीं होता। केवल शाब्दिक ज्ञान में मान-अपमान के सहन करता रहता है। उसमें अपने को बुद्धिमान स्वीकार करने लगता है।

परन्तु जब-विवेक होता है, क्रियात्मक जीवन होता है, तपस्या में परिणत होता है, प्रभु का जिज्ञासु होता है तो प्रभु के जिज्ञासु को संसार में न तो निराशा होती है और न आनन्द की पिपासा होती है। प्रभु का जिज्ञासु सदैव अपने को आत्मा में लीन कर लेता है। आत्मा की जो प्रवृत्ति है वह बाह्य जगत की चेतना में परिणत हो जीती है। उसके लिए यह संसार अन्धकार तुल्य हो जाता है। (बाईसवाँ पुष्प २८-३-७४ ई०)

धर्म और राष्ट्र

संसार में धर्म और राष्ट्र दो ही वस्तुएँ हैं इनको एकता में लाना है। राजा और प्रजा दोनों धर्म में पिरोए हुए हों। जब ब्राह्मण समाज धर्म में पिरोया हुआ होता है तो उस समय यह समाज पवित्र बन जाता है। किसी भी महापुरुष का विचार रूढ़ि नहीं बनता न मोहम्मद साहब का, न ईसा का, न महर्षि दयानन्द का, न आचार्य शंकराचार्य का, न महात्मा बुद्ध का, न महावीर स्वामी का। वास्तव में रूढ़ि तब आती है जब मानव में स्वार्थ की भावना आ जाती है, स्वार्थ आ जाने पर पदलोलुपता छा जाती है, उससे रूढ़िवाद बना करता है।

धर्म-निरपेक्ष उसको कहते हैं जिसका हृदय विशाल होता है। किन्तु जहाँ मन में कुछ और बाहर कुछ और है वे धर्म-निरपेक्षता को उच्चारण करने के अधिकारी नहीं हो सकते। विभिन्न सम्प्रदायों का विचार मन में रखने वाले धर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकते। सम्प्रदाय निरपेक्षता तभी आ सकती है, जब सभी मानव अपने अन्तःकरण से अपने को सम्प्रदाय निरपेक्ष मानेंगे। उसमें किसी का पक्षपात नहीं होगा। जिस हृदय में पक्षपात होता है तो उस राष्ट्र के राजा को सम्प्रदाय निरपेक्ष कहने का अधिकार नहीं होता, राजा को निष्पक्ष होना चाहिए। उसे अपनी मानवता का निर्माण करना चाहिए। राष्ट्र में मानवता तब तक नहीं आ सकती जब तक राजा स्वयं मानव नहीं बन जाता, जब तक आतताइयों को दण्डित नहीं किया जाएगा तब तक राष्ट्र पवित्र नहीं बनता। दैत्य का दमन करके देवताओं की रक्षा करना यही तो धर्म है तथा इसी को राष्ट्र कहा जाता है। राष्ट्र धर्म की रक्षा करने के लिए होता है। (बीसवाँ पुष्प पृष्ट-८०)

राष्ट्र तभी पवित्र बनता है जब प्रत्येक मानव अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। यह कर्त्तव्यवाद ही तो धर्म है। धर्म और मानवता तभी ऊँची बनती है जब मानव मानव के विषय में विचारना आरम्भ कर देता है। जहाँ कर्त्तव्यवाद के स्थान स्वार्थवाद आ जाता है, वहाँ धर्म और राष्ट्र दोनों मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। (बीसवाँ पुष्प पृष्ट-८०)

प्रश्न : धार्मिक होते हुए भी संसार दुःखित क्यों हो रहा है, क्या कारण है ?

उत्तर.संसार में अशान्ति का कारण सर्वप्रथम तो राजा होता है। जब राजा के यहाँ स्वार्थवाद आ जाता है, त्याग-तपस्या नहीं रहती, राष्ट्र की प्रजा बिखरी हुई रहती है, उसमें महत्ता किसी भी काल में नहीं आ सकती।

२.जब धार्मिक पुरुषों में द्रव्य को एकत्रित करने की प्रवृत्ति आ जाती है, वहाँ भी प्रजा में अशान्ति आ जाती है।

३.जब धार्मिक पुरुष द्रव्य का दुरुपयोग करने लगते हैं, संन्यास आश्रम में जाकर अपने को संन्यासी उच्चारण करते हुए, प्रजा रूपी कामधेनु के द्रव्य दुरुपयोग करते हैं उनको सात प्रकार का नर्क प्राप्त होता है। संन्यासी द्वारा द्रव्य का दुरुपयोग तब होता है, जब उसकी प्रवृत्तियों में यह आ जाता है कि उसके द्वारा दिखावा होना चाहिए कि मैं कितना महापुरुष हो रहा हूँ। ऐसी आन्तरिक प्रवृत्तियाँ प्रजा में अविश्वास का कारण बनकर धार्मिकता को नष्ट करती चली जाती हैं।

४.जब धार्मिक पुरुषों में अपना स्वार्थ पूर्व तथा प्रजा का लाभ बाद में होता है, तो राजा के राष्ट्र में तथा प्रजा में धार्मिकता होते हुए भी अधार्मिकता ही रहती है। उस समय प्रजा में शान्ति के स्थान पर अशान्ति आ जाती है।

५.जब राजा के राष्ट्र में अजीर्ण हो जाता है, उस समय भी अशान्ति आ जाती है। अजीर्ण से तात्पर्य यह है कि जब वैश्यजन द्रव्य को एकत्रित करने लगते हैं तो वे राष्ट्र में अजीर्ण का कार्य करते हैं। इस प्रकार अजीर्ण हो जाने पर द्रव्यपतियों के अधीन रहने वाली प्रजा के मस्तिष्क में अशान्ति रहती है। क्योंकि अजीर्ण उस काल में

होता है, जब दूसरों के अधिकार को एकत्रित किया जाता है। जिस प्रकार मानव शरीर में अजीर्ण उसी काल में होता है, जब वहाँ वितरण का कार्य समाप्त हो जाता है। वितरण अच्छी प्रकार से न होने के कारण अजीर्ण रहने लगता है। इसी प्रकार राष्ट्र में अजीर्ण होना एक समय रक्तभरी क्रान्ति लाने का मूल कारण बन जाता है।

ऐसे ऋषि-महर्षियों तथा सन्त-महात्माओं के उपदेश जो सामूहिक होते हैं, वे अजीर्ण की औषधि होते हैं। किन्तु आग्नेय -वस्त्र (गेरुआ) धारण करने के पश्चात् भी संन्यासी एक द्रव्यपति के समक्ष सत्य उच्चारण न कर सके तो यह अजीर्ण कभी शान्त नहीं होगा। वह आग्नेय-वस्त्र धारण करने वाला संन्यासी सत्य वाक्य तथा वितरण सम्बन्धी वाक्यों को इसलिए उच्चारण नहीं कर सकता कि उसकी आत्मिक शक्ति का ह्रास (विनाश) हो गया होता है। अतः उसको सत्य वाक्य उच्चारण करने में भय प्रतीत होता है। इस प्रकार वह अजीर्ण का दृष्टिपात करता रहता है। उसी अजीर्ण का यह प्रभाव होता है कि प्रजा में अशान्ति रहती है। शान्ति उत्पन्न नहीं हो पाती। (बीसवाँ पुष्प १९-७-७० ई०)

धर्म और मानवता

विचारक कहता है कि धर्म वह है जिसको यह पृथ्वी अपने गर्भ में धारण कर रही है। बेटा! यह पृथ्वी जिसको धारण कर रही है उसी का नाम धर्म कहलाया जाता है। यह पृथ्वी क्या-क्या धारण कर रही है ? यह कहीं खाद्य वस्तुओं को धारण कर रही है, कहीं खनिज वस्तुओं को धारण कर रही है। नाना प्रकार के रत्न इत्यादियों को यह

अपने में धारण कर रही है। जो धारण कर रही है उसी का नाम तो धर्म है इसी प्रकार हे मानव! तू जब अपने मन को विचार-विनिमय करता हुआ उड़ान उड़ता है तो जैसे यह महान् वसुन्धरा नाना प्रकार की वस्तुओं को अपने में धारण कर रही है और जो मानव चाहता है वह संकल्प से उसे प्रदान कर रही है। हे मानव ! तेरा भी धर्म वही है जो तू अपने मन में धारण कर लेता है। परन्तु मन में क्या वस्तु धारण करता है जो विज्ञानीजन मानवता में, अहिंसा में तत्पर हो जाते हैं, उसका नाम धर्म कहलाता है। जिस विचारधारा में विज्ञान नहीं होता, मननशीलता समनशीलता नहीं होती, नम्रता नहीं होती जिस वाणी में संयम नहीं होता वह मानव धर्म से दूर रहता है। तो मानव को अपने धर्म के विचारना चाहिए। (तीसवाँ पुष्प ३-५-७६ ई०)

आज संसार में जितने भी धर्म (सम्प्रदाय) प्रचलित हैं, सबमें एक ही वाक्य अन्तिम है, 'मानवता होनी चाहिए।'

ऋषियों के विचारों के अनुसार मानवता के क्षेत्र में धर्म होना चाहिए। धर्म नाम विचार का है।

यदि कोई तथाकथित धार्मिक माँस अण्डों का भक्षण करने को कहता है उचित नहीं। धर्म उसी को कहते हैं कि जो वस्तु हमें स्वयं को कष्टमय प्रतीत होती हो, वह दूसरों के लिए भी इसी प्रकार की है। यदि हम इस दृष्टि से दृष्टिपात करेंगे तो यह हमारा धर्म हो जाएगा। धर्म किसी की सम्पदा नहीं होती, धर्म तो सभी का एक सा होता है। धर्म केवल मानवता तक ही सीमित नहीं रहता, वह ईश्वर

तक रहता है, वायुमण्डल तक रहता है।

जब हम अपने आनन्द के लिए, रसना के लिए दूसरों को कष्ट देते हैं तो हमारे लिए पाप बन जाता है। जब धर्म की इस प्रकार की धाराएँ बन जाएँगी तो ये जो नाना प्रकार के रूढ़िवाद हैं, वे सब नष्ट होते चले जाएँगे। रूढ़िवाद के नष्ट होने पर मानवता आ जाएगी। मानवता के आ जाने पर वैदिकवाद आ जाता है। तब प्रकाशमय समाज बन जाता है।

संसार के सभी महापुरुषों की वार्त्ताओं में कोई न कोई तथ्य अवश्य होता है, उस तथ्य की महत्ता को अपनाना सभी मानवों का कर्त्तव्य होता है। उन्हें रूढ़िवाद को त्यागकर यथार्थता को लाना चाहिए, यही कर्त्तव्यवाद है। (ग्यारहवाँ पुष्प ३०-७-६८ ई०)

धर्म उसी को कहते हैं जो धारण किया जाए (धारणाद्धर्म-उच्यते)। परन्तु यदि कोई ठग ठगी को धर्म बतलाने लगे तो यह स्वीकार्य नहीं क्योंकि धर्म ऐसा शब्द है जिसको व्यापक कह सकते हैं। जो व्यापक शब्द हो, वह किसी की सम्पत्ति नहीं, वह किसी रूढ़िवाद की सम्पदा नहीं। धर्म उसे कहते हैं जिस कार्य को करते हुए स्वयं अपने लिए कष्ट हो, वह दूसरे के लिए न करे। यथार्थता को देखना ही धर्म है। (दसवाँ पुष्प ६-११-६८ ई०)

अहिंसा परमोधर्म

जब मानव की हार्दिक वेदना होती है कि मैं पाप नहीं करना चाहता तो उस प्रकार के हृदय के उद्गम विचार वायुमण्डल में आ जाते हैं तो मृगराज भी अपना हिंसा का भाव त्यागकर समीप आ

जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा का सबसे बड़ा धर्म 'अहिंसा परमोधर्मः है। (तेरहवाँ पुष्प १-११-६९ ई०)

टिप्पणी.'अहिंसा प्रतिष्ठायाँ वैर त्यागः।' योग दर्शन

'अहिंसा परमोधर्मः' उन्हीं के लिए होता है जो अन्तरात्मा को जानते हैं, उससे वेदनित रहते हैं। क्योंकि आत्मा के ज्ञान से ही 'अहिंसा परमोधर्मः' है। आत्मा में अन्तर्द्वन्द्व आ जाने पर मानव में भय, लज्ञा, शंका उत्पन्न होती है, उसी से प्राणी हिंसक बना रहता है। जिसका हृदय विशाल महान् पवित्र होता है, अन्तरात्मा को जानने वाला होता है, वही 'अहिंसा परमोधर्मः' का पालन कर सकता है, अन्यथा केवल शब्दों के उच्चारण से कोई लाभ नहीं। मानव को उन कर्मों को करना चाहिए जिसके करने से भय, शंका, लज्ञा की उत्पत्ति न हो, वही अहिंसा है। जब लज्ञा, शंका, और भय और विंहीन होकर, ब्रह्म को मध्य में रख कर क्रिया की जाती है, तो उसी को सत्य ब्रह्म अर्थात् ''सहिंसा परमोधर्मः'' कहते हैं।(बारहवाँ पुष्प ३-६-७९ ई०)

मानव में ''अहिंसा परमोधर्मः'' की भावना होनी चाहिए। इससे वह पवित्र होता चला जाता है। ''अहिंसा परमोधर्मः'' आत्मिक बल को कहते हैं, शुद्ध आहार और व्यवहार को कहते हैं, कटुता को नष्ट करने को भी कहते हैं। इसी से राष्ट्र का निर्माण होता है। राजा का ''अहिंसा परमोधर्मः'' यह है कि उसका आहार शुद्ध और पवित्र होना चाहिए, उसे राष्ट्र में शुद्ध आहार तथा सदाचार का नियम बना देना चाहिए जिससे किसी भी जीव का भक्षण न हो।

यदि राष्ट्र की सीमा पर आक्रमण हो या राष्ट्र में कोई द्रोही हो तो उसे शक्ति से दमन करके नष्ट कर देना चाहिए।

शान्ति उसे कहते हैं जब राजा की आत्मा में तथा प्रजा में शान्ति हो। जब राजा के हृदय में और प्रजा के हृदय में शान्ति होती है तो राष्ट्र में शान्ति होती है, तब राजा में भी शान्ति होती है।

प्रजा में चिन्ताएँ उस समय होती हैं, जब मानव के हृदय में स्वार्थ और ग्लानि आ जाती है। उनके अन्तःकरण में दूसरों को नष्ट करने की भावनाएँ रहती हैं। प्रजा की इस प्रकार की भावनाएँ राजा तक पहुँचती हैं, उससे राजा का अन्तःकरण भी उसी प्रकार का बन जाता है।

अशान्ति को समाप्त करने में त्याग-भावनाओं का बड़ा महत्व है।?

जो मानव वेद का प्रसारण करता है, उसके अन्तःकरण में प्रत्येक प्राणी के कल्याण की भावना रहती है ऐसे उस मानव के उस महान् आत्मा के वेद-गान को मृगराज व पक्षीगण और सब प्राणी श्रवण करते हैं क्योंकि उसका हृदय और पवित्र होता है। उसमें ओज और तेज होता है और उसके हृदय में ''अहिंसा परमोधर्मः'' होता है। (बारहवाँ पुष्प १३-१०-६४ ई०)

१० दशम् अध्याय-मानवता ही धर्म है

मानवता को ही धर्म कहते हैं। जिसका जीवन धर्म में पिरोया हुआ हो, उसको मानवता कहते हैं। (दसवाँ पुष्प ४-५-६८ ई०)

वेद में जो सम्पन्न विद्यायें हैं, उसका एक ही लक्ष्य है कि मानव को अपना जीवन ऊँचा बनाना चाहिए। व्याहृतियों (विआहृक्तिन अर्थात् व्यापक उक्ति, कथन) को बनाओ। सूर्य की विद्या को जानो, प्रकृति, तारामण्डल, अन्तरिक्ष विद्याओं को जानो आत्मिक-विद्या मन की विद्या को जानो। इन सब विद्याओं को जानने का लक्ष्य केवल यही है कि मानवता को जानो।

प्रश्न : यह है कि मानवता (मानवत्व) है क्या ?

उत्तर.१.माता अपने गृह में अनेक प्रकार से नाना सामग्री तथा उदर-पूर्ति की वस्तुएँ एकत्रित करती है। यह सब करती है, अपने गर्भस्थल से उत्पन्न पुत्र के लिए।

२.राजा अपने राष्ट्र में नाना प्रकार की सामग्री एकत्रित करता है, कहीं मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराता है, कहीं विभिन्न प्रकार व्यवस्था किया करता है। यह सब मानव के लिए।

३.जितने वृक्ष और वनस्पतियाँ हैं, वे पुष्प वाटिकाओं में, वनों में सुगन्धिदायक वायु देते हैं। वह वायु कहीं अग्नि में वितरित होती है, कहीं जल में, कहीं विषैली वायु चलती है। उसके लिए सर्प आदि विषैले प्राणी हैं जो इस दुर्गन्ध को शोषण करते हैं। इन सबका लक्ष्य केवल मानवत्व को ऊँचा उठाना है।

४.गो दुग्ध देती है। यह केवल अपने कर्त्तव्य का पालन करती है। दुग्ध को मानव पीता है और पीकर आनन्दित होता है। यह भी मानव को ऊँचा बनाने के लिए है।

५.माता अपने पुत्र को लोरियों में दुग्ध-पान कराती है। वह केवल इसलिए कि उसका पुत्र आगे चलकर मानव बनेगा।

६.शिक्षालय में गुरुजन अपने ब्रह्मचारियों और ब्रह्मचारियों को सुन्दर शिक्षा प्राप्त कराते हैं। पूछने पर गुरु यही कहेगा कि मैं इनका भविष्य बना रहा हूँ। भविष्य बनाने की उसकी उत्कट इच्छा होती है। वे उसके पुत्र नहीं किन्तु विद्यालय में वह अपने कर्त्तव्य का पालन करता है उन्हें ऊँची से ऊँची शिक्षा देता है, कहीं सदाचार की, कहीं खान-पान की, कहीं राष्ट्र की तो कहीं पृथ्वी के गर्भ की शिक्षा प्राप्त करता है। आचार्य अपने कर्त्तव्य का पालन करने में व्यस्त है। केवल मानवत्व को ऊँचा बनाने के लिए।

७.परमात्मा ने वैदिक-विद्या दी है, वह मानव के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए दी है। (छठा पुष्प १९-१०-६५ ई०)

संसार में मानवता तथा देवत्व यह है कि जब मानव में ज्ञान का पूर्ण विकास होकर, उसको यह ज्ञान हो जाता है.''प्रभु ही यज्ञ है, प्रभु ही संकल्प है।'' उस समय मानव न कोई दुराचार करता है और न किसी की कन्या का हनन करता है। मानव को वास्तव में त्यागी और तपस्वी होना चाहिए। (तेरहवाँ पुष्प १-११-६९ ई०)

हम विचार करें कि मानव कितना ऊँचा बन गया है। मानव की व्याख्या तथा मीमांसा बहुत महान् कहलाई गई है। ''मानव वह होता

है जो मननशील होता है।'' वह मनन करता है कि सर्वोदय कैसे आ सकता है ? मेरा आत्मा कैसे प्रसन्न रहेगा ? जिस कर्म से तथा जिस ध्वनि से मेरा अन्तरात्मा प्रसन्न होता है, वही मैं दूसरों के लिए करूँगा तो वास्तव में सबका उदय हो सकता है। सर्वोदय की घोषणा से पूर्व हमें अपने मानवत्व को ऊँचा बनाना चाहिए। हमारे हृदय में मानवत्व की उत्तम भावना हो। जिससे हमारा जीवन मानवीय क्षेत्र में ऐसा प्रतिष्ठित हो जाए जैसे सूर्य। इसके प्रकाश को कोई अप्रकाश में परिवर्तित नहीं कर सकता। जब राजा और प्रजा दोनों इस प्रकार की भावना से ओत-प्रोत हो जायेंगे, तभी राष्ट्रीय विचार-धारा ऊँची बनेगी। उससे समाज उन्नत होगा, राष्ट्र उन्नत होगा तथा मानवता की प्रतिष्ठा उत्तम होगी। (चौदहवाँ पुष्प ८-११-६९ ई०)

सर्वोदय में सभी मानवों का उदय होना चाहिए। मानव का अभिप्राय है, जिसमें मननशीलता हो। मन पृथ्वी में तथा पशु में भी होता है। इसलिए प्राणीमात्र का उदय होना चाहिए। (तेरहवाँ पुष्प ९-११-६९ ई०)

मानवता का ह्रास

आज के संसार की वह गति है, जैसे गंगा में बहते पुष्प की, जो तीव्र गति से बहता हुआ समुद्र में जा पहुँचता है। इसी प्रकार स्वार्थी मानव अपने कर्त्तव्य को त्यागकर, मानवता को त्यागता चला जा रहा है। यह जानते हुए भी ''जीवन क्षणभंगुर है'' स्वार्थ में अंधे हैं। (छठा पुष्प १९-१०-६५ ई०)

आज का संसार यन्त्रों द्वारा एक-दूसरे के निकट आ गया है

किन्तु हृदय से दूर चला गया है। विचारधारा भी एक-दूसरे से दूर हो गई है। जब राष्ट्रों के (राजनेताओं के) हृदयों के विवेक नहीं होगा, स्नेह नहीं होगा, पवित्रता नहीं होगी तो न वाक्यों का कुछ बनेगा और न यन्त्रों का। यन्त्रों से मानव एक-दूसरे के निकट आया, किन्तु हृदयों से उतना ही दूर चला गया। पहले शरीर से दूर था, हृदय से निकट था, तो उन्नति कुछ नहीं हुई। कूप का जल रहट द्वारा निकल कर उलटा कूप में ही पहुँच गया। इससे एक अन्तर अवश्य हुआ कि एक-दूसरे से भय अवश्य उत्पन्न हो गया।

वास्तव में यन्त्रों द्वारा निकट जाना कोई निकटता नहीं है। निकटता तो यह है कि जहाँ मानव के हृदयों में स्नेह हो, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को विधाता (भ्राता) के तुल्य स्वीकार करता है। विज्ञान से मानव बहुत निकट आ गया है किन्तु हृदयों से दूर चला गया है। इससे यह परिणाम निकलता है कि मानव को भौतिक-विज्ञानवेत्ता के साथ-साथ आध्यात्मिक- विज्ञानवेत्ता भी होना चाहिए। (नौवाँ पुष्प २८-७-६७ ई०)

यदि मानव ने मानवता को त्याग दिया, तो इस ब्रह्माण्ड में प्रकृतिवाद तथा वायुमण्डल का एवम् विचारों का शोधन नहीं हो पायेगा। विचारों से प्रकृतिवाद बना करता है। जैसे एक गृह में सारे परिवार में प्यार होता है, तो वह स्वर्ग बन जाता है। कलह होने पर वह नर्क बन जाता है। इसी प्रकार जब मानव आत्मा के प्रसन्न करता है तो यह प्रसन्न रहता है। वह सशरीर ही स्वर्ग में (पारिवारिक स्वर्ग में) विचरण करता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प २३-८-७१ ई०)

देवासुर संग्राम मानवीय विचारधारा में तथा समाज में सदैव चला आया है। जिस मानव में कटुता तथा शत्रुता होती है, उसमें कटुता का भाव होता है। जब वाणी कटुता लिए नहीं होती, तो समाज उसे स्वीकार कर लेता है। जब समाज अपनी दृष्टि ऊर्ध्व नहीं बनाता, तो सत् वाक्य तथा सत् पुरुषों के आदेशों को भी कटुता में प्रतिपादित करने लगता है। (उन्नीसवाँ पुष्प २६-२-७२ ई०)

उत्थान की योजना

मानव जीवन मनोहर होता है। परन्तु मनोहर जीवन बनाने के लिए मानव को सुन्दर योजना बनाने की आवश्यकता है। जो मानव सुन्दर योजना नहीं बनाता उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है। (प्रथम पुष्प ४-४-६२ ई०)

प्रत्येक मानव धार्मिक, योगी तथा सम्पन्न बनना चाहता है। किन्तु कभी वह नास्तिक भी बन जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव को जैसा वायुमण्डल तथा सत्सग मिलता है, उसी प्रकार की भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ उसके मस्तिष्क में आ जाती हैं। अतः यदि हम परमात्मा की याचना आरम्भ कर, हमारे सम्पर्क में आने वाले भी ऐसा ही करेंगे, तो एक सुन्दर समय बन जाता है। तब मानव के मस्तिष्क में वैसे ही विचार आने लगते हैं। इससे मानवता ऊँची होती चली जाती है। (ग्यारहवाँ पुष्प १-८-६८ ई०)

मानवता उसी समय ऊँची बनती है, जब हम अपने जीवन में दृढ़ रहते हैं। मानवत्व पर विलक्षणता से रहते हैं। अपने जीवन पर अपना अधिकार रहता है। मन और व्याहृतियों (भाषणों-वक्ताओं) पर

अधिकार होता है। आगे चलकर विलक्षण बन जाते हैं। संसार को ऊँचा बनाने के लिए प्रत्येक महापुरुष, ऋषिमण्डल तथा माताओं को ऊँचा बनना होगा। (आठवाँ पुष्प अप्रैल-१९६५ ई०)

सत्संग का महत्व

हम किसी समाज में जाकर, किसी महापुरुष के सम्पर्क में जाकर या किसी विशेष स्थान पर जाकर अपने विचारों का संशोधन करते हैं, उनमें सुन्दरता लाते हैं, उनमें से हिंसा को निकाल कर ''अहिंसा परमोधर्म'' का पालन करने के लिये तत्पर हो जाते हैं। सत् महापुरुषों का सत्संग ही विचार रूपी यज्ञवेदी है। हम उन विचारों की सामग्री बना करके इस विचार रूपी यज्ञवेदी में आहुति देते हैं। अर्थात् महापुरुषों के सत्संग, उनकी प्रवृत्तियों की धाराओं में अपने विचारों को व्यक्त कर दिया जाता है। वह महापुरुष विचारों से ही अपने विचार देकर हमारे विचारों का शोधन कर दिया करते हैं। यह जो विचार रूपी महापुरुषों के सत्संग की वेदी है, उसका सम्बन्ध भी ज्ञान रूपी अग्नि से होता है। उस ज्ञान रूपी अग्नि में जब मानव अपनी प्रवृत्तियों को स्वाहा कर देता है तो उस समय उस मानव के जीवन में एक महान् प्रतिभा छा जाती है। वह प्रतिभा उस मानव की ध्रुवा गति (पतन की गति) नहीं होने देती। ऊर्ध्व गति बनाकर विचारों में व्यापकता, प्रसारण और आकुंचन ये सब प्रकृति के गुण आ करके, प्रकृति के कण-कण के जान करके वह महान् बन जाता है। वह अपना प्रदर्शन करके इस संसार सागर से पार हो जाता है। (ग्यारहवाँ पुष्प २०-१०-६८ ई०)

महापुरुष दो प्रकार के होते हैं। एक वे महापुरुष जो ब्रह्म में समाधिस्थ हो जाते हैं। उसके पश्चात् मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। ये आत्मा में ही हवि देते हैं। सदैव ब्रह्म को ही दृष्टिपात करते हुये ब्रह्म में समाधिस्थ हो जाते हैं।

दूसरे प्रकार के वे महापुरुष होते हैं, जो जनता-जनार्दन में समाधिस्थ रहते हुए दृष्टा हो जाते हैं। कपिल मुनि ने इनको ''इष्टि'' नाम दिया है, क्योंकि इनका जो इष्ट होता है, वह परमात्मा को कण-कण में स्वीकार करना है। प्रत्येक प्राणी के हृदय में उसको विचारना और उन्हीं में संलग्न रहना। त्रुटियों को निकालने का प्रयास करना और अपने ऊपर उनको न आने देना यह उनका स्वभाव होता है। जनता-जनार्दन उन्हें ब्रह्म के समान प्रतीत होती रहती है। इससे उनका आत्मा इतना उन्नत हो जाता है कि वे जो उच्चारण करते हैं, वह या तो राष्ट्र से लेकर प्रजा तक को मानना अनिवार्य हो जाता है। अन्यथा उसके इस भौतिक शरीर को नष्ट कर दिया जाता है। (बारहवाँ पुष्प ६-३-६९ ई०)

संसार में मानवता का निर्माण तभी होगा, जब ब्राह्मण ऊँचे त्यागी पुरुष होंगे। राष्ट्र और समाज को ऊँचा बनाने वाला ब्राह्मण कहलाता है। वह अनुसन्धानवेत्ता होता है। वह तपस्वी बनकर संसार का लोकप्रिय प्राणी बन जाता है। उसकी पवित्रता द्यु-लोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी में व्याप्त हो जाती है। (पन्द्रहवाँ पुष्प १३-२-७१ ई०)

जब तक हमारा जीवन ऊँचा नहीं बनेगा, तब तक हम संसार में किसी मानव को ऊँचा नहीं बना सकते। जब मानव का जीवन यज्ञ

जैसा पवित्र हो जाता है, तो उसका जीवन इतना विचित्र बन जाता है कि उसके शरीर के कण-कण से यज्ञ की ज्योति प्रकाशित होती है। (सातवाँ पुष्प ७-११-६३ ई०)

जो मानव संसार में ऊँचे शिखर पर चला जाता है, पवित्र बन जाता है, वह शान्त होकर आवेशों को जानने वाला बन जाता है। (पाँचवाँ पुष्प १९-८-६२ ई०)

अन्तरात्मा का महत्व

यदि तुम चाहते हो कि संसार तुमसे प्रीति करे, तो तुम स्वयं अन्तरात्मा से प्रीति करो, संसार तुम्हें स्वयं अपना लेगा। यदि अपनी अन्तरात्मा से द्रोह करोगे, मान-अपमान के क्षेत्र में रमण करते रहोगे, तो एक समय वह आयेगा कि तुम्हारे जो बाह्य अग्रणी कर्म हैं, वे सब नष्ट हो जायेंगे।

यदि आत्मा को जानने का प्रयास करोगे, आत्मा को भोजन दोगे, सत्संग में आत्मा को बलिष्ठ करोगे तो तुम्हारा हृदय और मन बलिष्ठ होगा। तब यह संसार स्वतः ही अपनाता चला जायेगा। यहाँ तक कि मृगराज भी उसे अपनाने लगेंगे।

वह लोक-लोकान्तरों को दृष्टिपात करने लगता है। वास्तव में हमारा अन्तरात्मा ही हमारे जीवन का प्रेरक है। (आठवाँ पुष्प ११-५-६७ ई०)

वेद का कथन है, हे मानव! जब तक तू अपने को नहीं जानेगा और जब तक अपने महत्व और मानवता को भली-भाँति नहीं समझेगा तब तक मानवता की कोई जानकारी नहीं कर सकता। जो

मानव दूसरों को जानना चाहता है, वह अपने को जान ले। अपने को क्या, मानव को क्या, वह संसार को जान लेगा। (प्रथम पुष्प ४-४-६२ ई०)

मानव को अपनी अन्तरात्मा को निष्ठावादी बनाना है। निष्ठावादी ऐसा होता है कि वह ब्रह्म के ऊपर विचार करे। किन्तु यह न समझे कि जितना मैंने जाना है वही सारा ज्ञान है। वास्तव में संसार में जानना सहज नहीं है इसके लिए बहुत गम्भीरता की आवश्यकता है। जैसे प्रत्येक मानव के सम्बन्ध में विचारना, उसके जीवन को विचारना, उसकी वाणी पर विचार-विनिमय करना, उसकी प्रत्येक इन्द्रिय के संयम को विचारना आदि, यह प्रत्येक मानव नहीं कर सकता।

एक राष्ट्रीय विचारधारा वाले तथा सामूहिक विचारधारा वाले प्राणी को जानना मानव के लिए सहज नहीं होता क्योंकि उसको बहुत सी विचारधाराओं का विचार करना होता है। (चौदहवाँ पुष्प ८-११-६९ ई०)

जब तक हमारा आत्मिक-बल ऊँचा न होगा, इसमें मानवता न होगी, हमारे पास ज्ञान की अग्नि न होगी, यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने की सत्ता हममें न होगी, तब तक हम मानव नहीं कहलायेंगे। न हम ब्रह्मा हैं, न ऋषि हैं और न आत्म-ज्ञानी हैं। आत्म-ज्ञानी वह होता है, जिसे संसार का पूर्ण ज्ञान होता है। (सातवाँ पुष्प ८-११-६३ ई०)

देव की करुणामयी, आनन्दमयी प्रतिभा मानव को मानवता का विचार अथवा चिन्तन करने के लिए प्रेरित करती रहती है। उसकी

प्रेरणा आन्तरिक हृदय में ही प्रायः उत्पन्न हुआ करती है। क्योंकि मानव अपने शुभ और अशुभ कर्मों को स्वयं अपने अन्तःकरण में विचार-विनिमय करने लगता है। उसको कोई उच्चारण नहीं करता। परन्तु वह स्वयं ही अपने ऊपर चिन्तन करना जब आरम्भ कर देता है तो उसे स्वयं यह प्रतीत होने लगता है। कि मेरे जीवन में नाना त्रुटियां हुईं, नाना विडम्बनायें जीवन में होती रहीं। ये सब मानव के अन्तःकरण में जो मानवीय प्रेरणा होती है, वह उस प्यारे प्रभु की है। उस प्रेरणा को जब हम स्वीकार करने लगते हैं तो हमारा अन्तरात्मा पवित्र हो जाता है। संसार का जो नाना प्रकार का वैभव है अथवा नाना प्रकार की जो हम अपने नेत्रों से, हृदय से संसार की कुटिलता को दृष्टिपात करते रहते हैं, तो वह कुटिलता अन्तरात्मा में नहीं रहती। वह समाप्त हो जाती है। क्योंकि जहाँ प्रभु की प्रेरणा के अनुकूल अपने जीवन को मानव अपने में धारण करने के लिए तत्पर हो जाता है तो उसकी मानवता वास्तव में पवित्र बन जाती है। (चौबीसवाँ पुष्प १७-८-७२ ई०)

चरित्र का महत्व

राष्ट्र की परम्परा और मानवता उस काल तक ऊँची रहती है जब तक मानव में चरित्रवाद की महिमा रहती है। (आठवाँ पुष्प ११-५-६७ ई०)

विज्ञान की पवित्र वेदी पर चरित्र-विचार की आवश्यकता रहती है।(सोलहवाँ पुष्प १-८-६७ ई०)

चरित्र निर्माण के लिए सर्वप्रथम खान-पान अच्छा होना चाहिए।

प्रकृति का नियम है कि जिस वस्तु का पान करने लगते हो, वही वस्तु तुम्हारे लिए आने लगती है। दूसरों का रक्त-माँस भक्षण करने से आन्तरिक भावना दूसरों को नष्ट करने में और दूसरों का आहार करने में हर समय संलग्न रहने लगती है।

संसार में मानवता, सदाचारिता तथा एकता लाना अनिवार्य है। वह माँसाहार को करते हुए कदापि नहीं आ सकती। जहाँ मानसिक विचारों में संघर्ष रहता है, दूसरों के विचारों में विडम्बना रहती है, कम्पन्नता रहती है, यह राष्ट्र की बहुत बड़ी हानि है। (छठा पुष्प १९-१०-६५ ई०)

जब मानव माँस का भक्षण करता है तो वे पशु-पक्षी जिनका वह आहार करता है, उनकी वेदना कण-कण में ओत-प्रोत हो जाती है। परिणामस्वरूप प्रकृति से अनेकों आपदायें आती हैं।

जब अपने भोजन पर विश्वास करके मानव उसकी इच्छा करेगा, तभी प्रकृति अन्न आदि देगी। जब मानव अपने भोजन पर विश्वास न करके दूसरों के भोजन को अपनाता है तो उसका परिणाम भयंकर हो जाता है। (छठा पुष्प सन् १९६६ ई०)

समुद्रों से जल का उत्थान होता है, उससे सुन्दर वृष्टि होती है, उससे वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। मनुष्य का आहार मनुष्य को मिल जाता है। अन्य प्राणियों का आहार अन्य प्राणियों को। यदि कोई व्यक्ति इस रसना के आनन्द में आकर दूसरे प्राणियों का भक्षण करता है और उनकी वेदना स्वीकार नहीं करता तो वह प्रकृति की, समुद्रों की तथा अन्य देवताओं की वेदना को कैसे स्वीकार कर

सकता है। यह प्रकृति तो माता है। उसके आँगन में यदि पुण्य करोगे तो पुण्य एकत्रित होकर वही मिलेगा और यदि पाप करोगे तो वही मिलेगा। सबकी वेदनाओं पर विचार करने से मानव ऊँचा बनता है। (छठा पुष्प सन् १९६६ ई०)

मानव को अपने त्याज्य आहार तथा नीच व्यवहारों से अपने जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिए। यह कोई क्रान्ति नहीं है, इससे तो आवागमन का केन्द्र बनता है तथा मानव दैत्य बनता है।

जो सुरा-पान करने वाले प्राणी होते हैं, उनको दैत्य प्रकृति का कहा जाता है। वे उन योनियों को प्राप्त होते हैं जहाँ प्रकाश का अंकुर भी प्राप्त नहीं होता। (उन्नीसवाँ पुष्प २८-१०-७२ ई०)

बिना यम-नियम, आहार शोधन के संसार योगी नहीं बनता। राष्ट्र में हिंसा नहीं होनी चाहिए। हिंसा होने पर उसकी तरंगें जगत् में भ्रमण करती रहती हैं तथा मानव के मस्तिष्क को छूती रहती हैं। उसी से मानव की प्रवृत्तियों का निर्माण होता है। यदि मानव का आहार सुन्दर नहीं होगा तो व्यवहार भी सुन्दर नहीं होगा। (बीसवाँ पुष्प १८-२-७० ई०)

वास्तव में समाज ऊँचा होना चाहिए, उसमें सात्विकता तथा यौगिकता आ जानी चाहिए। उसमें प्रभु के समक्ष अपने को समर्पित करने की क्षमता होनी चाहिए, तभी राष्ट्र ऊँचा बनेगा। योग को जानने की उसमें प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। (सत्रहवाँ पुष्प २२-२-७२ ई०)

कर्त्तव्य-पारायणता

आज मानव-वाद में भ्रष्टवाद का एक ही कारण है कि मानव

मृत्यु को अपने से दूर समझते हैं। जब मानव यह समझ लेता है कि एक समय मृत्यु आती है, उसे इस शरीर को त्यागना है तो कर्त्तव्य करते हुए ही मृत्यु को अंगीकार क्यों न करे, तो वह मानव राष्ट्र को ऊंचा उठा सकता है। हमें यह विचार लेना चाहिए कि यह पृथ्वी अब तक किसी की नहीं हुई। इसमें जो आता है कर्म करके चला जाता है। ऊँचे कर्म कर लो या क्लिष्ट, ऊँची प्रारब्ध बना लो या क्लिष्ट चाहे साम्यवाद से विचार लो या प्रजातन्त्र से कर्म कर लो क्योंकि यह मानव शरीर सदैव इस प्रकार का नहीं रह पाता।

जो व्यक्ति मृत्यु को नहीं विचारता, एक समय ऐसा आता है कि प्रकृति उसको ठुकरा देती है और त्याग देती है। प्रकृति उसी का साथी बनती है जो मृत्यु को स्मरण कर लेता है। जो यथार्थ चिन्तन करता है, प्रकृति उसे अपनी गोद में ले लेती है।

जो संसार में आकर यथार्थ चिन्तन नहीं करता, क्लिष्ट चिन्तन करता है तो एक समय वह आता है कि प्रकृति उसको ठुकरा देती है। उसका संसार में कोई नहीं होता। उसके प्रारब्ध उसे धिक्कारते हैं। इसलिये मानव को, मृत्यु को स्मरण करना चाहिए। उस समय उसके प्रारब्ध ही साथ जयेंगे। (नौवाँ पुष्प ३०-७-६७ ई०)

जब मानव अपने कर्त्तव्य का पालन करता है तो उसका स्वभाव परिवर्तित हो जाता है। वह निर्मोही हो जाता है। जैसे एक न्यायाधीश न्याय करते समय पिता और पुत्र आदि को दृष्टिपात न करके केवल न्याय करता है तो अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। यदि न्यायाधीश के मन में न्याय करते समय मोह या ममता आ गई तो उसको

न्यायाधीश नहीं कहना चाहिये। अधिकतर कर्त्तव्य का पालन करने में न्याय और दया दोनों की दृष्टि में भिन्नता आ जाती है।

ऋण-मुक्ति कैसे

कर्त्तव्यवाद यह है कि कोई मानव दूसरे का ऋणी न रहे। इसकी व्याख्या यह है कि मानव पर नाना प्रकार के ऋण होते हैं, जैसे.देवता का ऋण, मातृ-ऋण, राष्ट्र-ऋण आदि। देव-ऋण से उऋण होने के लिए प्रत्येक को यज्ञ करना अनिवार्य होना चाहिए राष्ट्र ऋण से उऋण होने के लिए प्रत्येक मानव को राष्ट्र के नियमों को धारण करना चाहिए। ऋषि-ऋण से उऋण होने के लिए मानव को दर्शनों तथा ऋषियों के विचारों का अध्ययन करके, उन्हें अपने जीवन में धारण कर लेना चाहिए। पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए माता-पिता की सेवा करना, उनकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। (पन्द्रहवाँ पुष्प २८-१०-७० ई०)

जब मानवीय विचार परमात्मा से सुगठित रहता है तथा वह मानव सुमन हृदय से कर्म करने में अपनी मानवता को धारण करता है तो वह संसार में एक श्रेष्ठ मानव कहलाता है। (इक्कीसवाँ पुष्प २०-७-७० ई०)

मानव की संकलित मानवता में एक ओज होना चाहिये जिससे जीवन में एक मौलिक-तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। उस मौलिक चेतना के आधार पर हमारे जीवन में एक महत्ता का दिग्दर्शन होने लगता है।

(इक्कीसवाँ पुष्प २०-७-७० ई०)

कर्म व्याख्या

कर्म पाँच प्रकार के होते हैं.

१-ऊर्ध्व-कर्म (उत्क्षेपण).(उन्नत करने वाले कर्म)।

२-ध्रुव-कर्म (अवक्षेपण).(पतित करने वाले कर्म)।

३-आकुंचन-कर्म (संकोच करना).(कर्त्तव्यहीन होना)।

४-व्यापकता (प्रसारण)

५-क्रिया (गमन)

ऊर्ध्व-कर्म

१-ऊर्ध्व-कर्म वे कर्म हैं जिनमें जो जैसा है वैसा ही समझा जाता है। सबको सुदृष्टि से देखते हैं तो पवित्रता में परिणत हो जाते हैं। ये हमें ऊपर को ले जाने वाले होते हैं।

ध्रुव-कर्म

२-ध्रुव-कर्म वे कर्म हैं जिनमें मानव में कुवासनाएँ होती हैं, मानव अर्थ (धन) के आंगन में रमण करता हुआ अपने मानसिक विचारों तथाआत्मा का हनन करता रहता है। नाना प्रकार के आवेशों में आता हुआ अपने मानसिक और मानवीय तत्त्वों को समाप्त करता रहता है, जैसे किसी को कुदृष्टि से देखना।

आकुंचन-कर्म

३-आकुंचन-कर्म (संकोच करना) यह तीसरा कर्म है। जब रूढ़िवाद में आकर आकुंचन को अपनाया जाता है तो अवश्य विनाश हो जाता है, इसमें आकुंचन-शक्ति से बुद्धि का माध्यम बहुत सूक्ष्म और घृणित बन जाता है। जब दूसरों से घृणा करने के वाक्य उसके

मस्तिष्क में आने लगते हैं तो ज्ञान की सूक्ष्म-सूक्ष्म नाड़ियाँ भस्म हो जाती हैं। वह किसी भी वस्तु पर व्यापकता से विचार नहीं करता। गिरते-गिरते यहाँ तक पहुँच जाता है कि गृह में वह मोह करता है, घृणा करता है तथा क्रोध करता है। इन तीनों के एकत्रित हो जाने पर उसका शरीर आधा समाप्त हो जाता है। १-मोह, २-क्रोध ३-अभिमान के एक स्थान पर आने पर उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है।

मोह का होना आवश्यक है क्योंकि इससे सृष्टि चलती है, किन्तु अतिमोह विनाशकारक है। उदाहरणार्थ :.

(१) एक पुत्र कुकर्मी तथा दुराचारी है, उससे मोह नहीं करना चाहिए। यदि मोह किया तो उस पर क्रोध भी आयेगा, क्योंकि वह दुराचारी है। उस पर अभिमान भी होगा कि यह मेरा पुत्र है। तो तीनों के एक स्थान पर आने पर स्मरण-शक्ति, जो ज्ञान का माध्यम है, का आकुंचन होने लगता है।

(२) एक कन्या है, वह संस्कार से पूर्व जार पुत्र को गर्भ में धारण कर लेती है। वह माता-पिता को कलिंकत करने वाली है। उससे एक स्थान पर कन्या होने का मोह है, दूसरे स्थार पर व्यभिचारिणी होने पर क्रोध है और एक स्थान पर पुत्री होने का अभिमान भी है। तीनों का मिलान होने पर स्मरण-शक्ति नष्ट होने लगती है। इसलिए ऐसे कर्म विचारने ही नहीं चाहिए, जिनसे बुद्धि का माध्यम सूक्ष्म हो जाये।

हमें आकुंचन करना है तो नाना प्रकार के विषयों को एकाग्र

करके आत्मा के ज्ञान में उनकी आहुति देनी चाहिए, इससे आत्मा का कल्याण हो जाएगा। आकुंचन से एक स्थान पर मोक्ष मिलता है, दूसरे स्थान पर बुद्धि का विनाश। हमें इस पर विचार कर लेना चाहिए।

मानव के सूक्ष्म बन जाने को आकुंचन कहते हैं। एक योगी बाह्य विषयों को समेटकर अपने अन्तःकरण में प्रविष्ट कर लेता है और आत्मा में ही मग्न हो जाता है, यह एक व्यापक आकुंचनता है। इतनी आकुंचनता आने पर वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को जानने वाला बन जाता है।

व्यापकता

जीवन में जितनी व्यापकता होती है और जितना विस्तारवाद होता है उतना ही उसका जीवन होता है। इस व्यापकता के न होने पर वह ध्रुव (निम्न, नीच) कर्मों में संलग्न रहता है। उदाहरणार्थ.

एक बालक जब गर्भ में होता है तो उसी को (अपना) संसार समझता है। उत्पन्न होकर शनैः-शनैः शैशव, बाल्य, किशोर होता है। उसके सम्बन्धों का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। आगे वह राष्ट्र, भूमण्डल, ब्रह्माण्ड के विषय में विचारता है। उसके मन में महान् विचार आने लगता है और वह योगी बन करके ऋषित्व को प्राप्त हो जाता है, यह मनुष्य की व्यापकता है।

आगे और व्यापक और विस्तार प्राप्त करके वह संन्यासी बनकर परमात्मा की सृष्टि को विचारता है, उसी में आनन्द लेता है। यह है विस्तार, व्यापकता। माता के गर्भ को सर्वस्व समझने वाला बालक

संसार में आकर विस्तार करता गया और सीमा तक पहुँचा। व्यापकता में नाना अणुओं और परमाणुओं को एकत्रित करने की क्षमता उसमें आ जाती है। वह उन पर विचार करता है।

क्रिया

जो भी हम कार्य करते हैं, वह क्रिया कहलाती है। इस प्रकार पाँच कर्मों में रूढ़िवादी बनें या अरूढ़िवादी यही हमें विचारना चाहिए। (आठवाँ पुष्प ११-५-६७ ई०)

कर्त्तव्यवाद की तीन अग्नियें

वक्रकेतु ऋषि में तीन प्रकार की अग्नि का वर्णन किया है।

१-गार्हपत्य-अग्नि :.इसमें ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। ब्रह्मचारी उसे कहते हैं जो ब्रह्म-विद्या में विचरण करने वाला हो। वह ब्रह्म-विद्या में विचरण करता हुआ, गुरु के आसन को ग्रहण करता हुआ, अपने जीवन को सच्चरित्रता में, सदाचारिता में परिणत करता हुआ, इस संसार सागर का मन्थन करता हुआ और अनुसन्धान करता हुआ आगे विचरण करता है।

२-गृहपत्य अग्नि :.इस अग्नि की पूजा करते हुए पति-पत्नी एक आसन पर बिराजमान होते हैं। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर मानव को अपने-अपने कर्त्तव्यवाद के लिए बाध्य होना चाहिए। गृहपत्य नाम की अग्नि को अपनाते चले जायें। यह अग्नि ही मानव का जीवन है, मानव का प्राण है, प्रकृति का प्राण है। यदि इस अग्नि की पूजा नहीं की जायेगी तो हम किसी भी अग्नि को या ज्ञान-विज्ञान को किसी भी काल में नहीं जान सकेंगे।

३-आरण्य-अग्नि :.यह वानप्रस्थियों के हृदय में प्रविष्ट होती रहती है। जिस विद्या का अनुभव करते हुए जिस अग्नि को हमने जाना है उस अग्नि का मन्थन किया हुआ जो तत्त्व है उसे संसार को देने के पश्चात् हमारे हृदय में वास्तव में शान्ति प्राप्त होती है।

इन तीन प्रकार की अग्नियों की पूजा करने का नाम ही कर्त्तव्यवाद है। इसी को अपनाने के पश्चात् हमारे जीवन में मानवता और यौगिकता आ जाती है। जिससे आगे चलकर हम अपने जीवन को ऊँचा बना लेते हैं। (नौवाँ पुष्प १७-१०-६७ ई०)

जब एक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है तो उसे व्यापक बनने की आवश्यकता है। उसके विचारों में व्यापकता आ करके, उसके ऊपर कर्त्तव्यवाद निहित हो जाता है। कहीं आचार्यों के प्रति, कहीं माता-पिता के प्रति, कहीं नाना प्रकार के उद्देश्य उसके समीप आते रहते हैं। (नौवाँ पुष्प १७-१०-६७ ई०)

गृहस्थाश्रम तथा वातावरण तभी पवित्र बनेगा जब हममें मनसापाप तथा अशुद्ध वाक्य नहीं होंगे। अशुद्ध वाक्य उन प्राणियों के हृदय में होता है, जो रसना और लिंग के पुजारी होते हैं, सुरा-सुन्दरी और अविद्या के पुजारी होते हैं। उनके यहाँ वातावरण अशुद्ध रहता है। वास्तव में व्यापकता का पूजन होना चाहिए जिससे इन संसार में महत्ता का प्रसार होता रहे। इसीलिए यज्ञ को श्रेष्ठ माना गया है। (इक्कीसवाँ पुष्प पृ०-२४)

मन-वचन-कर्म की एकता

हम स्वतन्त्र तभी हो सकते हैं जब हम मन-वचन-कर्म से किसी

प्रकार का पाप करने को तत्पर नहीं होते। अन्यथा हम किसी न किसी के अधीन रहते हैं। कहीं काम (काम-वासना) के अधीन, कहीं तृष्णा के, कहीं मान-अपमान के। अपनी सर्व-इन्द्रियों पर शासन करना, मानवता को ऊँचा बनाना, आत्मिक-बल को ऊँचा बनाना यह सब बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। (आठवाँ पुष्प दिसम्बर-१९६६ ई०)

मानव में विडम्बना तभी आती है जब उसकी मन-वचन-कर्म की एकता में आस्था नहीं रहती। जब मानव के विचारों का उपराम हो जाता है तो यम-नियम की भी आवश्यकता नहीं रहती। आत्मा का उत्थान तभी होता है जब मानव इस जगत् से उदासीन हो जाता है। जगत् से उदासीन होने के पश्चात् वैदिक परम्परा को अपनाने में सफल हो जाता है। जब व्यक्ति आत्मसुखी हो जाता है तो उसका आत्मा निर्मल हो जाता है। उसमें किसी प्रकार का विडम्बनावाद या निराशावाद नहीं होता। उस समय मानव यौगिक प्रक्रियाओं में शीघ्रता से सफल हो जाता है। इसलिए इस जगत् से उदासीन होना बहुत अनिवार्य है। (बीसवाँ पुष्प १८-२-७० ई०)

तप और व्रत

मानवीय दर्शन क्या है? तप है। मानव को अपनी ऊर्ध्वगति बनाना ही उसकी दर्शनिकता समझी जाती है। दर्शन वह कहलाता है। जिसमें मानव में, प्राणीमात्र में स्नेह की तरंगें ओत-प्रोत हो जाती हैं। मानव त्याग और तपस्या में परिणत हो जाता है। (चौबीसवाँ पुष्प १-५-७३ ई०)

जब सूर्य तपता है तो समुद्रों से जल का उत्थान होता है। मेंघ

बनते हें, उनसे वृष्टि होती है और वृष्टि से नाना प्रकार की वनस्पत्तियाँ होती हैं जिनसे मानव में जीवन आता है। चन्द्रमा तपता है, शीतलता आती है। माता तपती है तो बालक को जन्म देती है। ब्रह्मचारी तपता है तो वह तेजस्वी बनने के पश्चात् संसार में ब्रह्मचारी कहलाता है। यह पृथ्वी भी तपने के पश्चात् ही वनस्पतियों को उत्पन्न करती है। सृष्टि के आदि में परमात्मा स्वयं तपता है तो इस सृष्टि को रचता है। प्रकृति में क्रिया आती है। प्रकृति तपती है तो इसमें नाना खाद्य और खनिज पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार मानव में तप होना चाहिए जिसके द्वारा हम अपने जीवन को ऊँचा बना सकें, अपने मित्रों को ऊँचा बना सकें। (नौवा पुष्प २८-७-६७ ई०)

मानव की कल्पना सदैव ऊँची होनी चाहिए, इससे ऊर्ध्व-विचार होता है तथा अन्तरात्मा तपता चला जाता है। यह तपस्या ही मानव का जीवन है। हमें सार्वभौम महत्ता को अपनाकर चलना चाहिए जिससे मानव का जीवन अनुसन्धानमय बनता है तथा आध्यात्मवाद में परिणत हो जाता है। (उन्नीवाँ पुष्प ६-३-६३ ई०)

संकल्पवादी तथा व्रती बनो

जो मानव संकल्प-धारणा करता है, उसका जीवन महान् बना करता है। जो मानव संसार में अनुष्ठान करने वाला होता है, व्रती होता है उस मानव का जीवन विभोर हो जाता है। व्रती उसे कहते हैं जो व्रत धारणा करने वाला हो। व्रत वह धारणा करता है जो संकल्पवादी हो अथवा जो तपा हुआ प्राणी होता है। व्रत उसे कहते

हैं जो अपने कर्त्तव्यवाद का पालन करे। मानव को अपनी त्रुटियों को त्यागने का नाम व्रत कहलाया गया है। एक वैज्ञानिक यह व्रत करता है कि आज मैं अपने नाना प्रकार के यन्त्रों द्वारा नाना परमाणुओं का संघात करता हुआ, नाना प्रकार के यन्त्रों में विराजमान हो करके वह लोकों की यात्रा करना चाहता है। यह उसका व्रत है। एक मानव अपने मन में यह धारणा करता है कि मैं अपने मिथ्या वाक्यों से वायुमण्डल को दूषित नहीं करूंगा तो वह मानवव्रती कहलाता है, अनुष्ठानवादी कहलाता है। इन अनुष्ठानों से मानव का जीवन ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है।

हे मानव ! तू व्रती और अनुष्ठान करने वाला बन। अनुष्ठान करता हुआ प्रत्येक इन्द्रिय पर अनुशासन करने वाला और संयमी पुरुष होना चाहिये। यही उसका व्रत और अनुष्ठान है। ऐसा अनुष्ठान करने वाला मानव शिव कहलाता है। मानव कहता है कि मैं शिवपुरी को ऊँचा बनाना चाहता हूँ जिसमें आत्मा-रूपी शिव रमण करता है। इस मानव शरीर को वह उत्तम बनाने का प्रयास करता है। शिव का संकल्प धारण करता है। वह जो संकल्पवादी प्राणी है, वह अनुष्ठानवादी है, व्रती है। (चौबीसवाँ पुष्प १-५-७३ ई०)

मानव का निर्माण

मानव का निर्माण भवनों में नहीं, बल्कि उसकी भावनाओं में होता है। भयंकर वनों में होता है जहाँ प्रकृति अपने श्रृंगार से सुशोभित है, जहाँ प्रकृति का श्रृंगार ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य से परिपक्व कर देता है, जहाँ उसके जीवन की निधि प्राप्त होती है। इसके

विपरीत जहाँ मानव से प्रकृति रुष्ट हो जाती है।, प्रकृति निश्रृंगार हो जाती है, मानव का बनाया हुआ श्रृंगार आ जाता है, वहाँ मानव का निर्माण नहीं होता। (आठवाँ पुष्प ११-५-६७ ई०)

मानवता को ऊँचा बनाना, यह मानव के विचारों से सम्बन्धित है। विचारों में ही यह सर्वस्व विज्ञान ओत-प्रोत रहता है। जितना भी अणुवाद महाअणुवाद है वह सब मानव के विचारों में ही ओत-प्रोत रहता है। जिस प्रकार वट-वृक्ष के बीज में सूक्ष्मसा अंकुर होता है, इसी प्रकार मानव के शरीर में सूक्ष्मसा अन्तःकरण होता है। इसके आंगन में चित्त होता है। जब जीव और चित्त का संघात और मिलान होता है तो विचारों की उत्पत्ति होती रहती है। इन्हीं विचारों से संसार में हमारा जीवन मानवता के ऊँचे-ऊँचे क्षेत्रों में चला जाता है। इन्हीं विचारों के आधार पर मानव कहीं वाणी पर अनुसन्धान करता है, कहीं पृथ्वी के गर्भ पर, कहीं लोक-लोकान्तरों पर। अनेक प्रकार के अनुसन्धान करता हुआ वह अनुसन्धान-वेत्ता तथा विशेषज्ञ बन जाता है। (नौवाँ पुष्प १७-१०-६७ ई०)

आपोरेदन

इन्द्रियों के विषयों को जानकर इन पर अनुसन्धान किए बिना जीवन ऊर्ध्वगति को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। अतः हमें इन पर अनुसन्धान करना चाहिए। जिस प्रकार नेत्रों में रजोगुणी, तमोगुणी तथा सतोगुणी तीन प्रकार की तरंगों का जन्म होता है इसी प्रकार घ्राण, श्रोत्र रसना तथा त्वचा में भी तीन ही प्रकार की तरंगों का जन्म होता रहता है। इन इन्द्रियों के विषयों को प्राणों के द्वारा मन्थन

करने से जो शक्ति आती है, वही आपोरेदन है। (उन्नीसवाँ पुष्प ६-३-७३ ई०)

मानव-विनाश क्यों

विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मानव में ज्ञान और विवेक की मात्रा होनी बहुत अनिवार्य है। यदि विज्ञान के साथ-साथ मानव में आत्मिक-तत्त्व न रहे तो संसार का विनाश होता चला जायेगा। जबज्यह संसार महान् वैज्ञानिक बन जाता है तो अभिमान आ जाता है। यह अभिमान विनाश का कारण बनता है। (बाइसवाँ पुष्प ७-१०-६९ ई०)

विष्णु के जय-विजय दो गण हैं। जय-विजय नाम ज्ञान और विवेक का है। समाज में विष्णु की आवश्यकता सदैव रहती है। विष्णु वह कहलाता है जो इन्द्रियों पर विजय करने वाला, संयम करने वाला हो, अपनी इस महान् विजय को अग्रणी बना करके, अग्नि के सदृश बन करके, वह अग्रणी बना करके समाज को पवित्र बनाता है, महान् बनाता चला जाता है। (तेईसवाँ पुष्प २८-७-७१ ई०)

आज का संसार भोग-भोगने के लिए आया किन्तु भोग ने ही उसे भोग लिया। अतः मनुष्यत्व ही समाप्त हो गया। हमें भोगों पर नियन्त्रण करना चाहिए, तभी इनकी पूर्ति होगी। इनकी पूर्ति तभी होगी जब हममें दृढ़ता तथा संकल्प होंगे। इनके न होने पर हमारे भोगों की पूर्ति भी न हो पायेगी और भोग ही हमें भोगकर नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे। (दसवाँ पुष्प २६-७-६३ ई०)

भोग भोगने के लिए आया हुआ मनुष्य यदि भोगों के द्वारा भोग

लिया जाता है तो वह मनुष्य नहीं पशु है। हमें मानव बनने के लिए भोगों के भोगते हुए अपने जीवन को यशमय बनाना चाहिए। हमें वेद-रूपी गंगा में स्नान करना चाहिए। इस स्रोत को परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में दिया है। हमें ज्ञान-विज्ञान के ऊपर अनुसन्धान करके चलना चाहिए। (सातवाँ पुष्प ७-११-६३ ई०)

परमात्मा का रचाया हुआ यह संसार एक सुन्दर शिक्षालय माना गया है। इसमें प्रत्येक मानव, प्रत्येक प्राणी अपने-अपने संस्कारों को लेकर यहाँ विद्या के पठन-पाठन के लिए आता है। यह प्रकृति का जो स्वरूप हमें प्रतीत हो रहा है, वह परमात्मा का बनाया हुआ विद्यालय का सुन्दर भवन है जिसमें प्राणी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आता है।

मानव माता के गर्भ से पृथक् होने के पश्चात् इस संसार में विद्यार्थी और शिक्षक बनकर ही अपने जीवन की ऊर्ध्वगति को बनाता है। (आठवाँ पुष्प ७-१२-६६ ई०)

मन को स्थिर करना मानव का कर्त्तव्य है। प्राणों को संगठित करना तथा प्राणों को मन से मिला देना यही मानवता है। हमारी दार्शनिकता मन और प्राण के आधार पर ही है। यह चेतना जिससे मानव दृष्टिपात करता है तथा विचार-विनिमय करता है, वह आत्मा के आधार पर है। इस चेतना को जानना ही मानव का संसार में आने का उद्देश्य है। हम अपने मानवत्व को जानें।

मानव को अपने मन को घृणात्मक नहीं बनाना चाहिए। जितनी मन में घृणा होगी, उतनी ही विचारों में संकुचितता होगी। (इक्कीसवाँ

पुष्प २९-३-७० ई०)

घृणा मानव के संस्कारों को जन्म देती है। इसलिए घृणा नहीं करनी चाहिए। यदि घृणा करनी है तो आत्मा से नहीं शब्दों से करो। क्योंकि शब्दों की घृणा संस्कारों को जन्म नहीं देती। मन से भी घृणा नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह भी मानव को जन्म-जन्मान्तरों में ले जाता है। जो मानव मन से घृणा करता है, उसका कहीं आदर नहीं होता। जब उसका आत्मा में ही आदर नहीं होता, मानव शरीर में ही आदर नहीं होता तो बाह्य-जगत् भी उसका आदर नहीं करता है। (नौवाँ पुष्प १३-४-६९ ई०)

संसार में कटु उच्चारण करने से मानवता नहीं आयेगी। मानवता की यदि संसार में कोई प्रतिभा है तो मानव का यथार्थ भाषण है। यथार्थ में मधुरता होनी चाहिए, उस मधुरता में एक सत्यवाद होता है। वह मानव के अन्तःकरण को छूता चला जाता है। जब मानव का अनतःकरण उसे छू जाता है तो वह परिवर्तित हो जाता है। वह जो अशुद्ध वाक्य उसके हृदय में स्थान को ग्रहण कर गया, वह स्वतः शान्तता को प्राप्त होता रहेगा। (बाईसवाँ पुष्प २-८-७६ ई०)

मर्यादा की स्थापना

मर्यादा वह पदार्थ है जिसको त्यागने से यह संसार अशान्ति को प्राप्त हो जाता है। मानव की मर्यादा यह है कि वह दूसरों के गुणों को देखता रहे, अवगुणों पर दृष्टि नहीं पहुँचानी चाहिये। यह मर्यादा मानव को सुख पहुँचाने वाली है। यह मानव में शान्ति का प्रदर्शन करने वाली बन जाती है। मानव को अपनी मर्यादा विचारनी चाहिए

और उस पर चलना चाहिए। यदि मानव के द्वारा मर्यादा है तो जीवन है अन्यथा संसार में मानव का जीवन ही नहीं।(आठवाँ पुष्प ६-११-६२ ई०)

जो मानव स्थिर बुद्धि होता है, अविचल होता है, उसमें परिगृहीत (विरोधीगति) नहीं होती अर्थात् उसकी गति शान्ति हो जाती है। बाह्य इन्द्रियों का विषय आन्तरिक में परिणत हो जाता है। उस समय उसके आत्मिक हृदय तथा आत्मा का उत्थान आरम्भ हो जाता है। उसका हृदय अगम्य (अपार, अथाह) को प्राप्त होने लगता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प २०-६-६३ ई०)

जीवन में नम्रता का महत्व

१-नमः का अर्थ नम्रता है। मानव को अपने धर्म-पालन में नम्रता होनी चाहिए। अपने धर्म में पूरी-पूरी आस्था होनी चाहिए। इस प्रकार नम्रता आती जायेगी। शुद्ध-ज्ञान के साथ नम्रता आयेगी। ज्ञान न होगा तो नम्रता न आ सकेगी। हृदय में नम्रता का अंकुर पैदा होने पर जीवन मधुर बन जाता है। उस उज्ज्वल मनोहरता के कारण जीवन सुन्दर बन जाता है। जब मानव में ज्ञान, नम्रता और धर्म में आस्था होती है।, तभी उसमें इतनी मानवता आ सकती है जिसके द्वारा राम ने राज्य को त्याग कर वन जाना उत्तम समझा था। धर्म में आस्था न होने पर मानव कभी भी मानवता पर नहीं पहुँच सकता। मानवता के न होने पर जीवन अधूरा ही रहेगा। मानव नम्रतापूर्वक धर्म के प्रति ऊँची आस्था रखकर, धर्म के लिए कर्त्तय पालन में दृढ हो जाए। उस समय मानव में एक विशेष महत्वपूर्ण ज्ञान का प्रकाश होता है।

ज्ञान के प्रति ऊँची आस्था रखकर, धर्मरा ही रहेगा। मानव नम्रतापूर्वक धर्म के प्रति ऊँची आस्था रखकर, धर्म के लिए कर्त्तव्य पालन में दृढ़ हो जाए। उस समय मानव में एक विशेष महत्वपूर्ण ज्ञान का प्रकाश होता है। ज्ञान के प्रकाश होने पर मानव के मन में कर्म के लिए आस्था और दृढ़ हो जाती है। उस समय मानव में धर्म की विवेक बुद्धि का प्रकाश हो जाता है, अर्थात् धर्म का बड़ा विवेकी बन जाता है।

२-जब तक मानव एक-दूसरे का आदर नहीं करेगा; जब एक-दूसरे के अन्तःकरण की भावना और सत्ता को आदर नहीं देगा, नहीं जानेगा तब तक धर्म का कोई महत्व नहीं। जब तक मानव की दृष्टि में धर्म का कोई महत्व नहीं, तब तक मानव एक-दूसरे का आदर कदापि नहीं करेगा। किसी तमोगुणी मानव को आस्तिक तथा सतोगुणी बनाने के लिए उसका आदर करना आवश्यक है। आदरपूर्वक व्यवहार से ही उसके अन्तःकरण में ऐसी प्रेरणा मिलेगी कि तुझको भी लोगों से ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा तेरे साथ किया जा रहा है। इसके विपरीत यदि तमोगुणी व्यक्ति से तमोगुणी वाला ही व्यवहार किया जायेगा तो उस तमोगुणी मानव में या उसके अन्तःकरण में सात जन्मों तक भी सतोगुण का अंकुर उत्पन्न न हो सकेगा। इसलिए वेद कहता है, 'हे मानव ! सबका नम्रता के साथ आदर कर। इसके साथ यह भी आदेश है, ''जब तक मानव समय के अनुसार व्यवहार नहीं करेगा तब तक मानव का कोई महत्व नहीं।''

इसका अभिप्राय यह है कि दो प्रकार की नीतियाँ हैं १-आध्यात्मिक धर्म-नीति, २-राजनीति।

१-आध्यात्मिक-धर्म-नीति के अनुसार यदि हम आस्तिकता तथा सतोगुण को प्रसारित करना चाहते हैं तो हमें सबकी आत्माओं के स्वभाव को ध्यान में रखकर सभी के साथ, तमोगुणी के साथ भी नम्रता और आदर के साथ व्यवहार करना आवश्यक है।

२-इसके विपरीत राजनीति में समय के अनुकूल धर्म का विचार कर व्यवहार करना चाहिए। जैस श्रीकृष्ण जी ने महाराज अर्जुन से कहा था, "हे अर्जुन ! आज कठिन समय उपस्थित है। इस समय तेरा परम कर्त्तव्य है कि तू संग्राम करके शत्रुओं का नाश कर। समय के अनुकूल तेरा यही धर्म है।" (दूसरा पुष्प ३-४-६२ ई०)

सदाचार

सदाचारी का जीवन अमूल्य है। सदाचारी बनने की विधि यह है कि आज जिस वाणी का वक्तव्य दे रहे हो, उसको एकान्त में बैठकर विचारो कि उस वक्तव्य का क्या तात्पर्य है। हम उसके अनुसार चलते हैं या नहीं यदि चलने वाले हैं तो उसके वक्तव्य को देने के अधिकारी हैं और उसका प्रभाव होगा। यदि उसके सम्बन्ध से हममें त्रुटियाँ हैं तो प्रजा पर उसका कोई प्रभाव न होगा। सदाचारी बनने के लिए त्याग और तपस्या की आवश्यकता है।

द्रव्य की पूजा करने से सदाचार नहीं आयेगा। जब सदाचार को लेकर गायत्री की गोद में जाओगे तो वह चूमेगी। जब संसार में जाओगे तो संसार तुम्हारे वाक्यों को चूमेगा। (छठा पुष्प ६-११-६३

ई०)

यह समाज तथा ऋषिवाद तभी ऊँचे बन सकते हैं जब अधिकारी और अनधिकारी का विचार किया जाता है। जब नाना प्रकार की परमात्मा की वैदिक विद्या में परिणत होते हैं तो जो आत्मा को भासने वाली है उसका अध्ययन करने से समाज को ऊँचा बनाने के लिए तप की आवश्यकता है। (अठारहवाँ पुष्प १३-४-७२ ई०)

हम परमात्मा की आभा को इन रूपों में प्रकट करना चाहते हैं जिनसे संसार में, मानव के विचारों में एक महत्ता की उज्ज्वलता उत्पन्न होती रहे तथा महत्ता जागरूक होती रहे। हमारा लक्ष्य तरंगों में, वायुमण्डल में, मानव के अन्तःकरण में सर्वत्र इन महती तरंगों को उत्पन्न करना है। इन तरंगों को उत्पन्न करना ही वायुमण्डल को बनाना है तथा संसार को ऊर्ध्व बनाना है।

रूढ़िवाद का मूल कारण

परन्तु वार्ता करने के लिए समाज में अधिकारी और अनधिकारी का ध्यान रखना आवश्यक है। ऐसा न होने पर समाज में नाना प्रकार की रूढ़ियां बनती हैं तथा भ्रांतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जब तप तो होता नहीं और उसकी विवेचना करना चाहते हैं तो हृदय में वार्ता स्थान ग्रहण नहीं कर पाती। जब नाना प्रकार के भोग-विलासों के द्वारा १-मल, २-विक्षेप और ३-आवरण इतने विशेष बन जाते हैं कि यौगिकता के वाक्यों को ग्रहण नहीं कर पाते तो उसमें रूढ़ि बन जाती है। वह रूढ़ि समाज में विनाशकारी सिद्ध होती है। (आठरहवाँ पुष्प १३-४-७२ ई०)

सदाचारियों के लिए संसार में, न किसी काल में राष्ट्र रहा है और न रहेगा। राष्ट्र दुराचारियों और हिंसकों के लिए होता है। हिंसक वह होता है जो सदाचारिता में नहीं रहता। सदाचार उसे कहते हैं जब मानव अपने गृह में रहता है, धर्म के दस लक्षणों को जानता हो तथा उसका अनुसरण करता हो। (नौवाँ पुष्प २६-७-६७ ई०)

सदाचार की आधारशिला माता

सदाचार लाने के लिए सर्वप्रथम माता का स्थान है। वह अपने गर्भस्थल की रक्षा करे, जैसे ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है और उससे उदारता में रहता हुआ अपने स्थान पर स्थिर रहता है। ऐसे ही माता को गर्भवती होने के पश्चात् गर्भस्थल की रक्षा करनी चाहिए, उस समय प्रभु का चिन्तन करना चाहिए तथा अपने आहार को पवित्र बनाना चाहिए। कोई हिंसक और तीक्ष्ण पदार्थ पान नहीं करना चाहिए, क्रोध नहीं करना चाहिए। जब वह (माता) मग्न रहेगी तो गर्भस्थल से उत्पन्न होने वाला बालक भी मग्न होगा। वह जहां भी जाएगा ब्रह्मचारी रहेगा। यदि नग्न में चला जाएगा तो वहां भी ब्रह्मचारी रहेगा। अतः माता को चाहिए कि वह अपने पुत्र को गर्भस्थल में ऊंचा बनाए, ब्रह्मचर्य से परिपक्व बनाए। अपने सात्विक विचारों से पौष्टिक चरित्र वाला बनाए। जब बालक गर्भस्थल से पृथक् होकर पृथ्वी पर आए तो पृथ्वी माता से उसे सदाचारी बनाने की कामना करें। जब आचार्य कुल में प्रविष्ट कराएँ तो आचार्य से उसे सदाचारी तथा ब्रह्मचारी बनाने का अनुरोध करें। आचार्य उस बालक से कहे, "तू अपनी त्रुटियाँ मुझे दे और तू पवित्र बन।"

राष्ट्र के राजाओं को चाहिए कि वे सदाचारी बनने के लिए तत्पर रहें। "राष्ट्र का भूषण सदाचार है, नारियों को नचाना नहीं।" कलाओं का नाम सदाचार नहीं। राजा का भूषण हिंसा करना नहीं राजा को स्वयं सदाचारी बन करके ब्राह्मणों से कहना चाहिए कि हे ब्राह्मणो ! तुम सदाचारी बन करके राष्ट्र को सदाचारी और पवित्र बनाओ।

सदाचारी बनने के लिए उस आहार को करना चाहिए जो काम आदि वासनाओं को प्रज्ज्वलित करने वाला न हो। मांसाहार ऐसा ही है, जैसे अग्नि में घृत। वह काम-वासना को प्रज्ज्वलित करता है। फिर सदाचारी बनने का प्रश्न ही नहीं रहता। गृहस्थ में ब्रह्मचारी बनना अनिवार्य है। मनुष्य को अपने ऋतुकाल को देखकर चलना चाहिए। जैसी सभी भोग योनियों वाले भी चलते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करके ओजस्वी बनना चाहिए। अमृत-ज्ञान और आत्मबल को प्राप्त करना चाहिए। (छठा पुष्प ९-११-६३ ई.)

विवेक

अपने मानवत्व को पवित्र बनाने के लिए हमें प्रयत्नशील रहना चाहिए। विवेक के क्षेत्र में जाकर ही हम अपने को, राष्ट्र को तथा ऋषि-परम्परा को पवित्र बना सकते हैं। यमाचार्य, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ और विश्वामित्र आदि इसी से महान् बने। भक्त का भगवान के प्रति, पति-पत्नी में, पिता-पुत्र में, माता-पुत्र में, राजा और प्रजा में विवेक होना चाहिए। विवेक को अपनाने से संसार पवित्र बनता है और वह सत्य-युग कहलाता है। विवेक के ग्रहण करने पर प्रत्येक मानव अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। हृदय में विवेक की भावनाएं उत्पन्न होती

हैं जिससे यह वायुमण्डल पवित्र होता है जब वायुमण्डल स्वच्छ भावनाओं से पवित्र होता है तो मानव के विचार तथा उसके द्वारा उच्चारण किए जाने वाले वाक्य सत्यता और आनन्दमयता से हृदय में परिपूर्ण रहते हैं।

राजा और प्रजा में विवेक

राजा अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ अपनी प्रजा के कष्टों को दूर करने का प्रयास करता है तो प्रजा भी विवेकी हो सकती है। राजा को शिव तथा प्रजा को कैलाश बनना चाहिए तभी विवेक आ सकता है। जिस राजा के राज्य में ऊँचे विचारों वाली प्रजा हो, उस राजा को 'शिव' कहते हैं तथा प्रजा को 'कैलाश' कहते हैं। ऋषियों की परम्पराओं को तथा परमात्मा की देन वेद को अपनाकर जब मानव समाज विवेकी बन जाएगा और वह राजा को विवेकी बनने को कहेगा तो राजा को अवश्य ही विवेकी बनना होगा। राजा और प्रजा तभी विवेकी बन सकते हैं जब दोनों में कर्त्तव्य की भावनाएं हों। जब कर्त्तव्य की भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं जब क्लिष्टता आ जाती है, चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। राजा और प्रजा दोनों का पतन हो जाता है। ऐसे राजा और प्रजा को दूसरे राजा अपने अधीन करके उनके विचारों को नष्ट किया करते हैं जहां विचार नष्ट हो जाते हैं वहां एक प्रकार की नास्तिकता आ जाती है मानवता समाप्त हो जाती हैं और वह राष्ट्र तथा समाज शत्रुओं का क्रीड़ा क्षेत्र बन जाता है। जब प्रत्येक मानव, प्रत्येक देवकन्या, प्रत्येक ऋषि मण्डल, आचार्य-जन तथा राजा और प्रजा अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं तो यह संसार सतयुग

कहलाता है।

"कर्त्तव्य की विहीनता पर विवेक नहीं रहता।" मानव का चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। चरित्र भ्रष्ट होने पर राजा और प्रजा का विवेक समाप्त हो जाता है विवेक तो अपने कर्त्तव्य का पालन करने से ही आएगा। राजा-प्रजा का कर्त्तव्य है कि वे विवेकी बनें। जब दोनों में विवेक की भावनाएँ होती हैं, तो यह संसार पवित्र बनता चला जाता है। आचरण पवित्र रहते हैं। ब्रह्मचर्य रूपी गहना उसके पास रहता है।

"मानव का वास्तविक गहना उसका विवेक ही है।"

माता और पुत्र में विवेक

जो अपने पुत्र का पालन करती है, वह माता कहलाती है। पालन करने का अभिप्राय केवल पुत्र उत्पन्न करना ही नहीं है। बल्कि यह है कि वह अपने पुत्र में विवेक की वे भावनाएं उत्पन्न कर दे, जो आजीवन उसके मन में अंकित रहें। यह भावना तथा संस्कार उसके अपने गर्भ में ही बालक के अन्दर अंकित करने से होते हैं बालक के उत्पन्न होने के पश्चात् माता उसे अपनी लोरियों का आनन्द देती हुई मग्न और आनन्दित होकर उसका पालन करती है। युवा हो जाने के पश्चात् माता-पिता की सेवा करना पुत्र का कर्त्तव्य है किन्तु वह विवेक से ही होनी चाहिए।

पति और पत्नी में विवेक

पति-पत्नी के संस्कार होने का एक ही अभिप्राय है कि वे विवेकी सन्तान उत्पन्न करें, गृह पालन करें। वेद के अनुकूल गृहस्थ के नियमों पर चले। इससे हममें विवेक-सत्ता, ब्रह्मचर्य और बलिष्ठता

आती है। मानव में रोग तभी आता है, जब उसमें कोई क्षीणता आ जाती है। अन्यथा रोग कभी नहीं आता। जिस गृह में पति और पत्नी में, माता-पिता और पुत्र में विरोध होता है, वह गृह नहीं कहलाता, नर्कपुरी कहलाती है। हमें परमात्मा को साक्षी बना करके, आस्तिक बन करके गायत्री आदि छन्दों का चिन्तन करना चाहिए तथा शास्त्र के अनुकूल वेद-वाणी को विचारना चाहिए।

पिता और पुत्र में विवेक

मनु महाराज ने कहा है कि जब पुत्र १६ वर्ष का हो जाए तो उस समय पिता उसे मित्र के समान समझे। पुत्र में इतना विवेक होना चाहिए और उदार भाव होने चाहिये कि माता-पिता की आज्ञा की परिधि में कर्त्तव्य पालन करे।

जब मानव एक-दूसरे से बंधा हुआ होता है, एक-दूसरे से सम्बन्ध रखता है, जैसे पिता-पुत्र, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, राजा-ब्राह्मण-भगवान आदि, इस विचार के तारतम्य से विचार पवित्र बनते हैं। एक-दूसरे से भय होता है। विवेक उस समय नहीं आता, जब मानव अपने विचारों से स्वतन्त्र बन जाता है। जब वह अपने विचारों को ज्ञान रूपी अमूल्य प्रकाश में परतन्त्र मानता है, तो उसमें पाप नहीं होगा। पाप न होने पर वह पाप से उऋण होता चला जायेगा।

गुरु-शिष्य में विवेक

गुरु-शिष्य में प्रीति होनी चाहिये। शिष्य को प्रातःकाल में गुरु के चरणों को स्पर्श करना चाहिये क्योंकि गुरु से उसे विद्या और विवेक मिलता है। प्रथम जन्म माता देती है परन्तु दूसरा जन्म गुरु देता है।

तभी हम द्विज कहलाते हैं। गुरु से शिष्य के ब्रह्म-विद्या, राष्ट्र-विद्या, सामाजिक-विद्या और वैज्ञानिक-विद्या को प्राप्त करना चाहिये। इससे आगे चलकर शिष्य का भविष्य बनेगा, उसका जीवन पवित्र बनेगा तथा मानवता आती चली जायेगी। गुरु का अपमान नहीं करना चाहिए। जब गुरु-शिष्य का तथा शिष्य-गुरु का अपमान करता है, तो यही अपमान वाले संस्कार अन्तरिक्ष में विराजमान हो जाते हैं और संसार में अपवित्रता आ जाती है।

भक्त और भगवान में विवेक

भक्त विवेक के सहित यह जाने कि जहाँ उसकी दृष्टि जाती है, मन जाता है तथा बुद्धि का प्रतिबिम्ब जाता है वहीं परमात्मा प्रतीक बना हुआ है। परमात्मा के प्रति उसमें अनुपम विवेक होता है। अन्त में एक समय वह आता है कि भक्त भगवान की गोद में विराजमान हो जाता है परमात्मा के आनन्द को पान करता है। विवेक मानव में तभी आ समाता है, जब परमात्मा का आस्तिक बने। (पाँचवाँ पुष्प १३-१०-६४ ई०)

जब मानव आत्मा की चर्चा करता है जो उसके समीप विवेक आने लगता ह ै। (नौवाँ पुष्प २६-१०-६७ ई०)

ज्ञान का महत्त्व

प्रयत्नशील मानव ही अपने में ज्ञान की ज्योति को जागरूक कर सकता है, संसार में जब मानव को ज्ञान हो जाता है, तो वह मानवता की वेदी पर विराजमान हो जाता है। ज्ञान के बिना संसार में मानव का कोई मूल्य नहीं रहता। प्रत्येक मानव, प्रत्येक देवकन्या

का ज्ञान होना अनिवार्य है। अप्रिय को जानने का हमें विवेक हो, उसके प्रति ज्ञान हो, आत्मा के प्रति हमारा अटूट विश्वास हो। आत्मा का चमत्कार मानव के शरीर में प्रकाशित हो रहा है। हमें मानव-तत्त्व को, आत्मिक-तत्त्व को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। (सातवाँ पुष्प ७-१०-६६ ई०)

मानव ही सुखी होता है

जिस व्यक्ति की मानवता महती होती है, उसको कोई पराधीन नहीं कर सकता। जिस प्रकार राजा उसी को पराधीन कर सकता है, जो राष्ट्र के नियम के अनुकूल नहीं चलता। किन्तु जिसका जीवन राष्ट्र के नियमों से भी ऊपर उपराम हो चुका है, उसको राजा अपने अधीन नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रभु-कृत धर्म को अपनाने वाला इस समाज और राष्ट्र से ऊँचा बन जाता है। उसका समाज में कोई तिरस्कार नहीं कर सकता। उन प्राणियों का तिरस्कार होता है, जो अपनी मानवता से नीचे चले जाते हैं, संग्रह करते हैं, संग्रह करके वे इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे स्वेति (स्वाति) नक्षत्र अवरेत में नष्ट हो जाता है। (ग्यारहवाँ पुष्प ३०-७-६८ ई०)

जो मानव परमात्मा से भयभीत होता है वह संसार में ऋषि बन जाता है। जो समाज से भयभीत होता है, वह भी कुछ सुन्दर होता है। परन्तु जब मानव में पशुता आ जाती है, तो उसका कल्याण न समाज से ही हो सकता है और न परमात्मा से। इसलिए हमें परमात्मा से भयभीत होना चाहिए। परमात्मा से भयभीत होने वाले व्यक्ति को न तो दूसरों से घृणा होती है, और न दूसरों की निन्दा

करता है। केवल यौगिकता में लगा हुआ अपने मानसिक जीवन को ऊँचा बना करके यह संसार का गुरु कहलाता है क्योंकि उसके हृदय में इतनी नम्रता और उदारता ओत-प्रोत हो चुकी होती है कि वह केवल समाज के कल्याण की बात ही विचारता है। घृणा की नहीं, निन्दा की नहीं, क्रोध की नहीं। वह कामुक भी नहीं होता। उसे तो परमात्मा का भय होता है।

ऋषि आदर्शों को अपनाने के लिए, महान् आत्मा बनने के लिए सर्वप्रथम अपनी आन्तरिक भावनाओं को ऊँचा बनाना होगा। हम शान्त मन और शान्त हृदय से अपनी त्रुटियों पर विचार करें और उनको ठीक करें। परमात्मा से भयभीत होकर ऋषि आदर्शों को अपनायें तभी हम परमात्मा के आँगन में जाते हुए देव पथ प्राप्त कर सकते हैं। (छठा पुष्प-१९६६ ई०)

जब हम मानवता की स्वयं रक्षा करेंगे, तो हमारा जीवन ऊँचा बनेगा हम अपनी मानसिक प्रक्रियाओं और अन्तर्वेदनाओं को तभी स्वीकार कर सकते हैं। जब तक हमें अपने ऊपर तथा आत्मा पर स्वाभिमान नहीं होगा और हम अपने को अपने में स्वीकार नहीं करेंगे तो जीवन में कोई महत्ता नहीं आ सकती क्योंकि महत्ता बिखर जाती है। जहाँ महत्ता बिखर जाती है, वहाँ मानवता की कृतियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। मानवता को जानना ही संसार में विशेषता कहलाई गई है। जब दर्शनों में मानवता पर विचार करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि जितना भी दर्शन है, वह मानवता में ही है। क्योंकि जितना मानववाद है, दर्शनों के आधार पर ही है। (दसवाँ पुष्प ७-११-६८

ई०)

हमें परमात्मा के गुणगान गाते हुए अपने हृदयस्थल में, अपनी मानवता में शान्ति और न्याय को धारण करना चाहिए। क्योंकि जिस वस्तु को हम न्याय की दृष्टि से देखते हैं तो हमारा हृदय गद्गद् होने लगता है। जब हृदय में मग्नता और विचित्रता होगी तो हृदय पवित्र होगा और मानवता विचित्रता में परिणत होती चली जाएगी। केवल इस वेदना से कोई उपलब्धि न होगी कि हमारा हृदय पवित्र हो। यह वेदना तभी पूरी हो सकती है जब हम वेद के प्रकाश में रमण करने वाले बनें। वह प्रकाश हमारी वेदना को निगलकर, हमारी शुभकामनाओं को पूर्ण करता चला जाएगा। (नौवाँ पुष्प २८-७-७३ ई०)

यदि हम मानवता चाहते हैं तो वह उसी समय आयेगी जब हममें वैदिकता होगी। जब मानव वैदिक धाराओं को अपनाकर चलता है तो उसकी विचारधारा महती उज्ज्वल रहती है। (उन्नीसवाँ पुष्प २०-३-७२ ई०)

संस्कृति

संस्कृति उसको कहते हैं जहाँ सदाचार और मानवता एक ही आंगन में निर्णय की जाती हों। मनोबल उसी से ऊँचा बनता है। एक-दूसरे से घृणा करने से मनोबल ऊँचा नहीं बनता। (छठा पुष्प १९-१०-६५ ई०)

यदि मानव का जीवन अपनी परम्पराओं से सुगठित नहीं है तो उस जीवन का कोई अस्तित्व नहीं रहता। (बारहवाँ पुष्प ८-४-६१

ई०)

यह संसार तभी उन्नतिशील बन सकेगा जब धर्म उसमें व्यापक होगा। मानव के जो विचार उत्पन्न होते हैं, धर्म और संस्कृति से होते हैं। जहाँ संस्कृति होती है वहीं राष्ट्र वही मानवता, वहीं चरित्रबल, वहीं विज्ञान और वहीं ज्ञान होता है। जहाँ विद्यालयों में संस्कृति ऊँची होती है, वहाँ विद्यार्थियों के, ब्रह्मचारियों के विचार ऊँचे होते हैं। जहाँ गुरुजन योग्य होते हैं, वहाँ ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी पवित्र होते हैं। उनके समक्ष धर्म की चर्चाएँ रहती हैं। उनके मस्तिष्क पर ओज-तेज होता है। वह अपने गृह में आकर केवल सदाचार की चर्चा प्रकट किया करते हैं। मांसाहार को उपदेश देकर ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी का चरित्र कभी ऊँचा नहीं बनाया जा सकता। (छठा पुष्प १६-१०-६५ ई०)

निष्कर्ष

हम अपने कर्त्तव्यों को जानें। गो-पशु का पालन करें, ब्राह्मणों के समाज को एकत्रित करके राजा का सुन्दर चुनाव करें। वैदिक पद्धति को लेकर चलें। (आठवाँ पुष्प दिसम्बर-१९६६ ई०)

यथार्थ क्रान्ति

मनुष्य के मस्तिष्क मे दो प्रकार की क्रान्ति होती है :.

१-यौगिक क्रान्ति और

२-स्वार्थ के वशीभूत क्रान्ति।

द्वितीय प्रकार की क्रन्ति मे मानव-मानव को नष्ट करने के लिये उद्यत रहता है। बिना ज्ञान के कुछ मानव द्रव्य के लिए लालायित हो

जाते हैं। कुछ लोग त्वचा के आनन्द में लीन हो जाते हैं इत्यादि। इन सबका नाम स्वार्थ है। इन सबका नाम स्वार्थ है। स्वार्थ उस काल में नष्ट होता है जब मानव यौगिक आनन्द में चला जाता है, उसमें ज्ञान आता है। तब ज्ञान के साथ-साथ उसमें विज्ञान भी आता है। उस समय उसे प्रतीत होता है कि वास्तव में अब तू योग के मार्ग पर चला है।

एक का दूसरी वस्तु के साथ मिलान का नाम योग है।

संसार की परिस्थिति ऐसी अवश्य है कि क्रान्ति हो, क्योंकि जहाँ क्रान्ति होती है वहाँ शान्ति भी होती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि दूसरे प्रकार की क्रान्ति ही आयें। बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि वे यौगिक क्रान्ति को लाएं जिससे मानव के हृदय से स्वार्थ की क्रान्ति नष्ट हो जाये। स्वार्थ की क्रान्ति के भस्म होते ही मानव महान् बन जाता है और वह योग की ओर चल देता है। प्रत्येक मानव तथा देवकन्या अपने-अपने कर्त्तव्य पालन में संलग्न हो जाते हैं। (नौवाँ पुष्प २९-७-६६ ई०)

एक समय देवर्षि नारद, महर्षि शौनक, महर्षि पिप्पलाद, महर्षि दालभ्य आदि ऋषियों की सभा में यथार्थ क्रान्ति पर विचार-विनिमय हुआ, उसमें निर्णय हुआ कि :.

यथार्थ क्रान्ति वही होती है जो हिंसक प्राणियों तथा हिंसक व्यक्तियों को भी 'अहिसा परमोधर्मः' का पालन कराने के लिए वाध्य कर देती है। जो संसार में यथार्थ क्रान्ति की घोषणा करता है किन्तु बह हिंसक प्राणियों को अहिंसा में परिवर्तित नहीं कर सकता तो वह

संसार मे यथार्थ क्रान्ति नहीं ला सकता। यथार्थ क्रान्ति लाने के लिए मानव को स्वयं आत्म-विश्वासी होना चाहिए। आत्म-विश्वासी वही होता है जो त्याग और तपस्या में परिणत रहता है, आत्मविश्वासी वहीं होता है जो प्रभु का प्यारा होता है। यथार्थ क्रान्ति को लाने का विचार करने वाला अपने मन में विचार कर लेता है कि एक समय वह आयेगा जब तू नहीं रहेगा किन्तु तेरी जो महान् क्रान्ति है वह संसार में सदा ज्योति बनकर रहे।

यथार्थ क्रान्ति को लाने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम अपने मन की तरंगों को, अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को अपने वश में लेता है। जब मानव स्वार्थ के वशीभूत होकर क्रान्ति लाना चाहता है तो वह क्रान्ति नहीं हिसक-क्रान्ति' कहलाती है जो मानव को भक्षण कर जाती है।

यथार्थ क्रान्ति के कुछ उदाहारण है :.

१-भगवान कृष्णचन्द्र जी महाराज, २-महाराजा शंकराचार्य महाराज, ३-महात्मा ईसा, ४-महात्मा महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज और ५-महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गाँधी जी महाराज।

जो मानव ऐसी क्रान्ति लाना चाहता है कि 'मुख में राम और द्रव्य मुझे दे दो' क्रान्ति नहीं होती। यह एक प्रकार से दम्भ, छल, कपट और आडम्बर है। इसी को पाखण्ड कहा जाता है। पाखण्ड तो वास्तव में यह है कि कोई कहता है कि मैं दयानन्द को मानता हूँ, कोई राम को, कोई कृष्ण को, किन्तु यह घोषणा ही घोषणा है। उनके हृदयों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनमें केवल द्रव्य की

लोलुपता है, न वे दयानन्द को मानते हैं, न शंकर को न राम को, न कृष्ण को।

यथार्थ क्रान्ति वाला व्यक्ति वह होता है जो अपनी विचारधारा को प्रभु को अर्पित कर देता है और आत्म-विश्वासी होकर चलता है। वह अग्नि के सम अग्रणी बन जाता है। जैसे अग्नि प्रकाश देता है उसी प्रकार वह प्राणी आगे चलता है और यह समाज उसके पीछे चलने वाला बन जाता है। (ग्यारहवाँ पुष्प ३१-७-६८ ई०)

जो अच्छाइयों को ला देता है, वह आर्य कहलाता है, आर्य वही है जो प्रभु का अटूट विश्वासी हो, प्रभु के आंगन में रमण करता रहता हो तथा यथार्थ क्रान्ति को लाने का प्रयत्न करता रहता हो। ऐसे आर्यों का पृथक् से एक समाज हो जिसमें आत्म-विश्वासी और तपे हुए व्यक्ति हों। वे जो योजना बनायें, वह राष्ट्र राजा और प्रजा के लिए महान् हो और राजा के लिए उन्हें मानना अनिवार्य हो जाये। ऐसा समाज होने पर राष्ट्र और समाज दोनों ऊँचे हो जायेंगे।

मूर्ख वह होता है जो अपने जीवन को अनुशासनहीनता में ले जाता है। उसका अपनी वाणी, चरित्र और मानवता पर अनुशासन नहीं होता। यदि उसके मस्तिष्क में कोई क्रान्ति आती है तो वह अपनी नहीं किसी की की हुई होती है। बिना अध्ययन के की हुई क्रान्ति एक समय असफल हो जाती है। मूर्ख क्रान्तिकारी नहीं बनते। जिसके समीप शिक्षा की पद्धति नहीं है, वह नहीं जानता कि जिन उद्देश्यों को लेकर तू चला है, वे क्या हैं ? उनमें कितनी वास्तविकता है और तेरे में कितना आत्मिक बल है? बुद्धिमानों का कार्य करने के

लिए उसे पहले अध्ययन की आवश्यकता है। इसके पश्चात् उसके मस्तिष्क में, हृदय में एक महान् क्रान्ति का ज्ञान होता है। (आठवाँ पुष्प सन् १९६६ ई०)

हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि अपनी मानवता को ऊँचा बनायें, अपनी गऊ रूपी इन्द्रियों की रक्षा करें। दूसरों की रक्षा तो स्वयं हो जायेगी। क्रान्तिकारी बनने से पूर्व मानव को यह सोचना चाहिये कि यदि कोई राष्ट्रवेत्ता उसके प्राण लेना चाहे तो वह दे सकता है या नहीं तथा उसे कोई पद-लोलुपता तो नहीं है। आज मानव यथार्थ क्रान्ति इसलिये नहीं ला पा रहा है, क्योंकि मानव के आहार और व्यवहार नष्ट हो गये हैं। जैसा अन्न खाया, मन की प्रवृत्तियाँ वैसी ही बन गयीं। जैसे शब्द की रचना है, वैसा ही वायुमण्डल हो गया। जैसा वायुमण्डल, वैसा ही समाज बनता चला जा रहा है।

यथार्थ क्रान्ति लाने वालों को अपना आहार-व्यवहार शुद्ध करना होगा। जो लोग अन्न की कमी को माँसाहार से पूर्ति करने की बात करते हैं, उनमें दो तर्क हैं.

१-जब यहाँ माँस भक्षण नहीं किया जाता था तो क्या यह समाज अन्न से पीड़ित था ? इसका उत्तर निषेधात्मक है।

२-यह प्रकृति माता है, इसमें जो कल्पना करते हो वही देती है। जो पदार्थ पान किया जाता है, वही अन्न है। किन्तु माँस भक्षण को अन्न नहीं कह सकते।

यह अन्न उनके लिए हो सकता है जो माँस-भक्षण करने वाले प्राणी हैं। यह मानव का अन्न नहीं हो सकता। मानव का अन्न तो

वनस्पति है। (ग्यारहवाँ पुष्प ३१-७-६८ ई०)

१-महान् क्रान्ति लाने के लिए सर्वप्रथम प्रभु के विश्वास की आवश्यकता है। २-द्वितीय पर आत्म-विश्वास है। जब आत्मबल आ करके शक्ति आ जाती है तो यथार्थ क्रान्ति आ ही जाती है उससे राष्ट्र ऊँचा बन जाता है। जब राष्ट्र में महत्ता आ जाती है तो समाज शनैः-शनैः ऊँचा बन जाता है संसार में यौगिक पुरुष जितने अधिक होंगे उतना ही यह समाज ऊँचा बनेगा। इसलिए मानव को प्रभु के आँगन में आने के लिए तत्पर रहना है। मानव जो प्रदर्शन करता है उसमें नाना प्रकार की स्वार्थसिद्धि और पद-लोलुपता हो सकती है। उसमें यह तर्क हो सकता है कि पद की चुनौती तभी दी जानी चाहिए जब उसमें आत्मबल हो। इसके बिना वह पद को नष्ट कर सकता है। महापुरुषों के वाक्यों से मानव को बल प्राप्त होता है। उनके विचार समक्ष आने पर उनसे बल और आत्म-विश्वास उपजने लगता है। एक समय वह आता है कि वह महापुरुष बन जाता है और महापुरुषों के कार्यों को स्वतः ही करने लगता है। (ग्यारहवाँ पुष्प ३१-२-६८ ई०)

आत्म-विश्वासी मानव का व्यक्तित्व

परंगामृत ऋषि, पनपेतु ऋषि तथा शौनक ऋषि का कथन है कि "जो प्राणी आत्म-विश्वासी होता है, उसके जीवन में अन्धकार नहीं होता सदैव प्रकाश रहता है, वह 'अहिंसा परमोधर्मः' की वेदी पर चला जाता है। जब राष्ट्रीय आत्म-विश्वास तथा ब्रह्म के विषय में आत्म-विश्वास सुगठित होकर राष्ट्रवेत्ता में समाहित हो जाते हैं तब

उस समय वह व्यक्ति जो उच्चारण करता है, उसमें इतना बल आ जाता है कि उस बल से वह राष्ट्र का नेतृत्व करने वाला बन जाता है। वह राष्ट्र का तथा राजाओं को बाध्य कर देता है कि या तो उसके वाक्यों को स्वीकार करो अन्यथा उनके प्राणों का हनन किया जायेगा।

आत्म-विश्वासी प्राणी का प्रभु से तारतम्य होता है। उसके मन की प्रवृत्तियाँ ब्रह्ममय होती हैं। वे प्रवृत्तियाँ मानव की इच्छा होने पर भी पाप करने से रोक देती हैं। ऐसे आत्म-विश्वासी महापुरुषों का राष्ट्र में तथा गृहस्थियों में पूजन होना चाहिए। उनके विचारों से वायुमण्डल भी पवित्र बन जाता है। (ग्यारहवाँ पुष्प २-८-६८ ई०)

सुपथ

हे मानव ! तू अभिमान न कर। यह जो चेतना है, वह निर्मल है, स्वस्छ है, आनन्दमय और प्रकाशमय है। उस चेतना को विचार-विनिमय द्वारा जानने का प्रयास कर। अन्तर्द्वन्द्व के स्थान पर प्रकाश होना चाहिए। जिससे जीवन में सदैव आनन्द का दिग्दर्शन होता रहे। महत्ता की ज्योति ही संसार मे उज्ज्वल बनाने वाली है। हम अपने मानवत्व की विचित्र धाराओं को जानते हुए और प्रभु को अपना साक्षी बनाते हुए इस संसार सागर से पार होते चले जायें, हम प्रभु के गुणगान गाते रहें जिससे हममें अभिमान न हो, नेत्रों को दूषित न करें, इन्द्रियों के विषय को विचारें तथा एकत्रित करें। हृदय-रूपी गुफा में चेतना को जानने का प्रयास करें। यही मानव का कर्त्तव्य है। कर्त्तव्यवादी प्राणी परमात्मा को स्मरण करता है। कर्त्तव्यवाद का नाम

ही राष्ट्र है, समाज है, ऋत्विज है। इसी को राजा कहा जाता है। कर्त्तव्यवाद का पालन न करना ही मृत्यु है। (इक्कीसवाँ पुष्प २९-३-७० ई०)

इस संसार को ज्ञान की दृष्टि से देखो, यह संसार तुम्हें छू न ले। इस संसार में ऊँचा बनने का प्रयत्न करो, जैसे जल में कमल रहता है। कमल बनने से लक्ष्मी, सरस्वती (ज्ञान) तुममें रमण कर जायेगी। वह आत्मा कमल कहलाने का अधिकारी है जिसे संसार रूपी जल छू न सके। इस संसार को पाप के नेत्रों से न देखकर अन्तःकरण के वास्तविक चक्षुओं से देखना चाहिये। ये देवताओं को तथा परमात्मा को देखने वाले हैं। ये चक्षु हमें कमल बनकर सरस्वती की गोद में रमण करा देते हैं। देवता बनने के इच्छुक के लिए यह अभीष्ट है कि वह संसार से ऊँचा उठे। उसे केवल कार्य करने चाहिये जिनसे उनकी संज्ञा ऊँची बने। (चौथा पुष्प २८-७-६३ ई०)

मित्र-परिभाषा

मित्र वह नहीं होता जो हमें दुर्गुणों में ले जाये। हमारा वास्तविक मित्र वह है जो हमें महत्ता का दिग्दर्शन कराता है। महत्ता का दिग्दर्शन हमें गुरु भी कराता है। किन्तु वही गुरु जो स्वयं अपने में प्रकाशवान होता है। जो गुरू स्वयं प्रकाशवान नहीं होगा, नाना भोग-विलासों में तल्लीन होगा तो उसकी प्रेरणाएं तथा तरगें हमको तरंगित करती रहती हैं। अतः वह हमें वास्तविक मार्ग पर नहीं चला सकेगा। अतः संसार में यदि हम किसी को मित्र बनायें तो उसके अवगुणों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। उसके गुणों के सम्बन्ध में ही विचार विनिमय-

करना चाहिए। मित्र की जो महिमा उच्चारण की जाती है उसके अनुसार तो हमारा वास्तविक मित्र परमात्मा ही है। उसकी मित्रता में, किसी भी काल में अन्तर नहीं आता। चाहे हम कुटिल हो जायें, नास्तिक हो जायें, वह समय पर हमें वायु देता है, ऋतु का अनुभव कराता है, हमारे अन्तःकरण और मानवता को ऊँचा बनाता है। जो मित्र बन करके मित्रता के बदले जीवन दे रहा है, वही वास्तविक मित्र है। (ग्यारहवाँ पुष्प ११-४-६९ ई०)

विचार का महत्व

मानवता को ऊँचा बनाना है। यह मानव के विचारों से सम्बन्धित है। विचारों में ही यह सर्व-विज्ञान ओत-प्रोत रहता है। जितना भी अणुवाद है, महाअणुवाद है, वह मानव के विचारों में ही ओत-प्रोत रहता है। जिस प्रकार वट-वृक्ष के बीज में सूक्ष्मसा अंकुर होता है, इसी प्रकार मानव के शरीर में सूक्ष्म अन्तःकरण होता है। इसके आँगन में चित होता है। जब जीव और चित्त का संघात अर्थात् मिलान होता है तो विचारों की उत्पत्ति होती रहती है। इन्हीं विचारों से संसार में हमारा जीवन मानवता के ऊँचे-ऊँचे क्षेत्रों में चला जाता है। इन्हीं विचारों के आधार पर मानव कहीं वाणी पर अनुसन्धान करता है। मानव कहीं पृथ्वी के गर्भ पर, नहीं लोक-लोकान्तरों पर। अनेकों प्रकार के अनुसन्धान करता हुआ वह अनुसन्धानवेत्ता तथा विशेषज्ञ बन जाता है। (नौवाँ पुष्प १७-१०-६७ ई०)

११ एकादश अध्याय-सर्वोत्कृष्ट सामाजिक व्यवस्था का वैज्ञानिक स्वरूप

वैदिक-वर्णाश्रम-व्यवस्था

सर्वप्रथम सतयुग में शम्भु मुनि, गुरु ब्रह्मा, कपिल मुनि, मार्कण्डेय, भृगु आदि ऋषियों का समाज एकत्रित हुआ। उसमें वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने के प्रश्न पर गुरु ब्रह्मा जी ने यह कहा था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का निर्माण गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार होना चाहिये।

जिस प्रकार हमारे शरीर में कण्ठ के ऊपर का भाग ब्राह्मण है जिसमें चक्षु, श्रोत्र रसना, घ्राण आदि सभी हैं, उसी प्रकार समाज में ब्राह्मण का स्थान है। ब्राह्मण में भी रसना की भाँति त्याग श्रोत्रों की भाँति प्रत्येक वाक्य को ग्रहण करना, नेत्रों की भाँति देखना आदि गुण क्रियात्मक रूप में जीवन में होने चाहिए। शरद काल में पूरा शरीर ढके रहने पर भी उस (कण्ठ से ऊपर के) भाग को खुला पहरेदार रखने की भांति, आपत्तिकाल में तपस्या करना आदि गुण होने चाहिए।

शरीर में भुजा का स्थान समाज में क्षत्रिय का है। उसे बलशाली तथा पूरे समाज की रक्षा करने में समर्थ रहना चाहिये।

वैश्य का स्थान समाज में वही है जो शरीर में उदर का है। विभिन्न पदार्थों को प्राप्त करके उनसे श्रेष्ठ रसों को निकालकर शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग तक उनकी आवश्यकता के अनुसार पहुँचाना

उसका धर्म है।

शूद्र का स्थान पैरों के समान है। जो तीनों कर्मों के योग्य न हो, वह शूद्र कहलाता है। तीनों वर्णों की सेवा करना उसका धर्म है। (दूसरा पुष्प, ७-३-६२ ई.)

शूद्र वह होता है जो दूसरे व्यक्तियों की रक्षा नहीं करता, दूसरे जीवों का भक्षण कर जाता है।

सदाचारी क्षत्रिय, वैश्य वह होता है जो दूसरों की रक्षा करता है, प्राणीमात्र की रक्षा करता है। वह यज्ञ-वेदी पर आने योग्य है। वह राष्ट्र रूपी यज्ञ-वेदी पर अपने जीवन को न्यौछावर करने वाला होता है। (सातवाँ पुष्प, ८-११-६३ ई.)

वर्ण-निर्धारण की प्रक्रिया

गुरुकुल में आयुर्वेदाचार्य यह निर्माण करता था कि वह बालक किस वर्ण में जाने वाला होता है। इससे वर्ण-व्यवस्था का निर्माण होता है। उससे राष्ट्र ऊँचा बनता है। राष्ट्र में वर्ण-व्यवस्था ऊँची बनती है। वहाँ जातीयता नहीं होती। जातीयता जिस काल में आती है, वह काल रक्तभरी क्रान्ति का होता है। उस काल में, समाज में शान्ति की स्थापना नहीं होती। वर्ण-व्यवस्था जो होती है वह कर्म-गुणों के आधार पर होती है।

गुण-कर्म का निदान करने वाले आचार्य होते हैं। आचार्य सर्व-विद्या वाले होते है। वर्ण-व्यवस्था की राष्ट्र में जब स्थापना हो जाती है तो राष्ट्र में ब्राह्मण भी होते हैं, क्षत्रिय भी होते हैं, वैश्य भी होते हैं और शूद्र भी होते हैं। ये चारों अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं।

विज्ञान भी होता है तो वह भी कर्त्तव्य की सीमा में होता है। जहाँ कर्त्तव्य होता है, वहाँ राष्ट्र में रक्तभरी क्रान्ति नहीं होती। वहाँ राष्ट्र (राज्य) की भी कोई विशेष आवश्यकता किसी काल में नहीं रहती। अतः हमारे यहाँ बुद्धिमान, ज्ञानी पुरुष होने चाहिए। सर्वत्र-विद्या के अध्ययनशील प्राणी होने चाहिए जिससे जीवन में एक महत्ता की स्थापना हो जाये। (पच्चीसवाँ पुष्प, १-८-७३ ई.)

जब ब्रह्मचारी आचार्य कुल में प्रविष्ट होता था तो आयुर्वेद के पण्डित उसके मस्तिष्क पर नाना प्रकार की औषधियों का लेपन करते थे। उस लेपन से उसके मस्तिष्क तथा बुद्धि का यह ज्ञान हो जाता था कि वह किसमें जाने वाला है। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का विचार तथा उसकी प्रतिभा, दोनों का जन्म हो जाता था। इस प्रकार आयुर्वेदाचार्य के निर्णय के अनुसार ही समाज का निर्माण आचार्यों तथा विवेकशील पुरुषों के द्वारा सम्पन्न होता था। प्राचीन काल में आचार्य लोग सुचरित्र, सुविचारक तथा विवेकी होते थे। विवेक का तिरस्कार नहीं होता। किन्तु अशुद्ध वाक्य का तिरस्कार तो प्रायः होता रहता है। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृष्ठ-६६)

ब्राह्मण तथा उसका दायित्व

ब्राह्मण वे कहलाते हैं जो ब्रह्म को जानने वाले हों, ब्रह्म के स्वरूप और भूमिका को जानते हों। ऐसे ब्राह्मणों को पुरोहित कहते हैं। पुरोहित यजन करने वाला होता है। वह पुरोहित कहलाता है, जो ब्रह्म-विद्या के ज्ञान से मानव के हृदय को पवित्र बनाता है और अन्तःकरण को उस विद्या से ओत-प्रोत करा देता है। मानव के

अन्धकार को नष्ट कर देता है। ब्रह्म-रूपी प्रकाश उसके हृदय में ओत-प्रोत करा देता है। पुरोहित उसको कहते हैं जो अपनी सदाचारिता को लेकर इस संसार में आता है। अपने सदाचार और मानवत्व से सम्पर्क में आने वाले द्विजों को पवित्र बना देता है।

पुरोहित को वेदाचार्यों ने 'आग्नेय' कहा है, क्योंकि ज्ञान रूपी अग्नि उसके मुख में है! उससे वह तप गया है। अन्धकार उससे दूर चला गया है। पुरोहित को 'वामन' भी कहा जाता है। वह नाना प्रकार के प्रमाण देकर मानव के अन्धकार को समाप्त करता है। (सातवाँ पुष्प, ३०-९-६४ ई.)

बुद्धिमान ब्राह्मण देवता होते हैं क्योंकि वे ब्रह्म-विद्या को जानते हैं, परमात्मा तथा देवता की पूजा करते हैं और माता का आदर करते हैं, इसी कारण वे देवता बन जाते हैं। (दसवाँ पुष्प, २६-७-७३ ई.)

परमात्मा के राष्ट्र में परमात्मा का चिन्तन करने वाले को ब्राह्मण कहते हैं। यदि ब्रह्म-विद्या का चिन्तन करने वालों में अभिमान आ गया तो तपस्या का लेश-चिन्तन भी वह न कर सकेगा। पाण्डित्य उसी को कहते हैं, जहाँ अभिमान नहीं होता। जैसे परमात्मा में मान-अपमान नहीं होता, उसी प्रकार ब्राह्मण में भी मान-अपमान नहीं होना चाहिये। राष्ट्र का गुरु ब्राह्मण होता है। उसके वाक्यों को मानना राजा के लिये अनिवार्य होता है। महापुरुष ब्राह्मण वही होता है जो या तो अपने वाक्यों को स्वीकार करावे अन्यथा शरीर को नष्ट कर दे। (बारहवाँ पुष्प, ६-३-७९ ई.)

ब्राह्मण वह होता है जो ब्रह्म को जानता है, जिसका एक-एक

श्वाँस सुख का आता है। उसके हृदय और मस्तिष्क में निराशा नहीं होती, क्योंकि वह सूक्ष्म वार्ताओं पर नहीं जाता, केवल उदासीन रहता है। वह सदैव प्रसन्न रहता है। ब्राह्मण उसे कहते हैं, जो ब्रह्म माता की लोरियों का पान करता है। उसके लिये यह जो संसार में भोग-विलासों का क्षेत्र बना हुआ है, यह नहीं रहता। इन्द्रियाँ व्यापार इसलिये नहीं करतीं क्योंकि उसके मन और प्राण का मिलान हो ही गया है। तब वहाँ भोग-विलास का क्षेत्र नहीं रहता। इसके न रहने पर उसमें उदासीनता रहती है। उसमें प्रमाद और आलस्य भी नहीं होता। आलस्य और प्रमाद के न रहने पर वहाँ सुषुप्ति अवस्था भी नहीं रहती। यह तो शरीर के साथ व्यापार लगा हुआ है। परन्तु आत्मा के साथ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण का मिलान करने से सांसारिक व्यापार का अपना अस्तित्व नहीं रहता, तो इसका दोष भी नहीं रहता। (तेइसवाँ पुष्प, ११-३-७२ ई.)

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा था कि ब्राह्मण वह होता है, जो सत्य का पथिक होता है और सत्य की वार्ता को स्वीकार करता है। सत्य का पथिक वह होता है, जिसको न मान होता है न अपमान। ब्राह्मण वह होता है, जो ब्रह्म में विचरण करता है, सत्यवादी होता है क्योंकि सत्य में ही ब्रह्म ओत-प्रोत रहता है। जहाँ सत्य होता है, वहीं ब्रह्म होता है। जहाँ ऋत होता है, वहीं सत् की प्रतिष्ठा होती है। ऋत और सत् दोनों ब्रह्म के अंग कहलाते हैं। इसलिये यदि ब्रह्म को जानना है, तो सत् को जानो। (चौदहवाँ पुष्प, १२-८-७० ई.)

सनत्कुमार ने कहा था कि जानकारी ब्रह्मवेत्ता का प्रथम लक्षण

है। (उन्नीसवाँ पुष्प, ३१-१-७० ई.)

जब समाज अज्ञानता में जा रहा हो तो उसे ज्ञान के मार्ग पर लगाना बुद्धिमान ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है। ब्राह्मण अपने स्वार्थ और ऐश्वर्य के लिये समाज को अन्धकार के मार्ग पर न ले जाये। जब ब्राह्मण कामनाओं का स्वार्थी बन जाता है, तो समाज और राष्ट्र का विनाश होता चला जाता है। (आठवाँ पुष्प, ७-१०-६६ ई.)

जो प्रत्येक जीवन-यात्री को, प्रत्येक देवकन्या को ज्ञान देकर अमृत तुल्य बना देने में सहायता करता है उसी को ब्राह्मण की उपाधि दी जाती है। ब्राह्मण ज्ञानी को कहते हैं। हमारे शरीर से जो १-मल, २-विक्षेप, ३-आवरण हैं। इन तीनों को अपनी विद्या से समाप्त कर देने वाले को ब्राह्मण माना जाता है। जो राष्ट्र को ऊँचा बनाने वाला हो, एक साधारण व्यक्ति का भी उत्थान करने वाला हो और जो वेद के ज्ञान का भण्डार हो उसी को ब्राह्मण रूप में पुकारा जाता है। जो ब्राह्मण सब गुणों वाला बन जाता है, उसी को तेजस्वी ब्राह्मण कहते हैं। तेजस्वी ब्राह्मण सबका कल्याण करने वाला होता है, प्रजा को उच्च बनाने वाला होता है। प्रजा में किसी प्रकार के अज्ञान को आने नहीं देता। जिस काल में ऐसे ब्राह्मणों की संख्या अधिक होती है, उस काल में अज्ञान आता ही नहीं। ऐसे महान् ब्राह्मण राजा को समय पर चेतावनी देने वाले होते हैं। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

किसी राष्ट्र की पद्धति को राजा ऊँचा नहीं बनाया करते परन्तु ऊँचा बनाता है ब्राह्मण-समाज। राजा से ऊँचा राष्ट्र में एक समाज

होता है, जिसको गुरु समाज कहा जाता है। उसके नियम होते हैं, कुछ उद्देश्य होते हैं जिन्हें लेकर वे क्रान्तिकारी बनते हैं। जिस प्रकार प्रातःकाल का सूर्य रात्रि के अन्धकार को हनन करता हुआ संसार को प्रकाश देकर उसे क्रांतिकारी बना देता है, उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति क्रान्तिकारी होता है। जब बुद्धिमान को संसार में अन्धकार प्रतीत होता है, तो उसी समय वह अपनी सतोगुणी और वैदिक-क्रांति देकर अन्धकार को नष्ट कर देता है। राष्ट्र में बुद्धिमानों का एक समाज होता है। उन बुद्धिमानों में तपस्वी होते हैं। जब वे राजा से कहते हैं कि हे राजा ! तू अपने राष्ट्र को ऊँचा बना। उस समय राजा विचार-विनिमय करके उस राष्ट्रीयता पर पहुँचता है कि वास्तव में राष्ट्र में दुराचार और अनुशासनहीनता नहीं होनी चाहिये। जब राजा के पास उसकी संस्कृति और ऋषि-मुनियों का आदर होता है, तो वह जानता है कि तेरा कर्त्तव्य क्या है?

जब बुद्धिमानों का समाज द्रव्य को पाने में स्वार्थी हो जाता है, तो स्वार्थ के कारण रक्त की क्रांति हो जाती है। वास्तव में द्रव्य के स्वामी तो राजा और वैश्य ही होते हैं। बुद्धिमान के लिये धर्म पहले आता है और द्रव्य उसके बाद में आता है।

ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है कि वे अपनी पवित्र विद्या को, मानवता को, आचरण को, ब्रह्मचारियों को शिक्षालयों में प्रविष्ट कराएं जिसमें वे उस विद्या को ग्रहण करें, जिससे राष्ट्र और समाज पवित्र हो जाते हैं। (आठवाँ पुष्प, सन् १९६६ ई.)

आदि दार्शनिक समाज में अंगिरा ऋषि ने नारद जी को कहा था

कि ब्राह्मण को परा-विद्या से प्राप्त यश वाला मान लेने से राष्ट्र अन्धकार में चला जायेगा। ऐसा करने से हम परमात्मा के बनाए नियमों को व्यर्थ करने का दुस्साहस और पाप करेंगे। समाज तुच्छ बन जायेगा। राष्ट्र की समस्त प्रजा और यह संसार तुच्छता को प्राप्त कर अधोगति को पहुँच जायेगा। हे नारद ! हमें तो उस व्यवस्था को पाना है, जिससे हम हर प्रकार से योगी बनकर, महान् बनकर अपने ब्राह्मणों को महान् ज्ञान देते चले जायें जिससे तुच्छता का प्रसार न हो सके। तुच्छता के प्रसार से तो यह संसार अधोगति को प्राप्त हो जायेगा। (दूसरा पुष्प, १३-४-६२ ई.)

मानव-जीवन के चार आश्रम

१-ब्रह्मचर्य आश्रम में ऐसे ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणी बनो की अमृत-रूपी निधि को अपने से दूर न जाने दो, उसकी रक्षा करो।

२. गृहस्थाश्रम में अपनी इच्छा के अनुकूल एक सन्तान उत्पन्न करो। गृहस्थ-धर्म का वही अधिकारी है जो भजन करने वाला हो, परोपकार करने वाला हो, देवताओं का यज्ञ करने वाला हो, परमात्मा का चिन्तन करने वाला हो। पति-पत्नी परस्पर आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में प्रश्न करे, पुत्री या पुत्र उत्पन्न करते समय उन्हें यह विचार करना चाहिये कि किस नक्षत्र में किस बालक को जन्म देना चाहिये। उन्हें इन सब विद्याओं से पारंगत होना चाहिये। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु के पास उन्हें सब विद्याएं ग्रहण करनी चाहियें। जैसे विज्ञान, आत्मा का विज्ञान, पृथ्वी के गर्भ का विज्ञान, अन्तरिक्ष का विज्ञान, मन का विज्ञान, प्राण का विज्ञान

आदि। गृहस्थ में इन विद्याओं का अनुभव किया जाता है। जब वे अनुभव में आ जाती हैं तो उनके अनुकूल कर्म किया करते हैं।

३. वानप्रस्थ आश्रम : प्राचीन काल में वानप्रस्थी पति-पत्नी अपने ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम तक के प्राप्त अनुभवों से ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों को शिक्षा देकर स्वयं संन्यास ले लिया करते थे।

४. संन्यास आश्रम : संन्यास में कोई कर्म नहीं होता क्योंकि उस समय तक उसकी सब तृष्णाएं तथा कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ की शिक्षा, उसके अनुभव की शिक्षा ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों को देकर उऋण हो गये, समाज के सब ऋणों से मुक्त हो गये। अब संन्यास में परमात्मा के शासन में जाने के लिये भगवा वस्त्र को धारण कर लिया। भगवे वस्त्र का महत्व यह है कि जिस प्रकार तेजस्वी अग्नि को कोई छू नहीं सकता, इसी प्रकार जो संन्यासी भगवा वस्त्र धारण कर लेता है, वह अग्नि-स्वरूप बन जाता है। अब उसे न तो काम, क्रोध, लोभ, मोह और न कोई विषय किसी समय में छू सकता है। संन्यास आश्रम में कामनाओं का उत्पन्न होना ही पाप माना जाता है। उसमें मद भी नहीं होना चाहिये। उसे योगाभ्यास तथा अपने विचारों को आत्मा में रमण करते रहना चाहिये। ऐसा संन्यासी संसार के कल्याण के लिये जहाँ भी जाता है वहीं भूमि पवित्र हो जाती है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

ब्रह्मचर्याश्रम

जिस समय बालक अपने माता-पिता के गृह को त्यागकर गुरु के कुल में जाता है तो वह यज्ञोपवीत के पश्चात् तीन दिन और तीन

रात तक आचार्य के नियन्त्रण में रहता है। आचार्य उस पर मन्थन करके निदान करते हैं कि वह बालक कौन से वर्ण का हो सकता है। उसके अन्तःकरण को जानकर यदि वह आयुर्वेद में, वेद-पाठ में और महान् विचारों में पारंगत पाया जाये तो ब्राह्मण कुल में अर्पण कर देते हैं। यदि रक्षा करने में धनुर्वेद शिक्षा के लिये प्रचण्ड होता है तो उसको क्षत्रिय कुल में प्रविष्ट किया जाता है। यदि वह व्यापार-कार्य में कुशल हो तो उसको वैश्य कुल में अर्पण किया जाता है। जो न व्यापार करता है, न रक्षा कर सकता है और न वेदपाठी बन सकता है, वह शूद्र है। जिस विद्या को गुरु ने शिष्य बनकर पान किया हो वह गुरु बनकर अपने शिष्य के लिये वमन कर देता है। शिष्य उसको पान करके महान् बन जाते हैं। (चौथा पुष्प, २२-४-६४ ई.)

जब ब्रह्मचारी आचार्य-कुल में जाता है तो आचार्य ब्रह्मचारी से गार्हपत्य अग्नि की पूजा कराता है। इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य ब्रह्मचारी से कहता है कि हे ब्रह्मचारी ! तेरे अन्तःकरण में जो नाना करोड़ों जन्मों के संस्कार हैं, उन संस्कारों को तू मेरे चरणों में विराजमान होकर जागरूक कर। अब ब्रह्मचारी गार्हपत्य अग्नि की पूजा करता हुआ संस्कारों को उद्बुध करना प्रारम्भ कर देता है। आचार्य करता है कि ब्रह्मचारी ! तुम गऊ की रक्षा करो। गऊ नाम बुद्धि का है। उसकी सेवा उसका सदुपयोग है। सदुपयोग में लाने के पश्चात् जीवन को अग्रणी बनाना है। ब्रह्मचारी चरणों में ओत-प्रोत होकर प्राणतत्व और मनतत्व को जानने के लिये इतना तन्मय हो जाता है कि वह संसार की कोई वार्ता स्मरण नहीं करता। वह संसार

के विषैले संस्कारों को अपने तक नहीं आने देता। वह ब्रह्मचर्य की गति प्राण के द्वारा ऊर्ध्व बनाता है और उसे ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाता है। मन और प्राण दोनों का समावेश करता है, यज्ञ करता है और चाहता है कि मेरा कोई शत्रु न रहे। वह अग्न्याधान करता हुआ बाह्य जगत् और आन्तरिक जगत् का भी अनुसन्धान करता है। इस प्रकार वह दोनों प्रकार के यज्ञ करता है। गार्हपत्य अग्नि की पूजा करने के पश्चात् बाह्य और आन्तरिक जगत् दोनों को एकता में लाने का प्रयास करता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, ३-३-७६ ई.)

जब मानव रेचक, कुम्भक आदि प्राणायाम करता है तो ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति हो जाती है। ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति होने पर मानव की भी ऊर्ध्वगति हो जाती है। ऊर्ध्वगति में प्रभु का वास होता है। जब मानव की प्रवृत्तियों का सम्बन्ध ब्रह्म से तल्लीन हो जाता है तो वायुमंडल को शुद्ध और पवित्र बनाता चला जाता है क्योंकि उसके विचार शुद्ध बन गये। ब्रह्मचर्य से मानव के विचार सुन्दर बनते हैं तथा मानव को एक महान् बल की प्राप्ति होती है। जो ब्रह्म का चिन्तन और मनन करता है। उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प, १-८-६८ ई.)

ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं आदित्य तथा परिजन्य। आदित्य ब्रह्मचारियों में आदित्यत्व होता है। वे भोगों के विशेषण में, तृष्णा तथा विडम्बना में नहीं जाते, वेद का आदेश पालन करते हैं, परमात्मा के ज्ञान-विज्ञान को जानने वाले, ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले महान् तपस्वी कहलाते हैं। परिजन्य वे हैं जो गृह-स्थलों में रहते हुए भी

ब्रह्मचारी कहलाते हैं। वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके एक या दो सन्तान उत्पन्न करने के पश्चात् यज्ञ-वेदी पर विराजमान होकर प्रतिज्ञा करते हैं कि सन्तानोत्पत्ति की हमारी कामना पूरी हो चुकी है, अब हमें परमात्मा के ज्ञान-विज्ञान में लगना है। इसके पश्चात् पति-पत्नी दोनों वानप्रस्थ में पहुँच जाते हैं। उसके पश्चात् संन्यास धारण कर लेते हैं। ये हमारे ऋषियों के द्वारा चार विधान बनाए हुए हैं। (पांचवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

आचार्य कुल में

जिस प्रकार माता के गर्भ में बालक के शरीर का पालन-पोषण होता है, उसी प्रकार आचार्य के गर्भ में बालक का जीवन बनता है। ऊँचे विचारों वाला सदाचारी व ब्रह्मचारी आचार्य शिष्य से कहता है। कि हे बालक ! तेरी माता और पिता मैं ही हूँ। तू अपने अवगुणों तथा चंचलता को मुझे दे। मैं तुझे ज्ञान का प्रकाश धारण कराऊँगा। (आठवाँ पुष्प, १३-११-६३ ई.)

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

गुरु के पास शिष्य तीन समिधाएँ लेकर जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो तीन प्रकार के पाप, मन-वचन-कर्म से होते हैं, गुरु-ज्ञान रूपी अग्नि में उन्हें दग्ध कर दें। (ग्यारहवाँ पुष्प, २०-१०-६८ ई.)

जब गुरु शिष्य की भावनाओं में विवाद नहीं रहता, उस समय गुरुवाद पवित्र बन जाता है। (बीसवाँ पुष्प, पृष्ठ-१०० कथा)

गुरु और शिष्य दोनों को तपस्वी बनना चाहिये। पहले गुरु तपता

है, उत्तम बनकर ब्रह्मचारी को तपाता है। उस शिक्षा-संस्कृति को अपनाता है जिसमें ऋषित्व हो तथा जिसमें विडम्बना न होकर विवेक हो और अशुद्धवाद न हो। जब गुरु और शिष्य तपे हुए होते हैं तो उनमें प्रीति और स्नेह होता है, अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं तो शिक्षालयों में महत्ता और चरित्र की प्रक्रिया रहती है, द्वेष नहीं रहता, सदैव आत्मा वाला जो ऋत है उसका ओत-प्रोत होता रहता है। (बारहवाँ पुष्प, ८-४-६१ ई.)

जब गुरु-शिष्य परमात्मा को मध्य में रखकर कर्त्तव्य करते हैं तो शिक्षार्थी की बुद्धि तीव्र हो जाती है तथा गुरु के हृदय में विशालता आती चली जाती है। इसके विपरीत होने पर जब दोनों में स्वार्थवाद आ जाता है तो न गुरु ही तपता है और न शिष्य ही ऊँचा बनता है। आचार्य का तप यह है कि वह विद्या से तपायमान होकर ज्ञानमयी ज्योति को ग्रहण कर लेता है तो उसका तप महान् बन जाता है। ब्रह्मचारी वह होता है जो ब्रह्म-विद्या में चरता है, ब्रह्मचर्यत्व उसके समीप होता है तो उसका जीवन महत्ता में तपा हुआ होता है। जब वह प्रथम बार गुरु के पास जाता है तो गुरु कहता है कि तू अपनी इन्द्रियों को तपा। इन्द्रियों को ज्ञान और विवेक से तपाना है और उसमें विडम्बना नहीं होनी चाहिये। गुरु तभी ब्रह्मचारी को तपा सकता है जब वह स्वयं अपने जीवन में, विचारों में तपा हो, ब्रह्म-ज्ञान में, सांसारिक-व्यापार में, राष्ट्र-विधान में तपा हो। संसार में ज्ञान और विवेक, पोथियों में नहीं, मानव के विचारों में तथा प्रतिभा में रहता है। अतः गुरु को अपनी प्रतिभा को ऊँचा बनाना चाहिये तथा महत्ता

की ज्योति को ऊँचा बनाना चाहिये। (बारहवाँ पुष्प, ८-४-६१ ई.)

उदाहरण.राम ने अपने गुरु वशिष्ठ के आदेशों का पालन किया। श्रीकृष्ण ने अपने गुरु शृंगी ऋषि के उपदेशों का पालन किया तथा अर्जुन ने अपने गुरु कृष्ण के आदेशों का पालन किया। गुरु भी संसार में वही होता है जो सदाचारी बन करके, अपने शिष्यों को सदाचारी बनने का उपदेश देता है। (चौथा पुष्प, १७-४-६४ ई.)

गुरुओं की आचार-संहिता

विद्यालयों के लिये गुरुजनों का चुनाव बुद्धिमानों के द्वारा इस प्रकार किया जाना चाहिये कि उसका मनोविज्ञान कितना है ? मनोविज्ञान और आयुर्वेद को जाने बिना उसे ब्रह्मचारियों के गुरु बनने का अधिकार नहीं है। इसका कारण यह है कि मानव के मस्तिष्क की जानकारी आयुर्वेदाचार्य को होती है क्योंकि आयुर्वेद में वह विद्या है। इस बात को वह आचार्य जानता है कि ब्रह्मचारी के मस्तिष्क का निर्माण किस प्रकार का है तथा उसकी प्रवृत्तियाँ कैसी हैं ? इसलिये यह कहा जाता है कि ब्रह्मचारी को तीन रात्रि और तीन दिन तक अपने गर्भ में धारण करना चाहिये। गुरु का जो कुल है वही आचार्य का गर्भाशय है। ऋषियों ने कहा है कि विद्यालयों में ऊँचा ब्राह्मण हो, आचार्य सुन्दर हो। जब गुरु ऊँचा होगा तो राष्ट्र और समाज का कल्याण हो सकता है। (सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

मस्तिष्क का अध्ययन करना गुरु के लिये बहुत अनिवार्य है। जो शिष्य के मस्तिष्क का अध्ययन नहीं कर सकता उसको शिष्य बनाने का अधिकार नहीं हो सकता। आयुर्वेद में मस्तिष्क की जानकारी

होती है। मस्तिष्क जिस रुचि का होता है उसके अनुसार जब शिष्य बन जाता है तो गुरु का नाम ऊँचा होता है। जब मस्तिष्क की रुचि के अनुसार शिष्य नहीं बनाया जाता तो गुरु का तप भी अतप में परिणत हो जाता है, क्योंकि शिष्य के ऊँचा न बनने के कारण संसार में उसकी अपकीर्ति होती है, उससे रूढ़ियाँ बना करती हैं तथा शिष्य स्वयं रूढ़िवादी बन जाते हैं। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

गुरु अपने शिष्य को वह ज्ञान देता है जिससे उसने अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध किया था। ब्रह्मचारी उन वृत्तियों का निरोध करने का प्रयत्न करते हैं, निरोध करते हुए ब्रह्मचारी बनते हैं, बलिष्ठ बनते हैं, राष्ट्र के संरक्षक बनते हैं और उन्हीं से राष्ट्र ऊँचा होता है। (सातवाँ पुष्प, ३०-९-६४ ई.)

छात्रबल एक यज्ञ है। यह तभी पवित्र बनता है जब आचार्य के मुख से यज्ञ होता है। वह विचारता है कि वाणी का उद्गार कहाँ से है ? शब्दों की रचना कहाँ से होती है ? किस प्रकार की नाड़ी से होती है ? इस प्रकार की वह शिक्षा देता है। छात्रबल से राष्ट्र के राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि राजा भी छात्रों में से ही आते हैं, वहीं से उनकी प्रवृत्तियों का निर्माण होता है।

जब आचार्य कामातुर होकर शिक्षा देता है तो ब्रह्मचारी की बुद्धि भी इसी प्रकार की बन जाती है। जब आचार्य के मस्तिष्क में पक्षपात, तमोगुण, घृणा, क्रोध, आलोचना होगी तो ऐसे आचार्य को शिक्षालय में स्थान नहीं देना चाहिये। जहाँ इस प्रकार के स्वार्थी आचार्य हों, वह शिक्षालय मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। छात्र ऐसे होने

चाहिये जो राष्ट्र के लिये, स्वार्थ के लिये नहीं, अपने जीवन का दान करने वाले हों। जब छात्र धर्म के विषय में विचार-विनिमय करता है तो यह निश्चित है कि वह राष्ट्र पवित्रवाद को प्राप्त हो जाता है। (बीसवाँ पुष्प, पृष्ठ ८०)

जब शिक्षालयों में युवा शिक्षक हों, वे ब्रह्मचारियों को शिक्षा देते हों और गृहणियों में मन लगा हुआ तो उनके हृदय तथा मस्तिष्क में जो सूक्ष्मता तथा ममता होती है उसी के अनुसार वे ब्रह्मचारियों को प्रभावित करते हैं। उनके मन के परमाणु ही शिक्षालय में फैलते हैं। जब त्यागी तथा वानप्रस्थी शिक्षालयों में शिक्षा देता है और वह अपने जीवन के अनुभवों को बतलाता है तो ब्रह्मचारी पवित्र हो जाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, १३-२-७१ ई.)

शिष्य के लिये आचार संहिता

जब बालक माता-पिता के कुल से गुरु के कुल में जाता है तो उसका कर्त्तव्य है कि वह गुरु के चरणों को छूने वाला हो। तब गुरु उसे आशीर्वाद दे कि "पुत्र ! आयुष्मान भव।" जब वह माता के पास जाये तो तब भी चरण स्पर्श करे। माता उसे आशीर्वाद दे "पुत्र ! तुम आयुष्मान हो।" माता के इस आशीर्वाद को पाकर बालक के हृदय में एक ओज और तेज उत्पन्न होता है। उसमें सदाचार और शिष्टाचार की भावनाएँ अंकित होती हैं और वह बालक विचित्र बनता चला जाता है। उसका जीवन-क्रम यह चलना चाहिये कि.

ब्रह्मचर्याश्रम में बालक गुरु के पास रहकर ब्रह्म में विचरण करता है, गुरु अधीन रहकर शिल्प-विद्या, धनुर्विद्या आदि का पान किया

करता है। वही गुरु सफल कहलाता है जो शिष्य में सदाचार की भावनाएँ अंकित करने वाला हो। शिष्य वह सफल होता है जो गुरु के चरणों को छूने वाला हो और उसके आदेशों पर चलने वाला हो। उस समाज का कल्याण होता है जिसमें यह भावनाएँ हर समय रहती हैं। (चतुर्थ पुष्प, २२-४-६४ ई.)

जब शिष्य मूर्ख बनकर गुरु के पास जाता है, गुरु से प्रश्न करता है, मन्थन करता है तो उसकी बुद्धि विकसित हो जाती है। परन्तु यदि शिष्य गुरु से पूर्व ही महान् बन जाये तो गुरु से क्या ले ले ? (पांचवाँ पुष्प, २१-१०-६४ ई.)

महर्षि धन्वन्तरि जी, महर्षि भट्टाचार्य, अश्विनी कुमारों और दधीचि की जब आयुर्वेद पर लेखनीबद्ध होती रहती थी तो प्रायः वह आयुर्वेद पर भक्ष्य-अभक्ष्य युवक समाज के समीप आता। आहार-व्यवहार पर बल देना मानव के लिये अति अनिवार्य है। मानव के आहार के लिये अन्न का पान, गौ-घृत दुग्ध इत्यादि का पान करना ही मानवता मानी जाती है। मानव को अपने आहार को पान करना चाहिये। (चौवीसवाँ पुष्प, १८-२-७२ ई.)

ब्रह्मचारियों तथा ब्रह्मचारिणियों को कम से कम २१ प्राणायाम करने चाहियें। इससे उनके मन की गति चंचल नहीं होती। जब मन की चंचलता हो तो वह प्राणायाम करने से समाप्त हो जाती है। जो मन को शान्ति में लाने का कार्य है उसी को प्राणायाम कहते हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प, १-८-६२ ई.)

शिक्षा देने में अधिकार अनधिकार का विचार

संसार में सबसे प्रथम यह आवश्यकता होती है कि अधिकार-अनधिकार के ऊपर विचार-विनिमय होना चाहिये। ऐसा होने पर राष्ट्र और समाज दोनों ऊँचे होते हैं। उदाहरण :

श्रृंगी जी महाराज सुमन के यहाँ शिक्षक थे। राजा सुमन के तीन पुत्र थे। जो ज्येष्ठ पुत्र था उसके राष्ट्रीय-क्षत्रिय विचार नहीं थे। वह पाण्डित्य विचारों वाला था। दूसरा पुत्र अन्य विचारों का था। सबसे सूक्ष्म जो बालक था वह राष्ट्रीय विचारों में, धनुर्विद्या में पारंगत था। राजा सुमन से कहा कि सुमनम् ! यह तीनों तुम्हारे पुत्र भिन्न-भिन्न विचारों के हैं। तुम क्या चाहते हो ? कौन सी विद्या दिलाना चाहते हो ? उन्होंने कहा, प्रभु ! मैं तो इन्हें धनुर्वेद की विद्या में पारंगत कराना चाहता हूँ। श्रृंगी जी ने कहा तो गुरु किसी और को चुन लिया जाये क्योंकि मैं इनको यह शिक्षा दिलाने में असमर्थ हूँ। ये तीन प्रकार की प्रकृति के हैं। इनकी प्रवृत्ति जिस प्रकार की है, जो विद्या ये चाहते हैं, वही विद्या दिलाना चाहते हो तो मैं इनका आचार्य बनने को तत्पर हूँ। जब यह विचार आया तो सुमनम् ने कहा प्रभु ! जैसी आपकी इच्छा हो। तीनों पुत्रों को सुयोग्य बना दिया गया।

२- जिस समय महाराजा दिलीप राजा रघु को वशिष्ठ आश्रम में प्रविष्ट कराने लगे तो उनका यह विचार था कि मैं अपने पुत्र को पंडित बनाना चाहता हूँ। उस समय वशिष्ठ ने कहा कि हे भगवन् ! हे दिलीप जी ! इसका मस्तिष्क नहीं कहता कि यह पण्डित बन सके। इनका मस्तिष्क यही कहता है कि ये क्षत्रिय बनेंगे तथा राष्ट्रीय विचारों में रजोगुणी विचारों में रहेंगे। इस प्रकार विचार इनका आज्ञा

दे रहा है, इनका मस्तिष्क पुकार रहा है। इन वाक्यों को तुम क्या उच्चारण कर रहे हो ? इस पर दिलीप जी ने कहा, प्रभु ! मैं आपके विचारों का उल्लंघन नहीं करना चाहता, जैसा आपका विचार हो।

वाक्य उच्चारण करने का अभिप्राय यह है कि गुरुजन इतने ऊँचे होने चाहियें कि ब्रह्मचारी के मस्तिष्क को, उसकी प्रवृत्तियों की प्रकृति को जानकर उसको उसी प्रकार का शिक्षण देना चाहिये। जैसे वैद्यराज, आयुर्वेद का पण्डित रुग्ण व्यक्ति को उसी प्रकार की औषधि देता है जैसा उसका विचार है, जैसी उसकी प्रकृति है यदि उसकी पित्त-प्रकृति है और वायु-प्रकृति की औषधि प्रदान कर दी है तो उसका शरीर और रुग्ण हो जायेगा। उसे तो पित्त-प्रकृति को शान्त कराने की औषधि देनी है। अधिकार और अनधिकार की चर्चा वहाँ आती है जब अधिकारी को शिक्षा प्रदान नहीं की जाती है। (बाईसवाँ पुष्प, २-८-७० ई.)

शिक्षा के विषय

प्रत्येक विद्यालय में उपनिषदों का पवित्र ज्ञान होना चाहिये, वैदिक साहित्य का ज्ञान होना चाहिये। ऋषि-मुनियों का यह विचार होना चाहिये जिससे राष्ट्र और समाज ऊँचा बनता है। समाज में महत्ता होनी चाहिये, वैदिक विचार होना चाहिये और वेद की पवित्र विद्या हेनी चाहिये। जिस वेद की विद्या को अपनाने वाला प्राणी इस समाज में गौरव के साथ उच्चारण करता है कि मैं ईश्वरवादी हूँ तथा माता की पूजा करता हूँ।

ब्रह्म-विद्या तथा धनुर्विद्या के अतिरिक्त ब्रह्मचारियों को तीन प्रकार

की विद्याएं और दी जानी चाहियें; वैश्यों को वाणिज्य-विद्या दी जानी चाहिये तथा गृहस्थाश्रम में जाकर किस प्रकार विचारना चाहिये ? जब विचारों के साथ-साथ शिक्षालयों में शिक्षा दी जाती है तो उस काल में यह राष्ट्र और समाज सदैव ऊँचा बनता रहता है। ब्रह्मचारियों को शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिये कि गृहस्थाश्रम में रहन-सहन किस प्रकार का हो, बालक का गर्भ में किस प्रकार निर्माण होता है ? किस माह में किस वस्तु का निर्माण होता है, इस प्रकार के आयुर्वेद की विद्या दी जानी चाहिये। (इक्कीसवाँ पुष्प)

आधुनिक शिक्षा-पद्धति पर एक विहंगम दृष्टि

राष्ट्र में शिक्षा-विभाग में नाना त्रुटियाँ हैं। कन्याओं के विद्यालय पृथक् होने चाहियें, यदि एकता रहेगी तो नैतिकता से समाज वंचित होता चला जायेगा, यदि विद्यालयों में उपनिषद् और वैदिक-शिक्षा नहीं होगी, ब्रह्मचर्य नहीं बनाया जायेगा, आचार्य सुन्दर नहीं होंगे, वे विचारक नहीं होंगे तो शिक्षालय तथा राष्ट्र ऊँचा नहीं बनेगा। (उन्नीसवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

आज के समाज में जो कटुता प्रतीत हो रही है तथा राष्ट्र का पतन होकर अकर्मण्यवाद को प्राप्त हो रहा है, संसार की धूर्त्तता तथा पामर दृष्टि बनती चली जा रही है। इसका मूल कारण यह है कि ब्रह्मचारियों तथा ब्रह्मचारिणियों को पृथक्-पृथक् नहीं रखा जाता। इससे दुराचार की उत्पत्ति होती है तथा ब्रह्मचर्य नष्ट होने पर ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। आज के समाज में चरित्र निर्माणशालाएँ तो बनाई गईं हैं किन्तु उनमें होता कुछ और ही है। इससे समाज

अधोगति को जा रहा है। इसीलिये विद्यालय ऊँचे और पवित्र होने चाहियें जिससे समाज में कुरीतियाँ न रहकर सुन्दरता आ जाये। (इक्कीसवाँ पुष्प)

छात्रबल की विकृत प्रवृत्तियों का मुख्य कारण यह है कि जो शिक्षक शिक्षा देते हैं उन्हें अपने जीवन का अनुभव नहीं होता। जब तक अनुभव होता है तब तक उनको अवकाश प्राप्त करा दिया जाता है और वह निठल्ला हो जाता है। यह आदर्श तथा चरित्र निर्माण की नींव नहीं कही जा सकती, यह तो स्वार्थवाद की नींव है। जो आज ब्रह्मचारी व विद्यार्थी है वही कल का शिक्षक बन जाता है, जीवन का अनुभव उसको नहीं है। वास्तव में वह आध्यात्मिकता तथा वैज्ञानिकता से शिक्षा देने का अधिकारी नहीं है।

यहाँ मनु-परम्परा से यह चला आ रहा है कि ब्रह्मचारी पहले गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होते हैं, उसके बाद वानप्रस्थ में वह शिक्षा देने का अधिकारी बनता है क्योंकि उसके जीवन के जो अनुभव होते हैं वह शिक्षार्थी को वैज्ञानिक व महान् बना सकते हैं। जब एक वानप्रस्थी त्याग और तपस्या में परिणत होता हुआ ब्रह्मचारी को शिक्षा देता है, अपने विचार देता है कि हे ब्रह्मचारी ! मेरे ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के ये अनुभव हैं, इनको स्वीकार करो। वह अपने अनुभवों तथा महापुरुषों के चरित्र का चित्रण करता है। ब्रह्मचारी उनका अनुकरण करता है तो ब्रह्मचारी के हृदय में उससे शुद्धता आ जाती है वह महान् बनने लगता है, क्योंकि महत्ता तथा राष्ट्रीयता का, आचार्य का अपना अनुभव होता है, उसी को वह ब्रह्मचारी को देता

है। इसी प्रकार जब माताएं गृहस्थाश्रम को त्यागकर ब्रह्मचारिणियों को शिक्षा देती हैं कि हे ब्रह्मचारिणी ! तू महान् तथा पवित्र बन। मेरे ये अनुभव हैं इनको स्वीकार कर। जब इस प्रकार की शिक्षा नाना प्रकार की पोथियों, पुस्तकों द्वारा दी जाती है तो राष्ट्र और समाज दोनों उन्नत हो जाते हैं।

आज की प्रचलित शिक्षा-पद्धति में इसके विपरीत हो रहा है। शिक्षक भी शिक्षार्थी की आयु का है। वह केवल किसी महापुरुष द्वारा लेखनीबद्ध की गयी पुस्तक के आधार पर शिक्षा दे देता है जिसके सम्बन्ध में उसका अपना कोई अनुभव नहीं होता। इस प्रकार की शिक्षा से छात्र का आत्मबल कभी ऊँचा नहीं बनेगा तथा उससे संसार में राष्ट्रवाद कदापि नहीं आयेगा। जब पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान के साथ-साथ हमारे अपने अनुभवों का योग होता है, वे सैद्धान्तिक रूपों को प्राप्त करते हैं तो उस समय शिक्षार्थी अपने जीवन को ऊँचा ले जाता है।   (चौदहवाँ पुष्प, १-८-७० ई.)

गुरु का महत्व

राष्ट्र का प्रारम्भ मनोवैज्ञानिक गुरुओं से होता है वह न राजा से होता है न प्रजा से। अतः राजा के राज्य में गुरु को मनोवैज्ञानिक होना चाहिये। मनोवैज्ञानिक गुरु ही राष्ट्र का दिग्दर्शन कराते हैं। राष्ट्र का प्रादुर्भाव गुरुजनों की प्रवृत्तियों से तथा चरित्र से होता है। जब गुरुजनों का चरित्र ऊँचा होता है तो ब्रह्मचारी शिष्यगण भी उसके चरित्र की महिमा को जानकर प्रवृत्त होते हैं। उनकी प्रक्रिया सुन्दर बनती हैं तथा वे मानव-समाज को ऊँचा बनाने में प्रवृत्त होते हैं। एक

गुरु के जितने शिष्य होते हैं, उनके अन्तःकरण, प्रवृत्तियाँ तथा मस्तिष्क भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु उनके मस्तिष्क की तरंगों को जानना गुरु का कर्त्तव्य होता है। गुरु प्रारम्भ में अपने मन की प्रवृत्तियों तथा तरंगों में अपने शिष्य को धारण करके तीन दिवस तक यह जानकारी करता है कि बालक किस प्रवृत्ति का है। तदनुसार ही उनकी शिक्षा आरम्भ कर देते हैं। मनोविज्ञान से यह भी जान लेना चाहिये कि वह बालक युवा होकर क्या करेगा? (ग्यारहवाँ पुष्प, ९-११-८६ ई.)

दीक्षा

मानव को दीक्षा लेनी चाहिये। जब कोई मानव दीक्षा लेता है, दीक्षान्त अपने जीवन को बना लेता है तो उसमें एक महत्ता का दर्शन होता है, उसकी इन्द्रियाँ तथा मनो-भाव नग्न नहीं रहते। दीक्षा क्या है?

एक ब्रह्मचारी अपने गुरु के कुल से जब पृथक् होता है तो दीक्षा लेता है। उससे पूर्व उसको दीक्षा प्राप्त नहीं होती। जब वह दीक्षा अपना करके संसार-क्षेत्र में जाता है तो उसकी विचारधारा में एक महत्ता का दिग्दर्शन होने लगता है क्योंकि वह अपने को यह स्वीकार करने लगता है कि मैंने दीक्षा स्वीकार कर ली है, अब मैं दीक्षित बन गया हूँ। दीक्षा को अपनाने के पश्चात् ब्रह्मचारी में अपने को आचार्य उच्चारण करने का साहस हो जाता है। यदि उसको दीक्षा प्राप्त नहीं हुई तो आचार्य नहीं बन पाता।

इसी प्रकार पति-पत्नी जब गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होते हैं तो आचार्य से वह दोनों दीक्षा लेते हैं। दीक्षा के पश्चात् वह पति और

पत्नी कहलाते हैं। अपना वाक्य अपने-अपने समीप उच्चारण करने में उन्हें गौरव होता है जब तक दीक्षा नहीं होती तब तक मानव विकृत होता है, उसका कोई मूल्य नहीं होता, उसमें कोई महत्ता का दिग्दर्शन नहीं होता। दीक्षा के पश्चात् जब वह अपनी धाराओं को ले करके संसार-क्षेत्र में आता है तो वह एक महत्ता की वेदी पर अपने जीवन को व्यतीत करने लगता है।

इसी प्रकार वानप्रस्थ है उसमें भी दीक्षा ली जाती है। उसके पश्चात् संन्यास आश्रम है। चारों आश्रमों में ही दीक्षा ली जाती है। दीक्षा कहते हैं ज्ञान को, दीक्षा कहते हैं संकल्प को। वह ज्ञानयुक्त होकर संकल्पवादी बनता है, वही तो दीक्षित कहलाता है। संकल्प ही मानव के जीवन को सुन्दर बनाता है यह जगत् एक प्रकार का संकल्पमात्र ही माना गया है। माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य सभी संकल्प के आधार पर हैं। अतः हमें संकल्पवादी बनना चाहिये। दीक्षा का अभिप्राय है संकल्प। संकल्प में ही सर्वत्र जगत् माना गया है। सृष्टि के आरम्भ में प्रभु ने सृष्टि का संकल्प बनाया। इस सृष्टि में सर्वत्र एक प्रकार का संकल्प ही दृष्टिपात आ रहा हैं एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलान करता है। एक दूसरा परमाणु एक-दूसरे में अपनी क्रीड़ा प्रारम्भ कर देता है। इन परमाणुओं का स्वभाव भी भिन्न-भिन्न माना गया है। तो यह क्या है ? यह सर्वत्र प्रभु का एक संकल्प ही है।

दीक्षा का अधिकार होता है मानव को। जब तक अधिकारी नहीं होता तब तक मानव को दीक्षा प्राप्त नहीं होती। अतः हमें इसके योग्य

बनना चाहिये। जब हम इसके योग्य हो जाते हैं तो हमारा अन्तरात्मा हमें दीक्षा देने लगता है। हमारी आत्मा का बाह्य-जगत् हमें दीक्षित उच्चारण करने लगता है।

दीक्षा का अधिकार, संन्यास का अधिकार उसी मानव में होता है जो मानव अपनी इन्द्रियों को वस्त्र धारण करा देता है। इन्द्रियों का वस्त्र क्या ? धागे का वस्त्र इन्द्रियों का वस्त्र नहीं होता।

जब इन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कर्त्तव्य से कर्त्तव्य रूपी वस्त्र को धारण कर लेती हैं तो उस मानव की इन्द्रियाँ नग्न नहीं रहतीं। वस्त्र रहते हुए भी मानव नग्न रहता है और वस्त्र न रहते हुए भी मानव नग्न नहीं रहता। जिस मानव के द्वार दीक्षा आ जाती है, दीक्षा का अभिप्राय है.ज्ञान-विज्ञान, ज्ञान-विज्ञान का अभिप्राय है जो व्यापक रूपों से अपने जीवन को जान लेता है तथा व्यापक रूपों से इस जगत् को जान लेता है वह अपनी इन्द्रियों को ढांप लेता है, वस्त्रों को धारण करा देता है एक मानव की चंचलता नहीं जाती तो जानो कि उसका मन नग्न रहता है। एक मानव अपनी सर्वस्व इन्द्रियों को वस्त्रों से आवृत्त करता रहता है, परन्तु इन्द्रियों का जो विषय है वह उसमें चंचल हो रहा है तो जानो कि उसकी इन्द्रियाँ वस्त्र होते हुए भी नग्न ही रहती हैं।

वह मानव संसार में नग्न ही रहता है, जो यह विचार लेता है कि यह पृथ्वी ही मेरा आसन है और दिशाएं ही मेरा आभूषण हैं। दिशाएं आभूषण होने का अभिप्राय यह है कि इस जगत् को दिशाएं अपने में धारण करती हैं। शब्द का वस्त्र दिशाएं हैं क्योंकि शब्द उच्चारण होते

ही मुखारबिन्द से शब्द बनते ही यह दिशाओं में जाता है, वहाँ जाकर उसका स्वरूप बनता है, फिर स्वरूप बनकर वह द्युलोक को प्राप्त हो जाता है। अतः यदि शब्द में कटुता है या उसमें कोई सार नहीं है, मिथ्यावादी है तो वह शब्द नग्न कहलाता है। जिस शब्द में क्रिया होती है, ज्ञान होता है, विज्ञान होता है, जो शब्द अशुद्ध परमाणुओं को निगल जाता है, वही शब्द ज्ञानरूपी आभूषणों से युक्त रहने वाला है। इसी प्रकार नेत्रों की ज्योति है। नेत्रों में कुदृष्टि जब नहीं रहती, सुदृष्टि आ जाती है तो वह जो सुदृष्टि वाला वस्त्र है वही उस मानव की चक्षु-इन्द्रियों को आभूषण से युक्त बनाने वाला है।

उदाहरण

(१) एक समय चाक्राणि गार्गी से स्वयम्भुक ऋषि ने कहा कि हे देवी ! संसार में कौन मानव नग्न रहता है ? उस समय चाक्राणि ने कहा कि वह मानव नग्न रहता है जिसका मन सदैव चंचल रहता है, जो मानव अपनेपन में अधूरा रहता है, संकल्पवादी नहीं होता, जो मानव दीक्षित नहीं होता वह संसार में नग्न रहने वाला होता है।

(२) किसी समय शृंगी जी से पूज्यपाद गुरुदेव ने कहा था कि तुम्हें पचास वर्ष तक वस्त्र धारण नहीं करना होगा। शृंगी जी ने का कि भगवन् ! क्या मैं संसार की दृष्टि में नग्न हो जाऊं या प्रभु की दृष्टि में ? गुरुदेव ने कहा कि संसार की दृष्टि में नग्न हो जाओ। जो मानव नाना प्रकार के धागों के वस्त्रों से नग्न रहता है वह संसार की दृष्टि में नग्न दृष्टिपात आता है। किन्तु जो ज्ञान-रूपी आभूषण को अपनाता है वह प्रभु की दृष्टि में नग्न नहीं रहता। प्रभु की दृष्टि में वह

मानव नग्न होता है जो प्रभु को सर्वत्र न विचार करके निर्लज्ज हो जाता है। जो मानव प्रभु को कण-कण में दृष्टिपात कर लेता है, कण-कण में प्रभु की निष्ठा हो जाती है, वह मानव इस संसार की दृष्टि में प्रायः नग्न प्रतीत होता हो, परन्तु वह प्रभु की दृष्टि में नग्न नहीं होता। प्रभु को न जानना संसार में नग्नवत् कहलाया गया है। मानव ऊपरी संसार की लज्जा को अपनाता हुआ और मनों में नाना प्रकार के चंचल भावों को अपनाता हुआ प्रभु की दृष्टि में नग्न होता है परन्तु संसार की दृष्टि में वह ढांपा हुआ होता है, वस्त्रों से युक्त होता है। अतः हममें ज्ञान और विवेक होना चाहिये। जब तक हममें ज्ञान और विवेक नहीं होगा, हमारा जीवन किसी भी काल में ऊँचा नहीं बनेगा। (तेईसवाँ पुष्प, ४-१०-७१ ई.)

गृहस्थाश्रम

प्रश्न : यदि यह सब संसार ब्रह्मचारी बन जाये तो आगे सृष्टि कैसे चलेगी ?

उत्तर.ब्रह्मचारी कई प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के ब्रह्मचारी वे भी होते हैं जो सन्तानोत्पत्ति भी कर सकते हैं। सतयुग में प्रायः मानव प्राणायाम करने वाला होता है। सन्तानोत्पत्ति भी नियमानुसार होती है। प्राणायाम करने वाले मानवों तथा माताओं को इतना ज्ञान हो जाता है कि वे नक्षत्रों तथा प्रकृति की गति की धाराओं को जानने लगते हैं। उसके पश्चात् गर्भ की स्थापना होकर जो पुत्र या पुत्री उत्पन्न होते हैं उसकी मृत्यु अपने माता-पिता के सामने नहीं होती। (ग्यारहवाँ पुष्प, १-८-६८ ई.)

उद्देश्य : .संसार में पति-पत्नी के संस्कार होने का यह उद्देश्य है कि अतिथि-सेवा करें, द्रव्य सम्पत्ति का सदुपयोग करें, वेद की विद्या के आधार से परिजन्य नाम के ब्रह्मचारी बनकर सन्तानोत्पत्ति करें। (चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

गृहस्थ के अधिकारी संसार में सब प्राणी नहीं होते, कुछ ही होते हैं जो उत्तम से उत्तम सन्तान को जन्म देते हैं। (बारहवाँ पुष्प, १६-४-६९ ई.)

जो माता-पिता शोधन करने वाले होते हैं, पवित्र अग्नि और वेदी बन करके पुत्र की स्थापना करते हैं उनको संसार में किसी प्रकार का शौक नहीं होता। सतयुग में इसी कारण माता-पिता से पूर्व पुत्र मृत्यु को प्राप्त नहीं होता था। (बारहवाँ पुष्प, १६-४-६९ ई.)

गृहस्थ में प्रवेश :.जब एक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है तो उसे व्यापक बनने की आवश्यकता है। उसके विचारों में व्यापकता आ करके उसके ऊपर कर्त्तव्यवाद निहित हो जाता है, कहीं आचार्यों के प्रति, कहीं माता-पिता के प्रति, कहीं नाना प्रकार के उद्देश्य उसके समीप आने लगते हैं। (नौवाँ पुष्प, १७-१०-६७ ई.)

गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने पर उसके पास पवित्र द्रव्य होना चाहिये गृहणी में सदाचार की भावनाएँ हों। जिस विद्या को गुरु से प्राप्त किया था उसका विचार करना, उसका अनुभव करना गृहस्थियों का कर्त्तव्य है। गृहस्थाश्रम एक स्वतन्त्र जीवन है। इसमें किसी का कोई प्रतिबन्ध नहीं, किसी की कोई अधीनता नहीं, स्वतन्त्र होकर

संसार में कार्य करता है। यह आश्रम ऐसा है जिसमें पति और पत्नी दोनों मिलकर आनन्द मनाते हैं और गृहस्थ को स्वर्ग बनाते हैं। अतिथियों की सेवा करना, ब्रह्मयज्ञ और ब्रह्म उपासना करना गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वालों का कर्त्तव्य है।

सुखी-गृहस्थ की रूपरेखा :.प्रत्येक मानव आनन्द व सुख चाहता है। वह तो त्याग और तपस्या होने के नाते प्रभु की प्रेरणा को नष्ट कर देता है और प्रकृति के बन्धन में और अपने स्वार्थ में आकर इसमें एक-दूसरे को नष्ट करने की भावनायें आ जाती हैं। त्याग का तात्पर्य ऐश्वर्य के त्याग से नहीं है। बिना नियम के गृहस्थाश्रम तथा ऐश्वर्य द्रव्य का त्याग उचित नहीं है। बल्कि ऋषि परम्परा के अनुसार अपने जीवन को सच्चरित्र बनाना चाहिये। (चौथा पुष्प, २२-४-६४ ई.)

गृहस्थल विचारकों का स्थल कहलाया गया है। यह भोग-विलास का स्थल नहीं है। पति-पत्नी के लिये वेद का आदेश है कि सूर्य और पृथ्वी की भान्ति परिक्रमा करते रहो। परन्तु पति-पत्नी की यह परिक्रमा विचारों की है। जब गृह-आश्रम में पति-पत्नी विचारों की परिक्रमा करते हैं, गृह के वातावरण को परमाणुवाद में परिवर्तित कर देते हैं तो उस गृह में जो भी पुरुष आता है वह उस गृह से कुछ लेकर जाता है। उस गृह में रहने वाली उसकी सन्तान की बुद्धि की ऊर्ध्वागति होती है। तब संसार में अशुद्धवाद नहीं रहता। (पच्चीसवाँ पुष्प, पृष्ठ ४९)

गृहस्थाश्रम में रहने वाले पति-पत्नी एक-दूसरे के विचारों को यदि नष्ट कर देते हैं तो उस समय वह गृहस्थ नर्क बन जाता है और जहाँ

एक-दूसरे के वाक्यों का स्वागत किया जाता है तो गृहस्थ स्वर्ग बन जाता है। (छठा पुष्प, १५-७-६४ ई.)

जिस राष्ट्र में, समाज में, गृह में स्त्रियों का पूजन होता है अथवा उनकी प्रतिष्ठा होती है वह गृह स्वर्ग के तुल्य है। संसार में पति का यदि कोई मित्र है तो वह पत्नी है। यदि पत्नी विदुषी हो तो और भी सौभाग्य। पति को पत्नी ही प्रेरणा देती है कि हे भगवन् ! यह कार्य हमारे हित का नहीं है, यह कदापि नहीं होना चाहिये (चौबीसवाँ पुष्प, ३-१२-७३ ई.)

जिस काल में माताओं के हृदय में ज्ञान और प्रकाश की अग्नि प्रदीप्त रहती है तो उनके हृदयों से सुगन्धि उत्पन्न होती है, उससे राष्ट्र और यह समस्त संसार ऊँचा बनता चला जाता है। जिस गृह में माता का हृदय में वेद की पवित्र भावनाएं प्रदीप्त रहती हैं, विवेक और चरित्र होता है, मानवता होती है वह गृह बड़ा सौभाग्यशाली कहलाता है। जिन गृहों में क्लेश की मात्रा अधिक रहती है, एक-दूसरों की निन्दा अधिक होती है वह गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वालों के लिये नर्क है। यदि मानव संसार को ऊँचा बनाना चाहता है तो वह अपनी धर्मपत्नी को उसका शिक्षक बनकर, उसे मानवता के आँगन में ले जाना होगा, उसे स्वयं को पतित होने से बचाना होगा। ऐसा क्रोध नहीं करना चाहिये जिससे हानि हो। वह अपने जीवन को ऊँचा बनाए। जब मानव में चरित्र की तरंगे होती है तो वहाँ सुगन्धि हुआ करती है। जब वेद का प्रकाश मानव के हृदयों तथा मस्तिष्क में प्रदीप्त रहता हो तो वह अन्धकार कभी छू भी न सकेगा जिससे

जीवन में सूक्ष्मता आती है। वह प्रकाश इस प्रकार का है कि वह जिस अंग को छूता है वही पवित्र हो जाता है। (नौवाँ पुष्प, २८-७-६७ ई.)

गृह-प्रवेश पर आशीर्वाद

भौतिकवाद में, सामान्य जीवन में गृह-पत्नी तथा स्वामी अपने गृहपथ्य नाम की अग्नि की पूजा नहीं करते तो वह गृह अशुद्ध परमाणुओं से भर जाते हैं। वहाँ महापुरुषों का आगमन और उनके विचार भी शुद्ध हो जाते हैं। गृह-निर्माण तथा गृह-प्रवेश होने चाहिए किन्तु उन गृहों में धर्म होना चाहिए। सुन्दर कार्यों के लिये प्रेरित होते रहे। सुन्दर योजनाएँ बनाते रहे, मानव जीवन के निर्माण के लिए विचारों को भी सुगठित बनाते रहें तो यह निश्चित है कि गृह में रहने वाले दीर्घायु होते हैं। जिस प्रकार पति-पत्नी सुन्दर गृह बनाकर उसमें वास करते हैं इसी प्रकार प्रभु से यह ब्रह्माण्ड रूपी गृह का निर्माण किया और उसके कण-कण में समाहित हो रहा है। गृह में प्रवेश करने वाले पति-पत्नी के हृदयों में यह भावना होनी चाहिये हमारा जो गृह है वह केवल धर्म-यज्ञ है। ऊँचे कार्य करने के लिये इस गृह का निर्माण किया है, उसमें प्रविष्ट हुये हैं। ऐसे यजमानों की कामनायें सदा सत्य और महान हो, उनकी आयु दीर्घ हो, वे संसार में अपना एक पथ दर्शाते चले जाए। जिससे उनकी महत्ता दार्शनिक होती चली जाये। गृह के कण-कण में धर्म और महत्ता होनी चाहिये। यह समाज और मानववाद गृहों से ऊँचा बनता है। यह मानववाद, समाज, राष्ट्रवाद विश्व के संस्कारों में निहित होता है। संस्कार ऊँचे होने

चाहिए, कल्पना ऊँची होनी चाहिए विलक्षण होनी चाहिए। जिससे मानववाद ऊँचा बनता चला जाये। इन्हीं गृहों में ऋषि वास करते हैं, मानव भी और दैत्य प्रकृति वाले भी। परन्तु जिस गृह में मानव वास करते हैं वे जो इच्छा करते हैं प्रभु वही प्रदान करता है। हमें गृह में ऐसी ही सुन्दर महत्ता को लानी चाहिये। (नौवाँ पुष्प, १-३-६८ ई.)

सन्तानोत्पत्ति :.पुत्र उत्पन्न करने से पूर्व माता-पिता को चाहिये कि वे शंख रेखा, प्रतिभा तथा ब्रह्मडण्डी नाम की औषधियों का मिलान करें। जिसे ''आघाम ब्रह्मे चित्रांगनी'' भी कहते हैं। इन औषधियों को दुग्ध के साथ पान करके एक वर्ष तक ब्रह्मचारी रहें। उसके पश्चात् पुत्र की स्थापना करें। (बाहरवाँ पुष्प, १६-४-६९ ई.)

जब माता-पिता गर्भ-स्थापना में ऋषियों द्वारा वर्णित नियमों के अनुसार पवित्रता से जाते हैं तो पुरुष अग्नि बनकर प्रदीप्त होता है। वह अग्नि का पुरुष जिस समय वेदी में प्रविष्ट होता है तो वेदी उसे भस्म कर देती है। भस्म करके उसके परमाणुओं को शुष्क बनाया जाता है। माता के गर्भाशय में उन्हीं परमाणुओं से सुगठितता आ जाती है तथा पवित्रता आ जाती है। माता को शीतल पदार्थ और औषधियों का सेवन कराना चाहिये। जिससे प्रदीप्त अग्नि का प्रभाव इतना न रहे कि उत्तेजित होकर नष्ट हो जाये। शीतल औषधियों में ब्रह्मडण्डी, शंखाहुली, आगुरुणी, चित्रखण्डा, चित्ररेखा आदि का पान कराना चाहये।

जब गर्भ तीन मास का हो जाये तो माता-पिता को संयम-नियम का संकल्प धारण करना चाहिये। उस समय पुरुष १-सेलखण्डा,

चित्रलता, ३-आभ्याणी ४-संकला, इन चार औषधियों को माता को पान करायें, क्योंकि ये बुद्धिवर्द्धक तथा वीर्यवर्द्धक हैं। माता के गर्भस्थल में सुन्दर बालक पनपने लगता है। पाँच मास का गर्भ होने के पश्चात् छठे मास में सुरीदण्डक नाम का संस्कार होता है। उस समय पुरुष १-चित्ररेखा, २-ब्रह्मडण्डी, ३-मानधुनी, ४-अत्रावाती, ५-सहदेई इन पाँच औषधियों का माता को पान करावें। ये औषधियाँ बुद्धिवर्द्धक, कामधेनु, ओज को प्रबल करने वाली तथा हृदय को उज्ज्वल बनाने वाली हैं। गर्भस्थापना का नौवाँ महीना आरम्भ होने पर १-सहदेई, २-सानखण्डा, ३-आनवादरी इत्यादि औषधियों का पान कराकर माता को उज्ज्वल बनाया जाये जो माता के गर्भ से बिना विघ्न-बाधा के बालक उसी प्रकार पृथक् हो जाये बेल पर फल परिपक्क हो जाने पर स्वतः ही पृथक् हो जाता है और बेल को कोई कष्ट नहीं होता। जब बालक उत्पन्न हो तो माता-पिता सोने की सलाखा या उससे उत्तम रत्न आदि धातु को जल आवृत करें। जल का मन्थन करने के पश्चात् मधु, सहदेई तथा सूक्ष्म सा अग्नि इसमें मन्थन करके बालक को पान करा दें, जिससे उसके कण्ठ में कोई भी किसी प्रकार की विरागना या आधोगना हो वह दूर हो जाये तथा बालक की नाभि में किसी प्रकार का कष्ट न रह जाये। (बाहरवाँ पुष्प, १६-४-६९ ई.)

गर्भ-स्थापना के पश्चात् माता-पिता को इस प्रकार विचार-विनिमय करना चाहिये कि.

भोग-विलास तो गौण हैं, उनमें कोई तथ्य नहीं पति-पत्नी से कहे

कि हमारा जीवन ऐसा है जेसे गंगा-यमुना का जल, जो मिलकर गंगासागर बना देता है। प्रकृति और ब्रह्म मिलकर एक ब्रह्म का स्वरूप बन जाते हैं। इसी प्रकार हम भी इस संसार में बनें। हम दोनों परस्पर का अन्तर्द्वन्द्व छोड़कर उस गृह-मन्दिर में निवास करें। यदि हमारे मस्तिष्क में दुष्कृत कार्य और विचारधारायें आई तो यह मन्दिर अपवित्र हो जायेगा। यदि हिंसक प्राणी भी हमारे गृह में आ जायें तो वह भी हम पर आक्रमण न कर सकेगा। क्योंकि शत्रु भी उसी समय आक्रमण करता है जब हमसे दुष्कर्म हो जाता है। हम दोनों में प्रीति होनी चाहिये। मैं दूसरी गृहणी नहीं बनाना चाहता, क्योंकि दूसरी पत्नी मेरे हृदय को नोच-नोच कर इस प्रकार खा जायेगी जैसे बाज चिड़िया को । हे देवी ! हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध ऐसा होना चाहिये जैसे.परमात्मा और प्रकृति का है तथा पृथ्वी और चन्द्रमा का है। चन्द्रमा अमृत देता है और पृथ्वी उसे निगलती है। पृथ्वी में यदि दूसरा चन्द्रमा आ जाये तो वह नष्ट हो जायेगी। हम दोनों के मध्य प्रभु रहें। त्रैतवाद से ही संसार की रचना होती है।

पत्नी को भी मधुभाषिणी बनना चाहिये। उसका जीवन पृथ्वी के समान हो। कोई पत्नी नहीं चाहती कि उसका पति दुराचारी बने। संसार में चरित्र ही जीवन है। चरित्र के लिये उसे किसी से भय नहीं करना चाहिये। यदि उसका पिता है, उसकी कुदृष्टि हो जाये तो उसको भी मृत्यु-दण्ड दे देना उचित है। पत्नी पति से घोषणा करे कह दे कि मैं तुम्हारी एक सहस्र त्रुटियों को सहन कर सकती हूँ यदि इससे अधिक हो जाये तो मेरी मृत्यु हो जानी चाहिये। (तेरहवाँ पुष्प,

१-११-६७ ई.)

संस्कारों का महत्व

चित्त में मानव के जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार विराजमान रहते हैं। यह संस्कारों का मूल क्षेत्र कहलाया गया है। यह अनुभव सिद्ध है कि मानव के लाखों वर्षों के संस्कार भी कभी न कभी आने आरम्भ हो जाते हैं। प्रत्येक मानव संस्कार से ही प्राप्त होता है। जब मानव का कोई संस्कार नहीं होता तो मिलाप होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। कोई मानव कहता है कि इस शरीर के छिन्न-भिन्न होने के पश्चात् कोई जन्म नहीं होता। वास्तव में शरीर आत्मा का जन्म नहीं, केवल भोगों को भोगने के लिये रूपान्तर है क्योंकि भोगों के अधीन ही मानव की स्वकीय क्रिया विराजमान रहती है। इसलिये आवागमन किसी का नहीं। यह आत्मा न कहीं आता है न जाता है किन्तु इसका आवागमन केवल माता के गर्भस्थल में आने के आधार पर कह देते हैं। यदि किसी चित्त में संस्कार नहीं रहेगा तो वहाँ जन्म होने का कारण बनता ही नहीं। परमात्मा चित्त से रहित है इसलिये परमात्मा का जन्म नहीं होता। जहाँ चित्त होता है वहीं जन्म होता है। जब चित्त नष्ट हो जाता है तो मुक्ति आ जाती है। यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब मुक्ति में चित्त न रहने के कारण कोई भी संस्कार नहीं रहता तो मुक्ति से संसार में आने का कारण कैसे बनता है। इसका उत्तर यह है कि आत्मा में अल्पज्ञता होने के नाते परमात्मा में सामान्य होने के कारण इसमें कुछ न कुछ अंकुर रूपों से कोई न कोई संस्कार ऐसा सूक्ष्म रहता है जिसकी कोई अवधि

होती है।

संस्कार उसे कहते हैं जहाँ वस्तुओं का मिलान होता है। जब माता-पिता संस्कार की वेदी पर आकर गर्भाधान क्रिया करते हैं तो दो वस्तुओं का मिलान माता के गर्भस्थल में होकर बालक के शरीर का निर्माण होने लगता है। शरीर-निर्माण में प्रयुक्त होने वाले परमाणुओं को एकत्रित करने वाला प्रभु चित्त के संस्कारों तथा माता-पिता की भावनाओं और शुद्ध कर्मों को लेकर बालक की रचना कर देता है। यह रचना अद्वितीय, महान् पवित्र तथा अनन्य है।

संस्कार उन बीजों को कहा जाता है जिनमें चित्त में अंकुर उत्पन्न होकर विराजमान रहते हैं। जब बालक उत्पन्न होता है तो पिता अपनी भुजाओं से उसे अमृत पान कराता हुआ पूछता है कि तू मेरे गृह में क्यों आया है ? तो बालक तो कोई उत्तर नहीं देता। यहाँ कुछ ऋषियों की कल्पना कहते हैं कि देने-लेने के आधार पर आया हूँ, इसके पश्चात् जन्म-संस्कार (जात-कर्म), नामकरण संस्कार, उपनयन संस्कार आदि होते हैं। उन्हें बालक प्रायः स्वीकार नहीं करता परन्तु उसके अन्तःकरण में, जिसे चित्त भी कहते हैं, पिता का कहा हुआ शब्द आदित्य बनकर अंकित हो जाता है, क्योंकि बालक का हृदय निर्मल, स्वच्छ तथा सात्विक होता है। इस समय अंकित किये गये संस्कार किसी भी समय नष्ट नहीं होते।

नामकरण संस्कार

इसमें नामकरण के साथ-साथ नामोच्चारण किया जाता है और कहते हैं कि हे बालक ! तू कोई शब्दोच्चारण नहीं कर रहा है, तो मैं

तेरे नाम का उच्चारण कर रहा हूँ। न तो तेरी आत्मा का कोई नाम है और न इन तत्त्वों का कोई नाम है, जिनसे सुगठित हुआ तेरा शरीर प्रतीत होता है। जैसे हमारा आवास-गृह है जो मिट्टी के कणों से बना है तथा अग्नि में उन्हें तपाया गया है, उस गृह से अपनेपन के संस्कार केवल इस आधार पर लग जाते हैं क्योंकि उसका परिश्रम है और उसके चित्त में इस प्रकार के संस्कार विराजमान हो गये हैं। इसी प्रकार नामोच्चारण के समय माता-पिता के हृदय की महत्ता की कोई सीमा नहीं होती। अतः संस्कार किये जाने चाहिए। नामकरण संस्कार में नाम का उच्चारण करें तथा बालक के मुख में कुछ स्वर्ण का आभूषणों से मन्थन करके उसमें मधु और परागनी आदि का मिश्रण करके बालक के मुख में अर्पित करें। मन्त्रोच्चारण करके माता और पुरोहित औषधियों का प्रभाव बालक के कण्ठ में करें। इसका भाव यह है कि जैसे औषधियां मधु, सुन्दर और सूक्ष्मत्व है इसी प्रकार बालक का हृदय सूक्ष्मत्व और विचारवान होना चाहिये।

मुण्डन संस्कार

बालक के केशों में नाना प्रकार के दोष होने हैं, इस संस्कार में उनको दूर किया जाता है। सुन्दर जल, यदि नदी का हो तो बहुत सुन्दर है, लेकर उसमें सहदेई, ब्रह्मडण्डी, मालकंगनी, काश्री और गिलोय का रस उसमें मिलायें और उसमें तीक्ष्ण विरिध को विरिधी करें। बालक के केशों को उससे धोयें तथा तीक्ष्ण अस्त्र को भी उन्हीं औषधियों से विरिधी किया जाये। तब मुण्डन संस्कार किया जाये। मुण्डन के समय पुरोहित तथा माता-पिता मन्त्रों का पठन-पाठन करते

रहते हैं, जिससे उस स्थान पर सुन्दर भाव बन जायें जहाँ ये केश उतारे गये हैं।

मस्तिष्क से ही मानव का द्वितीय जन्म हुआ करता है। मस्तिष्क सुन्दर होना चाहिये, क्योंकि मस्तिष्क में ही ब्रह्मरन्ध्र होता है और इसी में ऐसी नाड़ियाँ होती हैं जिनका सम्बन्ध लोक-लोकान्तरों से होता है। प्रत्येक केश के निचले विभाग में १०१ नाड़ियां विद्युत् का कार्य करती हैं। औषधियों में प्रबल गति होगी उतनी ही बुद्धि तीक्ष्ण होगी। मुण्डन संस्कार से प्राप्त केशों को पृथ्वी में देना चाहिये, उनका विष परमाणुओं में मिश्रित न हो पाये । इसके पश्चात् माता-पिता पुरोहितजन तथा महाजन सब (१) सहदेई, (२) सैलखण्डा तथा (३) गिलोय का रस मधु में मिलाकर बालक को पान करावें तथा उसके सिर पर मन्थन कर दें जिससे वह और भी गतिशील हो जाये। इसके पश्चात् शुद्ध जल से स्नान कराकर बालक को सुन्दर-सुन्दर पदार्थों का पान कराना चाहिये।

निष्कर्ष यह है कि हमारे यहाँ संस्कार होने चाहिए। यदि संस्कार नहीं होगा तो मानव का जन्म ही नहीं होगा। जितना मानव का आत्मा संस्कारों से रहित हो जाता है, उतनी ही उसके जन्म में सूक्ष्मता हो जाती है। जितने संस्कार क्लिष्ट और अशुद्ध होते हैं उतना ही मरण-जीवन मानव की आत्मा के लिये स्वतः लगा रहता है। अभी कष्ट कष्ट से आया, अभी कष्ट में चला गया। अभी शरीर धारण किया और अभी मृत्यु को प्राप्त हो गया, यह चलता रहता है।

जो माता-पिता अपनी सन्तान को महान् और पवित्र बनाना

चाहते हैं तो उनको संस्कार अवश्य करने चाहियें, क्योंकि संस्कार चित्त में होते हैं। संस्कारों की जो प्रतिभा है वही बालक को उत्तम बनाती है। जैसे नामकरण के पश्चात् जब नामोच्चारण करते हैं तो बालक बड़ा प्रसन्न होता है कि मुझे ही उच्चारण किया जा रहा है। (बारहवाँ पुष्प, १६-४-६९ ई.)

वानप्रस्थ आश्रम

वानप्रस्य आश्रम में पति-पत्नी दोनों वानप्रस्थी होते हैं, संसार में विचरण करते हैं और गृहस्थ के अनुभवों की गृहस्थियों में चर्चायें किया करते हैं, उनको पितर कहा जाता है। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ के अपने अनुभवों का प्रसार किया करते हैं। राजा यदि वानप्रस्थी होकर एक भी वीर को अपने तुल्य बना लेता है तो राजा का राष्ट्र सफल हो जाता है। वानप्रस्थ में पीताम्बर वस्त्रों का विधान है।

संन्यास आश्रम

संन्यास आश्रम वानप्रस्थ के पश्चात् आता है। इसमें अग्नेय वस्त्र धारण करने होते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि संन्यास का वह अधिकारी है जिसको कोई किसी प्रकार का विषय छू न सके। आग्नेय वस्त्रों का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रज्वलित अग्नि को कोई छू नहीं सकता इसी प्रकार जिस मानव का अग्नि जैसा वस्त्र है, अग्नि जैसा उसका अन्तःकरण है, ज्ञान-रूपी अग्नि उसके अन्तःकरण में प्रज्वलित है तो उसे कोई नहीं छू सकता। वह परमात्मा का चिन्तन करता हुआ अन्त में मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। संन्यासी का कर्त्तव्य है परमात्मा में लय हो जाना, अपनी नाना विचारधाराओं को

परमात्मा में रमण कर देना। (चौथा पुष्प, २२-४-६४ ई.)

१२ द्वादश अध्याय-समाज में एकरूपता की प्रतीक मान्यतायें एवम् प्रथायें

चतुर्युग

महाराजा कृष्ण ने युगों का वर्णन इस प्रकार किया :.

१- सतयुग :.उसको कहते हैं जिस काल में वेद की विद्या होती है प्रत्येक मानव निर्द्वन्द्व रहता है, राग-द्वेष किसी से नहीं रहता। उस काल में धर्म के चारों चरण रहते हैं।

२- त्रेता :.जिस काल में धर्म का एक चरण समाप्त हो जाता है उसको त्रेता कहते हैं। इसमें अग्नि प्रचण्ड हो जाती हे, किन्तु कुछ सूक्ष्म होती है।

३- द्वापर :.वह होता है जिसमें धर्म के दो चरण शेष रह जाते हैं। इस काल में देवता तथा दैत्यों की संख्या समान हो जाती है। धर्म की मर्यादा वृद्ध होने लगती है।

४- कलियुग :.मानव की वृद्धावस्था के समान ही यह कलियुग है। इसमें मर्यादा का केवल एक ही पद रह जाता है और अधर्म की मर्यादा बहुत अधिक होती है। इसमें भौतिकता से कलों से ही सब कार्य होने लगता है। किन्तु कलों से तो कार्य सभी युगों में होता है। वास्तविकता यह है कि कलियुग नाम अज्ञान का है। जिस काल में अज्ञान अधिक होता है उसे कलियुग कहते हैं। ये चारों युग इसी प्रकार परिक्रमा करते रहते हैं, इनकी अवधि नियत है। (तीसरा पुष्प,

८-३-६२ ई.)

महर्षि नारद, उद्दालक, पापड़ी, शौनक, शम्भूमुनि, कोपात्री, कपिल आदि ऋषियों के समाज में सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग पर विचार किया गया। नारद ने कलियुग की व्याख्या करते हुए कहा था कि जिस प्रकार बाल्यकाल, युवा, मध्य तथा वृद्धावस्था होती है उसी प्रकार ये युग हैं, कलियुग की स्थिति ठीक वृद्धावस्था की है जब सब शक्ति नष्ट हो जाती है तथा अज्ञानता आ जाती है।(दूसरा पुष्प, ७-३-६२ ई.)

एक समय दार्शनिक समाज में देवर्षि नारद, कुक्कुट, शौनक मुनि वशिष्ठ, विश्वामित्र, पापड़ी आदि उपस्थित थे। उस समय नारद ने कहा था कि कलियुग ऐसा युग आयेगा जिसमें केवल रसना और उपस्थ इन्द्रियाँ ही रहेंगी शेष ठप्प हो जायेंगी या उनके विषय समाप्त हो जाएंगे। प्रत्येक काल में हर प्रकार के मनुष्य होते हैं, किसी में अधिक किसी में कम कलियुग में ऐसे मनुष्य अधिक से अधिक हो जायेंगे। (दूसरा पुष्प, ४-४-६२ ई.)

कृष्णा की कलियुग की व्याख्या में यह दोष प्रतीत होता है कि उसमें सब अज्ञानी रहते हैं। कलियुग में बुद्धिमान भी रहते हैं, दार्शनिक भी। हर काल में हर प्रकार के मनुष्य रहते हैं, किसी काल में धर्मात्मा अधिक बढ़ जाते हैं किसी में दैत्य। (तीसरा पुष्प, ४-४-६२ ई.)

प्रश्न है कि क्या प्रत्येक त्रेता में राजा दशरथ एक ही होता है और उनके पुत्र राम हर युग में जन्म लेते हैं ? महर्षि वाल्मीकि के

अनुसार उत्तर यह है कि जहाँ तक अमुक आत्माओं का सम्बन्ध है उनका तो रूपान्तर नहीं किया जाता, परन्तु यह माना जाता है कि हर युग में मर्यादा का ऐसा महान् व्यक्ति उत्पन्न होता है कि उसकी महत्ता से उसको राजा राम या महाराज कृष्ण कहा जाता है। प्रत्येक मन्वन्तर में अयोध्या का निर्माण नवीन रूपों से किया जाता है। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६६ ई.)

सतयुग के समाज की झलक

इस युग में ऋषि-मुनियों की ऊँची प्रणाली थी। उस समय नारद तथा सभी ऋषियों का एक ही मन्तव्य था और स्वयं (ब्रह्मचारी कृष्णादत ने उस काल के जन्म में देखा है) कि चार व्यक्ति जहाँ एकत्रिता होते थे, या मातायें एकत्रित होतीं, वहाँ भगवान की चर्चायें तथा देवता बनने की हृदय में आकांक्षा रहती थी। जहाँ विराजमान होते वहाँ सत्काम की वार्तायें, अपने-अपने आत्मिक-बल की चर्चायें, राष्ट्र को ऊँचा बनाने की चर्चायें। किसी की निन्दा नहीं, परन्तु ऊँचे भाव अपने अन्तःकरण में, अपने हृदय में, उन्हीं भावों से अपना जीवन बनाया जाता था। राजा यह सोचा करते थे कि मेरी पुत्री किसी भी प्रकार से दुःखी न हो। दुःखित रहने पर वह कर्त्तव्यों से विहीन हो जायेगी। कर्त्तव्यों से विहीन होने पर कोई न कोई पाप करेगीं। अपने उदर की पूर्ति के लिये कोई न कोई ऐसा प्रयत्न करेगी जिससे जहाँ-तहाँ जाकर पाप करेगी। अपने उदर की पूर्ति के लिये वह धर्म का कार्य न कर सकेगी। जहाँ उदरपूर्ति नहीं होती, वहाँ धर्म की चर्चा नहीं होती। धर्म की चर्चायें तो उस काल में हो सकती हैं

जब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाये। उदर की पूर्ति अन्न और औषधियों से हो जाये और आत्मिक बल परिपक्व हो जाये। ऐसा होने पर मनुष्यों का समाज और राजा अपनी पत्नी सहित विराजमान होकर धर्म, ब्रह्मचर्यपूर्वक राष्ट्र को ऊँचा बनाने की निःस्वार्थ चर्चायें होती हों, जहाँ दैत्य न रहते हों, जहाँ देवताओं का वास रहता हो, जहाँ देवताओं की पूजा होती है वह स्वर्ग है, वही सतयुग है।

सतयुग में वैश्यजन अपने गृह में द्रव्य को इसी प्रकार त्याग देते थे और कोई द्रव्य को छू भी नहीं सकता था। उनके अन्तःकरण बहुत पवित्र थे। उस काल में आर्य इतने ऊँचे इसलिये थे कि उन्होंने अपना जीवन ऊँचा बनाने में, पवित्र बनने में शिक्षा तथा यज्ञोपवीत का आदर किया था। ये तीनों ऋणों से उऋण होने का प्रयास करते थे। शिखा इनका विशेष भूषण था जिसके नीचे ब्रह्मरन्ध्र है। वह भूषण नहीं कहलाता जो हमें नीचा गिराये। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

यज्ञोपवीत, शिखा और माला

आर्यों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के मुख्य आभूषण दो हैं, शिखा तथा यज्ञोपवीत। शिखा का स्थान इसलिये ऊँचा है क्योंकि वह पवित्र है। वैज्ञानिकों ने इसके निचले भाग में ही ब्रह्मरन्ध्र माना है। हमें ब्रह्मरन्ध्र को पवित्र बनाना चाहिए। ब्रह्मरन्ध्र में ही अस्वति है। शिखा आर्यों का आभूषण इसलिये है कि कर्मकाण्ड की स्थिति में हम ब्रह्मरन्ध्र को छूते हैं। इस ब्रह्मरन्ध्र से हमें प्रकाश होता है। यह कर्मकाण्ड में एक विशेषज्ञ रीति से अभिज्ञ स्तुत्य माना गया है। जिनके शिखा नहीं होती उन्हें ब्रह्मरन्ध्र का ज्ञान नहीं है और न शिखा का ज्ञान है। उन्हें

यवन, कहा जाता है। शिखा और यज्ञोपवीत कर्मकाण्ड के अंग होने का तात्पर्य है कि वह उस ज्ञान को खोजें, जिनके प्रतीक हैं। ज्ञान को खोज कर वह मार्ग पर पहुँच जाता है। जब तक इस विज्ञान को नहीं खोजेगा तब तक वह न तो महत्ता पर पहुँच सकेगा और न कर्मकाण्ड कर सकेगा और न ऋण से उऋण होने का प्रयत्न ही कर सकेगा। यज्ञोपवीत के तीन तार मानव के ऊपर तीन ऋणों के प्रतीक हैं.ऋषि-ऋण, मातृ-ऋण और देव-ऋण, जो इन ऋणों से उऋण होने का संकल्प करता है, वही आर्य है। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

यज्ञोपवीत ऋणों का प्रतीक

त्रेता काल में महर्षि लोमश, महर्षि नारद काकभुशुण्ड तथा गरुड़ आदि ऋषियों का समाज हुआ। काकभुशुण्ड जी ने प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा था कि.

हमारे ऊपर तीन ऋण हैं, उनसे उऋण होना अनिवार्य है जो देवताओं के ऋण से उऋण होने का प्रयास करता है, जो देवकन्या देवताओं की पूजा करने वाली हो वे यज्ञोपवीत के पात्र हैं। एक धागा ऋषि-ऋण या देव-ऋण का प्रतीक है। ऋषि-ऋण वह पदार्थ है कि ऋषियों ने जो हमें आदेश दिया, जो हमारे लिये मर्यादा बन्धी, उस मर्यादा पर चलना, उसका आदर करना और उस पर अपना जीवन बनाना यह हमारे ऊपर एक ऋण है। इससे उऋण होने का प्रयास करें।

दूसरा देव-ऋण है। देवता वे हैं जो हमें देते हैं लेते नहीं, वे हमें जीवन, आयु और मानवता देते हैं। इनकी पूजा करने के लिये यज्ञ

करना चाहिये। सूर्य आदि गृहों तक सुगन्धि पहुँचाकर हम मनोकामना के अनुकूल तेज प्राप्त करें, इससे हमको सब विज्ञान आ जायेगा।

तीसरा मातृ-ऋण है। जिस माता के गर्भ से हमारा जीवन बनकर हम ऋषित्व को प्राप्त हो जाते हैं, वह माता पूजनीय है। कीड़ों को जन्म देने वाली नहीं। पृथ्वी माता है, संस्कृति माता है। इनका भी आदर करना है। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

जिस समय यजमान यज्ञशाला में विराजमान होता है तो वह यज्ञोपवीत को धारण करता है। वह यज्ञोपवीत परम-पवित्र कहलाता है। यज्ञों का उपवीत है। ऋण को उतारने के लिये उपवीत का विधान किया जाता है।

जो यज्ञ के समीप विराजमान होता है उसको ऋणों से उऋण होने का प्रयास करना चाहिये। जब तीन ऋणों से उऋण हो जाते हैं तो उस समय यज्ञ के समीप जाने का हमें अधिकार होता है। परम-पवित्र का अभिप्राय यह है कि मन-वचन-कर्म से पवित्र हो जायें, यज्ञ से पवित्र हो जायें। ब्रह्म-विद्या से हमारा जीवन लदा हुआ होना चाहिये। ब्रह्म-विद्या में लिप्त हमारे शरीर में ही तो परम-पवित्रता होती है।

जैसे सूर्य परम-पवित्र है, प्रकाश देने वाला है उसी प्रकार यज्ञोपवीत भी परम-प्रकाश का ज्ञान कराता है। इसके तीन धागे हमें तीन ऋणों का ज्ञान कराते हैं और हमें उऋण होने के लिये प्रेरित करते हैं। यह आर्यों का भूषण है। इसका अधिकारी बनने के लिये यह आवश्यक है कि आर्य बनकर सूर्य की भाँति वेद-रूपी प्रकाश का

अधिकारी बनें। (चौथा पुष्प, २८-७-६३ ई.)